मनुसंहिता ।

मूल और हिन्दी अनुवाद ।

कलकत्ता,

३४।१ कलटोला ष्ट्रीट, वङ्गवासी-ष्टीम-मेशिन प्रेसमें

श्री अरुणोदय राय द्वारा

मुद्रित और प्रकाशित ।

सम्वत १९५५ ।

दाम ३) रुपया ।

मनुसंहिता ।

मूल और हिन्दी अनुवाद ।

कलकत्ता,

३४।१ कलूटोला ष्ट्रीट; वङ्गवासी-ष्टीम-मेशिन प्रेसमें

श्री अरुणोदय राय द्वारा

मुद्रित और प्रकाशित ।

सम्वत् १९५५ ।

प्रकरणम् पृष्ठे

अष्टमः अध्यायः। तत्र व्यवहारदर्शननियमः। अष्टादशविवाद-पदादिकथनम्। साक्षिविवरणम्; दण्डनिर्णयः; राजदण्डस्य पापनाशकता च २१८

नवमः अध्यायः। तत्र स्त्रीपुंसयोर्धर्म्मविवेचनम्; दायविभागः; द्यूतक्रीडाः; चौर्य्यादिनिराकरणोपायाः; वैश्यशूद्रयोः कर्त्तव्यानि च २७८

दशमः अध्यायः। तत्र सङ्करजातिरुत्पत्तिः; वर्णचतुष्टयस्यापदि वृत्तिविधानञ्च ३२६

एकादशः अध्यायः। तत्र कर्म्मविपाकः; पातकलक्षणानां, प्रायश्चित्तविधिश्च ३५०

द्वादशः अध्यायः। तत्र कर्म्मणो जन्मान्तरकारणता; ज्ञानस्य मोक्षसाधनता च ३६०

मनुसंहिता।

प्रथमोऽध्यायः।

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः। प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन्॥१॥ भगवन् सर्व्ववर्णानां यथावदनुपूर्व्वशः। अन्तरप्रभवाणाञ्च धर्म्मान् नो वक्तुमर्हसि॥२॥ त्वमेको ह्यस्य सर्व्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य्यतत्त्वार्थवित् प्रभो॥३॥ स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः। प्रत्युवाचार्च्च्य तान् सर्व्वान् महर्षीन् श्रूयतामिति॥४॥ आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव

प्रथम अध्याय।

भगवान मनु एकचित्त होकर सुखसे बैठे हुए हैं,—महर्षिगण समीप जाकर, यथायोग्य पूजादि करके उनसे बोले—भगवन्! चातुर्व्वर्ण तथा उनके पश्चात् उत्पन्न सङ्कीर्ण जातियोंका सम्पूर्ण धर्म्म पूर्व्वापर हमसे कहनेकी कृपा हो। क्योंकि हे नाथ! उन कर्म्मविधायक, अचिन्त्य, अपरिमेय अपौरुषेय समस्त वेद-शास्त्रोंके कार्य्य, तत्त्व तथा अर्थज्ञानके सम्बन्धमें एकमात्र आपही अद्वितीय हैं॥१-३॥ असीम ज्ञानशक्तिसम्पन्न वह भगवान, महानुभावोंसे यों पूछे जानेपर “सुनिये” कहकर आदरपूर्व्वक उनसे कहने लगे॥४॥ यह प्रगट विश्वसंसार एक समय घोरअन्धकारसे आच्छा-

सर्व्वत: ॥ ५ ॥ तत: स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादि वृत्तौजा: प्रादुरासीत् तमोनुद: ॥ ६ ॥ योऽसावतीन्द्रियग्राह्य: सूक्ष्मोऽव्यक्त: सनातन: । सर्व्वभूतमयोऽचिन्त्य: स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधा: प्रजा: । अप एव ससर्ज्जादौ तासु वीजमवासृजत् ॥ ८ ॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोक-पितामह: ॥ ९ ॥ आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव: । ता यदस्या-यनं पूर्व्वं तेन नारायण: स्मृत: ॥ १० ॥ यत्तत् कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्म-

---

हित था। उस समयकी अवस्था प्रत्यक्ष देखनेयोग्य नहीं थी। किसी उपायसे उसका अनुमान हो नहीं सकता। उस समय वह तर्क तथा ज्ञानके अतीत होकर सब प्रकारसे मानो घोरनिद्रासे निद्रित था ॥ ५ ॥ आगे स्वयम्भु अव्यक्त भगवान्, महाभूत आदि चौबीस तत्त्वोंमें प्रवृत्तवीर्य्य होकर, इस विश्वसंसारको क्रमसे प्रकाशित कर, उस अन्धकारभूत दशाके ध्वंसक * होकर प्रगट हुए ॥ ६ ॥ जो मनोमात्रके ग्राह्य हैं, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं, अव्यक्त हैं तथा सनातन हैं वह सर्व्वभूतमय अचिन्त्यपुरुष स्वयंही पहिले शरीर बनकर प्रगट हुए थे ॥ ७ ॥ उन्होंने अपने शरीरसे भांति भांतिकी प्रजा रचनेकी इच्छाकर चिन्तामात्रही पहिले जल बनाया तथा उसमें अपना शक्तिवीज अर्पण किया ॥ ८ ॥ अर्पितवीज सुवर्णवर्ण सूर्य्यकी भांति प्रभायुक्त एक अण्ड बना। उस अण्डमें वह स्वयंही सर्व्वलोकोंके पितामह ब्रह्मा बनकर जन्मे ॥ ९ ॥ नर अर्थात् परमात्मासे सबसे पहिले प्रसूत होनेके हेतु अपत्यप्रत्ययमें जलको नारा कहा जाता है और नाराके ब्रह्मा-रूपसे स्थित परमात्माकी सर्व्वप्रथम अयन (आश्रय) होनेसे उनको नारायण

---

* तमोनुद—तमोभूत दशाके ध्वंसक यह अर्थ मेधा तिथि तथा गोविन्द-राजका निर्णय किया हुआ है। कुल्लूकभट्टने तमोनुदका अर्थ प्रकृति प्रेरक विचारा है।

कम्। तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्त्यते ॥ ११ ॥ तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्। स्वयमेवात्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोद्द्विधा ॥१२॥ ताभ्यां स शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च निर्म्ममे। मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम् ॥ १३ ॥ उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्। मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥ महान्तमेव चात्मानं सर्व्वाणि त्रिगुणानि च। विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥ तेषान्त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम्। सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्व्वभूतानि निर्म्ममे ॥ १६ ॥ यन्मूर्त्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्। तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य

कहा जाता है ॥ १० ॥ जो आदि कारण हैं, अव्यक्त हैं, नित्य हैं तथा सदात्म हैं, उनसे उत्पन्न प्रथम-पुरुषको लोग ब्रह्मा कहते हैं ॥ ११ ॥ भगवान् ब्रह्माने उस ब्रह्माण्डमें वाह्यपरिमाणके सम्वत्सर पर्य्यन्त वास करके अन्तमें आत्मगत ध्यानके सहारे उसे द्विखण्डित किया ॥ १२ ॥ उन्होंने उन दोनों खण्डोंमेंसे ऊर्द्ध्वखण्डमें स्वर्गादि लोक और अधोखण्डमें पृथिवी आदि निर्म्मित की और मध्यभागमें आकाश, आठोंदिशा तथा चिरस्थायी समुद्रोंको स्थापित किया ॥ १३ ॥ ब्रह्माने परमात्मास्वरूप सदसदात्मक मनका उद्धार किया। उन्होंने मनको स्फुरित करनेसे पहिले अहं-अभिमानी सर्व्वकर्म्मप्रवर्त्तक अहङ्कारतत्त्वको प्रस्फुरित किया था ॥ १४ ॥ अहङ्कार तत्त्वसे पहिले (आत्माके प्रथम प्रकाशक) महत्तत्त्वका स्फुरण हुआ था।— ये सबही सत्त्व, रज तथा तमोगुणमय हैं। उन्होंने क्रमसे विषयग्रहणकी शक्ति रखनेवाली इन्द्रियोंको रचा ॥ १५ ॥ उनमेंसे अनन्तकार्य्यकी शक्ति रखनेवाले अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र—इन छके सूक्ष्मसे सूक्ष्म शरीरको अपने विकार—इन्द्रिय और पञ्चभूतसे जोड़कर उन्होंने देव, मनुष्य, तिर्य्यक आदि समस्त जीव रचे। १६ ॥ प्रकृतियुक्त ब्रह्मके मूर्त्तिसिद्धक ये छहों अवयव वक्ष्यमाण पञ्चभूतादिको कार्य्यरूपसे अवलम्बन करते हैं, इसी लिये

मूर्त्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥ तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्म्मभिः। मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्व्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥ तेषामिदन्तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्। सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥ १९ ॥ आद्याद्यस्य गुणन्त्वेषामवाप्नोति परः परः। यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥ सर्व्वेषान्तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ २१ ॥ कर्म्मात्मनाञ्च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः। साध्यानाञ्च गणं सूक्ष्मं यज्ञञ्चैव सनातनम् ॥ २२ ॥ अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्-यजुः-साम-लक्षणम् ॥ २३ ॥ कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा। सरितः

पण्डितलोग उनकी मूर्त्तिको शरीर कहते हैं ॥ १७ ॥ आकाश आदि महाभूत अवकाशादि निज कर्म्मोंके सहित पञ्चतन्मात्ररूपसे स्थित ब्रह्मसे और सब प्राणियोंके उत्पत्तिकी हेतु अव्यय मन तथा इच्छा द्वेष आदि अपने सूक्ष्म अवयवोंके सहित अहङ्कारी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥ महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—इन सातों अनन्तकार्य्यक्षम पौरुषपदार्थोंकी सूक्ष्म मात्रासे जगत्की सृष्टि हुई। अविनाशी कारणसे इसही भाँति अस्थिर जगत्की उत्पत्ति हुई है ॥ १९ ॥ आकाशादि भूतोंके बीच प्रत्यक लगातार पहलेके गुणको ग्रहण करता है। जो जितनी संख्यासे गिना गया है, उसके उतने गुण हैं। प्रथमभूत आकाशमें १ गुण शब्द है। दूसरे भूत वायुके २ गुण शब्द और स्पर्श हैं। तीसरे भूत अग्निके तीन गुण,—शब्द, स्पर्श और रूप हैं। चौथे जलके चार गुण,—शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध हैं ॥ २० ॥ ब्रह्माने वेदकी विधिसे सबका पृथक् पृथक नाम, कर्म्म और वृत्तिविभाग कर दिया ॥ २१ ॥ उस प्रभुने कर्म्माङ्गभूत देवताओं, प्राणधारी इन्द्रादि, साध्य नाम सूक्ष्म देवों और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंकी सृष्टि की ॥ २२ ॥ उन्होंने अग्नि, वायु और सूर्य्यसे यज्ञकार्य्यके लिये क्रमसे ऋक्,

सागरान् शैलान् समानि विषमाणि च ॥ २४ ॥ तपो वाचं रतिञ्चैव कामञ्च क्रोधमेव च । सृष्टिं ससर्ज्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥ कर्म्मणाञ्च विवेकार्थं धर्म्माधर्म्मौ व्यवेचयत् । द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥ अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानान्तु याः स्मृताः । ताभिः सार्द्धमिदं सर्व्वं सम्भवत्यनुपूर्व्वशः ॥ २७ ॥ यन्तु कर्म्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः । स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनःपुनः ॥ २८ ॥ हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्म्माधर्म्मावृतानृते । यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत् तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥ यथर्त्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्त्तुपर्य्यये । स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्म्माणि देहिनः ॥ ३० ॥ लोकानान्तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।

यज और साम नाम तीनों वेदोंको दुहा । २३ । काल, समयके विशेषविभाग, नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र, पर्व्वत, सम-विषम भूमि, तपस्या, वाक्य, चित्तका परितोष, काम और क्रोध, इन सब पदार्थोंको उन्होंने प्रजासृष्टिकी अभिलाषासे उत्पन्न किया ॥ २४-२५ ॥ कर्म्मका विभाग करनेके लिये उन्होंने धर्म्माधर्म्मका विभाग किया और इन सबको प्रजासे सुख-दुखादि द्वन्द्वभावसे उत्पन्न किया ॥ २६ ॥ उन्होंने सूक्ष्माँवा परिणामी पञ्चतन्मात्रके सहित यह सब सृष्टि अनुपूर्व्विक सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे भी स्थल क्रमसे सृष्टि की ॥ २७ ॥ परमेश्वरने सृष्टिकी आदिमें जिन्हें जिस कर्म्ममें लगाया, वे बार बार जन्मनेपर भी स्वयं वही कर्म्माचरण करने लगे ॥ २८ ॥ हिंसा अहिंसा, मृदुता, क्रूरता, धर्म्म, अधर्म्म सत्य और मिथ्या,—जिसका जो गुण उन्होंने सृष्टिकालमें विधान किया, सृष्ट्यन्तर कालमें भी वेही गुण उसमें स्वयं प्रवेश करने लगे ॥ २९ ॥ ऋतुसमागममें जैसे ऋतुचिन्ह स्वयं ही देख पड़ते हैं, पूर्व्वकर्म्मफल भी उसही प्रकार यथासमयपर देहधारियोंके सम्बन्धमें आपही उपस्थित हुआ करते हैं ॥ ३० ॥ पृथिवी आदि लोकोंकी समृद्धिकामनासे परमेश्वरनेअपने मुख, बाहु, उरु और पदसे क्रमपूर्व्वक

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्त्तयत् ॥ ३१ ॥ द्विधा कृत्वात्मनो देह-मर्द्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ ३२ ॥ तपस्तप्त्वाऽसृजद्यन्तु स स्वयं पुरुषो विराट् । तं मां वित्तास्य सर्व्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥ अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् । पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥ मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् । प्रचेतसं वसिष्ठञ्च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥ एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन् भूरितेजसः । देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौ-जसः ॥ ३६ ॥ यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्व्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणाञ्च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥ विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्र-धनूंषि च । उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥ किन्न-रान् वानरान् मत्स्यान् विविधांश्च विहङ्गमान् । पशून् मृगान् मनुष्यांश्च

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी सृष्टि की ॥ ३१ ॥ उस प्रभुने अपने देहको दो भाग करके आधेसे पुरुष और आधेसे स्त्री बनाई और उस नारीके गर्भमें विराटको उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥ द्विजसत्तम-गण ! उस विराटपुरुषने तपस्या करके स्वयं जिसको उत्पन्न किया, मैं वही मनु हूं—मुझे इस समुदायका द्वितीय स्रष्टा जानो ॥ ३३ ॥ मैंने भी प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा करके पहिले दश महर्षि प्रजापतिकी सृष्टि की ॥३४॥ मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद—ये वेही दश जन हैं ॥ ३५ ॥ अनन्तर इन दशों प्रजापतियोंने महा-तेजस्वी अन्य सात मनुकी सृष्टि की और जिन देवताओंकी ब्रह्माने सृष्टि नहीं की थी,—वैसे देवता, उनके निवासस्थान, अत्यन्त सामर्थ्यवान बहुतसे महर्षि, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, गरुड़ और पृथक् पृथक् पितरगण, बिजली, वज्र, बादल, अनेक भांतिकी ज्योति, इन्द्रधनुष, उल्कानिर्घात अर्थात् भूमि और आकाशमें उत्पन्न हुए शब्द,

व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥ कृमि-कीट-पतङ्गांश्च यूका-मक्षिक-मत्कुणम् । सर्व्वञ्च दंशमशकं स्थावरञ्च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥ एवमेतैरिदं सर्व्वं मन्नियोगान्महात्मभिः । यथाकर्म्म-तपोयोगात् सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥ येषान्तु यादृशं कर्म्म भूतानामिह कीर्त्तितम् । तत् तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगञ्च जन्मनि ॥ ४२ ॥ पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः । रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥ अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः । यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥ स्वेदजं दंशमशकं यूका-मक्षिक-मत्कुणम् । उष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत् किञ्चिदीदृशम् ॥ ४५ ॥ उद्भिज्जाः स्थावराः सर्व्व वीजकाण्डप्ररोहिणः । ओषध्यः फलपाकान्ता वहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥ अपुष्पाः फलवन्तो ये ते

धूमकेतु, ध्रुव और अगस्त्यादि अनेक प्रकारके ज्योतिर्मय पदार्थ, किन्नर, वानर, मत्स्य, अनेक प्रकारके पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य और दो पंक्ति दांत वाले जन्तु, सिंहादि हिंसक जीव, कीड़े, कीट, पतङ्ग मक्खी मच्छड़ भुनगे इत्यादि तथा वृक्ष लता प्रभृति पृथक् पृथक स्थावरोंकी सृष्टि की ॥ ३९-४० ॥ पूर्व्वोक्त महात्माओंने मेरी आज्ञासे तपोबलसे कर्म्मानुसार इन स्थावर जङ्गमकी इसही भांति सृष्टि की थी ॥ ४१ ॥ जीवोंके बीच जिसका जैसा कर्म्म और जिसकी जैसी जन्मपरिपाटी पहिलेके आचार्य्यों द्वारा कही गई है, सब आप लोगोंसे कहता हूं ॥ ४२ ॥ जीवोंके बीच पशु, मृग, हिंसकजन्तु दो पांववाले दांतयुक्त प्राणी, राक्षस, पिशाच और मनुष्य,—ये जरायुज हैं ॥ ४३ ॥ पक्षी सर्प, घड़ियाल, मछलियां, कछुए, मेढक आदि जलचर और नेवला आदि स्थलचार जीव अण्डज हैं ॥ ४४ ॥ दंश, मशक, जूंआ मक्खी मच्छड़ स्वेदज हैं और इनकी भांति अन्य चींटी आदि जीव भी उष्मासे उत्पन्न होते हैं ॥ ४५ ॥ सब उद्भिद् ही स्थावर हैं। उनमें कितने ही वीजसे पैदा होते और कितने ही रोपी हुई शाखासे उत्पन्न हुआ करते हैं।

वनस्पतयः स्मृताः। पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥ गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः। बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥ तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्म्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥ एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः। घोरेऽस्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥ एवं सर्व्वं स सृष्ट्वेदं माञ्चाचिन्त्यपराक्रमः। आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीड़यन् ॥ ५१ ॥ यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्। यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्व्वं निमीलति ॥ ५२ ॥ तस्मिन् स्वपति तु स्वस्थे कर्म्मात्मानः शरीरिणः।

जो बहुतसे फूल फलयुक्त होते और फल पकने पर सूख जाते हैं, उन्हें ओषधि कहते हैं ॥ ४६ ॥ जो बिना फूले ही फलते हैं, उन्हें वनस्पति कहते हैं। और चाहे फूलवाले हों, वा फलवाले ही होवें, दोनों भांतिके वृक्षोंको वनस्पति कहा जाता है ॥ ४७ ॥ गुच्छ वा लता, अनेक प्रकारकी है, तृणोंमें भी कई भांतिकी मञ्जरी वा वल्ली हैं, इनमेंसे कोई बीजसे और कोई शाखासे उत्पन्न होती है ॥ ४८ ॥ ये सब अनेक भांतिके असत्कर्म्मफलके द्वारा तमोगुणसे परिपूर्ण हैं, इनमें चेतना है और इन्हें सुख दुःख भी मालूम होता है ॥ ४९ ॥ इस नित्य विनाशशील, जन्म-मरणयुक्त घोर संसारमें ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्य्यन्त जीवोंकी जिस प्रकार उत्पत्ति हुई है, वह सब कही गई ॥ ५० ॥ महर्षिगण! अचिन्त्य पराक्रमी भगवान् इसही स्थावर जङ्गममय जगत्को और मुझे उत्पन्न करके प्रलयकालके द्वारा सृष्टिकालका विनाश करते हुए प्रलय समयमें फिर आपही अपनेमें लीन होते हैं ॥ ५१ ॥ उस परमदेवताके जागनेपर यह ब्रह्माण्ड चेष्टायुक्त होता और उस शान्तात्माकी सुषुप्ति अवस्थामें विश्व-ब्रह्माण्ड भी निद्रित हुआ करता है ॥ ५२ ॥ जब भगवान् अपनेमें आपही स्थित रहके निद्रित होते हैं, तब कर्म्मानुसार देहधारीगण भी निज कर्म्मोंसे निवृत्त होते हैं और उनका मन भी सब

स्वकर्म्मभ्यो निवर्त्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥ युगपत् तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मनि । तदायं सर्व्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्व्वृतः ॥ ५४ ॥ तमोऽयन्तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः । न च स्वं कुरुते कर्म्म तदोत्क्रामति मूर्त्तितः ॥ ५५ ॥ यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च । समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्त्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥ एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्व्वं चराचरम् । संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥ इदं शास्त्रन्तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः । विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥ एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः । एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्व्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥ ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः । तानब्रवीदृषीन् सर्व्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

इन्द्रियोंके सहित लीन भावसे निवास करता है ॥ ५३ ॥ जब वह निखिल जगत् परमात्मामें लीन होजाता है, तब वह सर्व्वभूतात्मा निश्चिन्तभावसे मानो परम सुखसें सोता है ॥ ५४ ॥ जब यह जीव बहुत समय तक अज्ञात अवस्थामें इन्द्रियोंके सहित निवास करता है ;—श्वास प्रश्वासादि कुछ कर्म नहीं करता, तब वह पूर्व्व शरीरसे उत्क्रमण किया ही करता है ॥ ५५ ॥ जब अणुमात्रिक वीज अज्ञानमय लिङ्गशरीरयुक्त होकर स्थावर वा जङ्गम वीजमें प्रवेश करता है, उसही समय उसकी यह अवस्था होती और उस अवस्थामें ही वह मूर्त्तिमान होता है ॥ ५६ ॥ इसही भांति वह अव्यय पुरुष ब्रह्मा अपनी जाग्रत और स्वप्नअवस्थाके सहारे इस चराचर जगत्‌की सदा सृष्टि और संहार करते हैं ॥ ५७ ॥ सृष्टिकी आदिमें ब्रह्माने यह शास्त्र मुझे पढ़ाया था और मैंने मरीचि आदि मुनियोंको अध्ययन कराया है ॥ ५८ ॥ महर्षि भृगुने यह निखिल शास्त्र पूरा मुझसे पढ़ा है, येही आप लोगोंको आदिसे अन्ततक सुनावेंगे ॥ ५९ ॥ भगवान मनुके ऐसे वचन सुन कर महर्षि भृगु प्रसन्नचित्त होकर ऋषियोंसे कहने लगे,—आपलोग

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे। सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥ ६१ ॥ स्वारोचिषश्चौत्तमिश्च तामसो रैवतस्तथा। चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥ स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः। स्वे स्वेऽन्तरे सर्व्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥ निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत् तु ताः कला। त्रिंशत्कला मुहूर्त्तः स्यादहोरात्रन्तु तावतः ॥ ६४ ॥ अहोरात्रे विभजते सूर्य्यो मानुषदैविके। रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्म्मणामहः ॥ ६५ ॥ पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः। कर्म्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्व्वरी ॥ ६६ ॥ दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥ ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत् प्रमाणं समासतः। एकैकशो युगानान्तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥ चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणान्तु

सुनिये ॥६०॥ ब्रह्माके पौत्र इन स्वयम्भू मनुके और छः महातेजस्वी महात्मा जन्मे इनमेंसे प्रत्येकने प्रजा उत्पन्न कर निजवंश बढ़ाया था ॥६१॥ स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, महातेजा चाक्षुष और वैवस्वत, येही पूर्व्वोक्त छः जन हैं ॥६२॥ महातेजस्वी स्वयम्भू आदि सातो मनु अपने अपने अधिकारके समय इस जगत्‌की सृष्टि करके प्रतिपालन करते हैं ॥ ६३ ॥ अट्ठारह निमेषकी एक काष्ठा होती है, तीस काष्ठाओंकी एक कला, तीस कलाओंका एक मुहूर्त्त और ३० मुहूर्त्तोंकी एक दिनरात्रि होती है ॥६४॥ सूर्य्य,—मनुष्य और देवताओंके दिन-रातका विभाग किया करता है; उसके बीच रात्रि जीवोंके सोनेके लिये और दिन कार्य्य करनेके निमित्त निर्दिष्ट है ॥ ६५ ॥ मनुष्योंके एक महीनेमें पितरोंकी एक दिन-रात्रि होती है, उसमेंसे कृष्णपक्ष उनका दिन और शुक्लपक्ष रात है। कृष्णपक्ष कार्य्य करने और शुक्लपक्ष उनके सोनेका समय है ॥ ६६ ॥ मनुष्योंके एक वर्षमें देवताओंका एक दिन-रात होता है, उत्तरायण देवताओंका दिन और दक्षिणायन

शतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥ इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥ यदेतत् परिसङ्ख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥ दैविकानां युगानान्तु सहस्रं परिसङ्ख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ७२ ॥ तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः। रात्रिञ्च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥७३॥ तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते। प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥ मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया। आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दगुणं विदुः ॥ ७५ ॥ आकाशात् तु विकु-

---

उनकी रात है ॥ ६७ ॥ ब्रह्माके दिन-रात, सत्य-त्रेता आदि युगोंका जो परिमाण है, उसे संक्षेपमें सुनिये॥ ६८ ॥ देव परिमाणसे चार हजार वर्षका सत्ययुग होता है उस युगके पहले उतने ही सौ (४००) वर्षकी सन्ध्या और अन्तमें चार सौ वर्षका सन्ध्यांश होता है ॥ ६९ ॥ अन्य तीनो युग, उनकी सन्ध्या और सन्ध्यांशका परिमाण एक एक हजार तथा एक एक सौ करके कम होजाता है। अर्थात् तीन हजार वर्षका त्रेतायुग उसकी तीन सौ वर्षकी सन्ध्या और तीन सौ वर्षका सन्ध्यांश होता है। दो हजार वर्षका द्वापर, उसकी दो सौ वर्षकी सन्ध्या और दो सौ वर्षका सन्ध्यांश है ॥७० देव परिमाणसे बारह हजार वर्ष मनुष्योंके चतुर्युगोंमें देवताओंका एक युग होता है ॥ ७१ ॥ इसही भांति देव परिमाणसे एक हजार युगमें ब्रह्माका एक दिन होता है और इसही परिमाणसे उनकी एक रात होती है ॥ ७२ ॥ देव परिमाणके सहस्रयुगके शेषमें ब्रह्माका जो पवित्र दिन होता है और उतने ही समय तक जो उनकी रात्रिका परिमाण है, इस दिन रातके परिमाणको जो लोग जानते हैं, उन्हीं यथार्थ अहोरात्रवेत्ता कहते हैं ॥ ७३ ॥ ब्रह्मा पूर्वोक्त रात्रि बीतने पर सोके जागते

र्व्वाणात् सर्व्वगन्धवहः शुचिः। बलवान् जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः॥ ७६॥ वायोरपि विकुर्व्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्। ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत् तद्रूपगुणमुच्यते॥७७॥ ज्योतिषश्च विकुर्व्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः। अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः॥ ७८॥ यत् प्राग् द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्। तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते॥ ७९॥ मन्वन्तराण्यसङ्ख्यानि सर्गः संहार एव च। क्रीड़न्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनःपुनः॥ ८०॥ चतुष्पात् सकलो धर्म्मः सत्यञ्चैव कृते युगे। नाधर्म्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रतिवर्त्तते॥ ८१॥ इतरेष्वागमाद्धर्म्मः पादशस्त्वव-

---

और सावधान होते ही सदसदात्मक मनको सृष्टि-कार्य्यमें लगाते हैं॥७४॥ परमात्माके द्वारा सृष्टिकामनासे प्रेरित होनेपर मन सृष्टि करना आरम्भ करता है और इस मन वा महत्तत्त्वके द्वारा परम्पराक्रमसे आकाश उत्पन्न होता है। पण्डित लोग शब्दको इस आकाशका गुण कहते हैं। आकाशसे सर्व्वगन्धवाहक बलवान पवित्र वायु उत्पन्न होता है, पण्डित-लोग वायुको स्पर्शगुणयुक्त कहते हैं॥ ७५॥ ७६॥ वायुसे अन्धकारनाशक दीप्तिमान तेज (अग्नि) उत्पन्न हुआ।—अग्निका गुण रूप है॥ ७७॥ अग्निसे जलकी उत्पत्ति हुई—जलका गुण रस है, और जलसे गन्धगुण-विशिष्ट पृथिवी उत्पन्न हुई। महाप्रलयके अनन्तर सृष्टिके पहिले पञ्च-भूतोंकी उत्पत्तिका क्रम भी इसही भांति है॥ ७८॥ पहिले जो देवयुगका परिमाण बारह हजार वर्ष कहा गया, उसके इकहत्तरगुण देववत्सरको मन्वन्तर कहते हैं॥ ७९॥ इसही भांति अनगिनत मन्वन्तर आते जाते हैं, तथा अनेक बार जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलय होती है। परमेष्ठी पितामह भी मानो खेल करते हुए सहजमें ही इन कार्य्योंको कर रहे हैं॥ ८०॥ सत्ययुगमें सब धर्म्म सर्व्वाङ्गयुक्त थे, सत्य पूर्ण-भावसे विराजमान था, शास्त्रवर्ज्जित उपायसे धन वा विद्याकी प्राप्ति सत्य-

रोपितः। चौरिकानृतमायाभिर्धर्म्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥ अरोगाः सर्व्वसिद्धार्थाश्चतुर्व्वर्षशतायुषः। कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥८३॥ वेदोक्तमायुर्मर्त्त्यानामाशिषश्चैव कर्म्मणाम्। फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥ अन्ये कृतयुगे धर्म्मास्त्रेतायां द्वापरे परे। अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥ तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥ सर्व्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः। मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्म्माण्यकल्पयत् ॥ ॥ ८७ ॥ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च

युगमें नहीं होती है ॥८१॥ त्रेता आदि युगोंमें अधर्म्मसे,धन विद्याकी प्राप्तिमें धर्म्मका एक एक चरण रहित होता है। चोरी, मिथ्यापवाद और कपटताके क्रमसे प्रबल होने पर धर्म्मवृत्तिकी भी एक एक चरण घटती हुई ॥ ८२ ॥ सत्ययुगमें मनुष्य रोगरहित, सिद्धकाम और चार सौ वर्षकी आयुवाले होते हैं, परन्तु त्रेता आदि तीनों युगोंमें आयुका परिमाण क्रमसे एक एक सौ वर्ष घटने लगता है ॥ ८३ ॥ वेदोक्त कर्म्मों के अनुयायी परमायुकी प्राप्ति, काम्य-कर्म्मोंका फल मिलना और शरीरधारियोंको अणिमादि अलौकिक शक्ति युगके अनुसार ही फलित होती है ॥ ८४ ॥ सत्ययुगमें एक प्रकारका धर्म्म, त्रेतामें और भांतिका, द्वापरमें दूसरी तरहका तथा कलियुगका अलग है। जो हो, युगके ह्रासके अनुसार धर्म्म भी बदलता है ॥ ८५ ॥ सत्ययुगमें तपस्याही मुख्य धर्म्म, त्रेतामें ज्ञानही श्रेष्ठ, द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें केवल दानही धर्म्म है ॥ ८६ ॥ इस सारी सृष्टिकी रक्षा करनेके लिये उस महा तेजस्वी प्रभुने मुख, बाहु, उरु और चरणसे चारों वर्णों के पृथक पृथक कर्म्मों का विधान कर दिया ॥ ८७ ॥ पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और

क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥ ऊर्द्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्त्तितः । तस्मान्मेध्यतमन्त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा ॥ ९२ ॥ उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात् । सर्व्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्म्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥ तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात् तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् । हव्यकव्याभिवाह्याय सर्व्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥ यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः । कव्यानि चैव पितरः किम्भूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु

दान लेना, येही ब्राह्मणके छः कर्म्म हैं ॥ ८८ ॥ प्रजाकी रक्षा, दान और यज्ञ करना, पढ़ना और भोगासक्त न होना, येही क्षत्रियके कर्म्म हैं ॥ ८९ ॥ पशुओंकी रक्षा, दान, यज्ञ करना, पढ़ना, वाणिज्यकी वृद्धिके लिये धन लगाना, और कृषिकर्म्म करना,—वैश्योंके कर्म्म हैं ॥ ९० ॥ निष्कपट चित्तसे ऊपर कहे हुए तीनोवर्णोंकी सेवा करना शूद्रोंका प्रधान कर्म्म है,—ऐसा ही ब्रह्माने विधान किया है ॥ ९१ ॥ पुरुषके पांवका ऊपरी भाग पवित्र है; फिर उसके बाद नाभिका ऊपरीभाग पवित्र है और उससे मुख श्रेष्ठ है ॥९२॥ पवित्र मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए। वह सब वर्णोंसे पहले जन्मे और वेद धारण करनेसे सारी सृष्टिके धर्म्मानुशासक हुए ॥ ९३ देवताओं और पितरोंको हव्यकव्य मिले और उसके सहारे निखिल जगत् संसारकी रक्षा होवे,—इसही लिये ब्रह्माने तपस्या करके पहले निजमुखसे ब्राह्मण उत्पन्न किया ॥ ९४ ॥ स्वर्गवासी देवगणभी जिसके मुखसे हवनकी वस्तुओंको सदा भोजन किया करते हैं, श्राद्धादिमें अन्न प्रभृति देनेसे पितरगण जिनके मुखसे ग्रहण करतेहैं, उनसे अधिक श्रेष्ठ इस पृथिवीपर कौन है ॥ ९५ ॥ उत्पन्न हुए पदार्थोंमें जिनमें प्राण हैं, वे श्रेष्ठ

नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥ ब्राह्मणेषु तु विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः । कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥ उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्त्तिर्धर्म्मस्य शाश्वती । स हि धर्म्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥ ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते । ईश्वरः सर्व्वभूतानां धर्म्मकोषस्य गुप्तये ॥९९॥ सर्व्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् । श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्व्वं व ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥ स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च । आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥ तस्य कर्म्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्व्वशः । स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥ विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः । शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं

हैं; प्राणवालोंमें बुद्धिवाले श्रेष्ठ है. बुद्धिवालोंमें मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्योंके बीच ब्राह्मणही श्रेष्ठ हैं ॥९६॥ ब्राह्मणोंके बीच विद्वान् श्रेष्ठ हैं, विद्वानोंमें शास्त्रोंकी रीति अनुसार कार्य्य करनेवाले उत्तम हैं, कृतबुद्धि पुरुषोंमें कर्त्तव्य कार्य्य करनेवाले श्रेष्ठ हैं और कर्त्तव्य कार्य्य करनेवालोंके बीच ब्रह्मवेदी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं ॥ ९७ ॥ ब्राह्मणकी शरीरोत्पत्ति धर्म्मकी शाश्वत मूर्त्तिमान अवस्था है, धर्म्माधर्म्मके लिये उत्पन्न होके ब्राह्मण ब्रह्मत्व लाभ किया करते हैं। ९८। जब ब्राह्मण जन्मते हैं तब वह पृथिवी पर सबसे श्रेष्ठ पदपर प्रतिष्ठित और धर्म्मकी रक्षाके लिये सब जीवोंके ईश्वरत्वमें व्रती होते हैं। ९९। तीनों लोकोंके बीच सब धनही ब्राह्मणोंका है, सब वर्णोंसे श्रेष्ठ और श्रेष्ठ स्थानसे उत्पन्न होनेसे ब्राह्मण ही सब सम्पत्ति प्रतिग्रहके योग्यपात्र हैं। १००। ब्राह्मण जो खाते, पहनते और दान करते हैं वह पराया होनेपर भी उनका अपना ही है, क्योंकि ब्राह्मणोंकी ही कृपासे अन्य लोग भोजन पानादिसे जीवित हैं।१०१। ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णोंके विधिपूर्व्वक कार्य्य अकार्य्योंके निर्णयके निमित्त स्वायम्भुव मनुने यह शास्त्र बनाया। १०२। यत्नपूर्व्वक पूरी रीतिसे इस शास्त्रको पढ़ना ब्राह्मणोंका

सम्यङ् नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥ इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः। मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥ पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान्। पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥ इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्द्धनम्। इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥ अस्मिन् धर्म्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्म्मणाम्। चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥ आचारः परमो धर्म्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च। तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥ १०८ ॥ आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफल-भाग्भवेत् ॥ १०९ ॥ एवमाचरतो दृष्ट्वा धर्म्मस्य मुनयो गतिम्। सर्व्वस्य

कर्त्तव्य है। विद्वान् ब्राह्मण ही शिष्योंको यह शास्त्र पूरा पढ़ावें; अन्य कोई वर्ण इसे पढ़ानेका अधिकारी नहीं है ॥ १०३ ॥ इस शास्त्रका पूरा बोध होनेपर ब्राह्मण ज्यों के त्यों यम नियमादि व्रतोंको करते हैं और उससे वे प्रति दिन मानसिक, वाचिक और कायिक किसी पापमें भी नहीं फंसते हैं ॥ १०४ ॥ वे पंक्ति पवित्र करते हैं, वे ऊपरके सात और नीचेके सात पुरुषोंको पवित्र करते हैं और स्वयं ऐसे पवित्र पात्र होते हैं कि समुद्र पर्य्यन्त पृथ्वी उन्हें दान की जा सकती है ॥ १०५। मनुसंहिताका पाठ तथा श्रेष्ठ पाठबुद्धिकी वृद्धिके उपाय हैं। यह यशदायक आयु बढ़ाने वाली और यही परम कल्याणप्राप्तिका कारण है ॥ १०६ ॥ इस शास्त्रमें सारे धर्म्म कहे गये हैं, सब कर्म्मोंके गुण दोषोंका विचार किया गया है और चारों वर्णों के सनातन आचार वर्णित हुए हैं। १०७। आचार प्रतिपालन करना परम धर्म्म है, यह वेद और स्मृति दोनोंसे ही सिद्ध हुआ है, इसलिये आत्मज्ञानी ब्राह्मण सदा ही आचारके अनुष्ठानमें यत्नवान रहें। १०८। आचारभ्रष्ट होनेसे ब्राह्मण

तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥ जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च । व्रतचर्य्योपचारञ्च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥ दाराधिगमनञ्चैव विवाहानाञ्च लक्षणम् । महायज्ञविधानञ्च श्राद्धकल्पञ्च शाश्वतम् ॥११२॥ वृत्तीनां लक्षणञ्चैव स्नातकस्य व्रतानि च । भक्ष्याभक्ष्यञ्च शौचञ्च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥ स्त्रीधर्म्मयोगं तापस्यं मोक्षं सन्न्यासमेव च । राज्ञश्च धर्म्ममखिलं कार्य्याणाञ्च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥ साक्षिप्रश्नविधानञ्च धर्म्मं स्त्रीपुंसयोरपि । विभागधर्म्मं द्यूतञ्च कण्टकानाञ्च शोधनम् ॥ ११५ ॥ वैश्यशूद्रोपचारञ्च सङ्कीर्णानाञ्च सम्भवम् । आपद्धर्म्मञ्च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥ संसारगमनञ्चैव त्रिविधं कर्म्मसम्भवम् । निःश्रेयसं कर्म्मणाञ्च गुणदोषपरीक्षणम् ॥११७॥ देशधर्म्मान् जातिधर्म्मान् कुलधर्म्मांश्च शाश्वतान् । पाषण्ड-

---

प्राप्ति देखकर और आचारको समस्त तपस्याका मूल कारण जानकर इसे वेदका फलभागी नहीं हो सकता। परन्तु आचारशुद्ध रहके यदि वह वदिक कार्य्य करे तो सब वेदोंका फलभागी हो सकता है ॥ १०९ ॥ मुनियोंने इसी भांति आचारसे धर्म्म परम कल्याणकारी समझके ग्रहण किया है ॥ ११० ॥ जगत्की उत्पत्ति जातकर्म्म आदि संस्कार-विधि, ब्रह्मचारीके व्रताचरण गुरुआदिको प्रणाम, गुरुगृहसे लौटनेपर ब्राह्मणके स्नानकी विधि, दाराभिगमन वा विवाह, विवाहके लक्षण, महायज्ञकी रीति, सनातन श्राद्धकल्प, जीविकाके लक्षण, गृहस्थके कर्म्म, भक्ष्याभक्ष्यका विचार, शौच, द्रव्योंकी शुद्धिकी रीति, स्त्रीधर्म्मकी विधि, वाणप्रस्थधर्म्म, सन्न्यासधर्म्म, राजधर्म्म,ऋणदानादिके तत्त्व निर्णय, साक्षियोंके प्रश्नकी विधि, स्त्रीपुरुषोंके धर्म्म, दायविभाग, द्यूतविधान, चोर आदिके शान्तिकी रीति, वश्य शूद्रोंके करने योग्य कार्य्य, सङ्कर जातियोंकी उत्पत्तिका विवरण, चारोंवर्णोंके आपद्धर्म्म, प्रायश्चित्तकी विधि, कर्म्मोंकी उत्तम मध्यम गति, मोक्षका उपाय, कार्य्योंके गुण दोषोंकी

गणधर्म्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः ॥ ११८ ॥ यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया। तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्म्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥ कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्म्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥ सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः

परीक्षा, देशधर्म्म, जातिधर्म्म, वंश क्रमसे कुलधर्म्म और वेदसे पृथक पाषण्डियोंके धर्म्म;— यह सब भगवान मनुने इस शास्त्रमें कहा है। हे महर्षिवृन्द! पहले समयमें मनुने मेरे पूछनेपर जिस प्रकार यह शास्त्र मुझसे कहा था, मैंभी इस समय आपलोगोंसे उसी भांति कहता हूं,— सुनिये ॥ १११ से ११९ ॥

प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीय अध्याय।

जो धर्म्म राग, द्वेष, लोभ और मोह आदि चित्तधर्म्मसे उत्पन्न नहीं होता, उस धर्म्मतत्त्वको आपलोग सुनिये ॥ १ ॥ कामात्मता प्रशंसनीय

सङ्कल्पसम्भवाः । व्रता नियमधर्म्माश्च सर्व्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥ अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥ तेषु सम्यग्वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् । यथा सङ्कल्पितांश्चेह सर्व्वान् कामान् समश्नुते ॥ ५ ॥ वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥ यः कश्चित् कस्यचिद्धर्म्मो मनुना परिकीर्त्तितः । स सर्व्वोऽभिहितो वेदे सर्व्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥ सर्व्वन्तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा । श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्म्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥ श्रुतिस्मृत्युदितं धर्म्ममनुतिष्ठन् हि मानवः । इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥९॥ श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः । ते सर्व्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्म्मो

नहीं है, परन्तु कामनारहित होना भी असम्भव है, क्योंकि वेद पढ़ना और वैदिक कर्म्मभी कामनाके विषयीभूत हैं ॥ २॥ "इस कर्म्मसे मेरी इष्टसिद्धि होगी" ऐसी बुद्धिही सङ्कल्प है, यही कामनाका मूल है,—इस इष्टसाधनके ज्ञानसेही लोग यज्ञकार्य्य पूरा करते हैं ॥ ३ ॥ इस संसारमें अकामी लोगोंके कुछ कार्य्यही नहीं दीखते ; लोग कामनाकीही प्रेरणासे सब कार्य्य करते हैं ॥ ४ ॥ परन्तु बन्धनके हेतु फलाभिलाषके सिवा यदि शास्त्रमें कहे हुए कर्म्म किये जावें, तो मुक्तिप्राप्त हो और इस लोकमेंही सब काम्य विषय उपभोग किया जावे ॥ ५ ॥ सब वेद, वेद जाननेवालोंकी स्मृति और उनके ब्राह्मण्यादि रूपी शील, साधुओंके आचार, और आत्मप्रसन्नता ये सब धर्म्मके प्रमाण स्वरूप हैं ॥ ६ ॥ भगवान मनुने जिसका जो कुछ धर्म्म कहा है, वेदोंमें वह सब उसही भांति वर्णित है, क्योंकि भगवान मनु सर्व्वज्ञानमय हैं ॥ ७ ॥ वेदार्थ जाननेके उपयोगी शास्त्रोंको ज्ञाननेत्रसे विचारके वेदाज्ञानुसार निज अनुष्ठेय धर्म्ममें तत्पर होवे ॥ ८ ॥ श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्म्म कर्म्म करनेसे मनुष्यको

हि निर्ब्बभौ ॥ १० ॥ योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः। स साधुभिर्वहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥ वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्म्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥ अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते। धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥ श्रुतिद्वैधन्तु यत्र स्यात् तत्र धर्म्मावुभौ स्मृतौ। उभावपि हि तौ धर्म्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥ उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्व्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥ निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥ सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्म्मितं देशं

इस लोकमें कीर्त्ति और परलोकमें सुख मिलता है ॥ ९ ॥ वेदको श्रुति और धर्म्मशास्त्रको स्मृति कहते हैं; सब विषयोंमेंही ये दोनों शास्त्र विचार वितर्कके अतीत हैं, क्योंकि श्रुतिस्मृतिमेंही पूरा धर्म्मज्ञान प्रकाशित हुआ ॥ १० ॥ जो ब्राह्मण हेतुशास्त्र अर्थात् कुतर्क अवलम्बन करके धर्म्ममूल इन दोनो शास्त्रोंका अमान्य करता है, वह वेद-निन्दक, नास्तिक, समाजसे बाहिर करने योग्य हैं ॥ ११ ॥ वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रिय, इन चारोंको ऋषियोंने धर्म्मका साक्षात् लक्षण कहा है ॥ १२ ॥ अर्थकामनामें आसक्ति रहित पुरुषमें ही धर्म्मज्ञान होता है, धर्म्मजिज्ञासु पुरुषोंके लिये वेदही परम प्रमाण है ॥ १३ ॥ जहां श्रुति स्मृति दोनोंमें विरोध दीखे, पण्डितोंने उस स्थलमें दोनोंके बीच श्रुतिको ही धर्म्मजनक कहा है ॥ १४ ॥ वैदिक श्रुति यह है, कि "सूर्य्यके उदय और अस्तके समय होम करे" और सूर्य्य तथा नक्षत्ररहित समयमें भी होम करे।" ये समय परस्पर विरुद्ध होनेपर भी अधिकारी भेदसे इसके सब समयमें ही होम करना विहित है ॥ १५ ॥ जन्मनेके पहिले गर्भाधानसे अन्त्येष्ठि-कर्म्मतक जिनके जीवनका सब समय शास्त्रोक्त विधिसे

ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥ तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य्यक्रमागतः । वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥ कुरुक्षेत्रञ्च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥ १९ ॥ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व्वमानवाः ॥ २० ॥ हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग्विनशनादपि । प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥ २१ ॥ आ समुद्रात् तु वै पूर्व्वादा समुद्रात् तु पश्चिमात् । तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥ कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः । स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥२३॥ एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः । शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा

नियमित होता रहता है, वे द्विजाति ही इस मानव शास्त्रके पढ़ने और सुननेके अधिकारी हैं; दूसरे नहीं ॥ १६ ॥ सरस्वती और दृषद्वती, इन दोनो देव-नदियोंके अन्तर्व्वर्त्ती देव निर्म्मित देशको पण्डित लोग ब्रह्मा-वर्त्त कहते हैं ॥ १७ ॥ इस देशमें चारोंवर्ण और सङ्कर जातियोंके बीच जो आचार परम्परा क्रमसे चले आते हैं, उसे सदाचार कहते हैं ॥ १८ ॥ कुरुक्षेत्र, मत्स्य, कान्यकुब्ज और मथुरा, इन कई एक देशोंको ब्रह्मर्षि देश कहते हैं। यह ब्रह्मर्षिदेश ब्रह्मावर्त्तसे कुछ निकृष्ट है ॥ १९ ॥ इन देशोंमें उत्पन्न हुए अग्रजन्मा ब्राह्मणोंके समीप पृथ्वीके सब लोगोंको अपना अपना आचार व्यवहार सीखना उचित है ॥ २० ॥ उत्तरमें हिमा लय, दक्षिणमें विन्ध्यगिरि, इन दोनों पर्व्वतोंके मध्यके स्थान, विनशन देशके पूर्व्व और प्रयागके पश्चिममें जो स्थान हैं, पण्डित लोग उसे आर्य्यावर्त्त कहते हैं ॥ २१ ॥ जहां कृष्णसारमृग स्वभावसे ही विचरते हैं, उसे यज्ञिय देश कहते हैं। इससे पृथक् देशोंको म्लेच्छ देश कहा जाता है ॥ २२ ॥ यत्न पूर्व्वक इन देशोंको अवलम्बन करना द्विजातियोंको कर्त्तव्य है, परन्तु जीविकाके लिये चाहे जिस देशमें निवासकर सकते

निवसेद्वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥ एषा धर्म्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्त्तिता। सम्भवश्चास्य सर्व्वस्य वर्णधर्म्मान् निबोधत ॥२५॥ वैदिकैः कर्म्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥ गार्भैर्होमैर्जातकर्म्म-चौड़मौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकञ्चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥ स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥ प्राङ् नाभिवर्द्धनात् पुंसो जातकर्म्म विधीयते। मन्त्रवत् प्राशनञ्चास्य हिरण्य-मधु-सर्पिषाम् ॥ २९ ॥ नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥ मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।

हैं ॥ २३ ॥ महर्षिवृन्द! धर्म्मका कारण और इन सबकी विशेष उत्पत्ति संक्षेपसें कही गई। अब वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म वर्णाश्रमधर्म्म, गुणधर्म्म और नैमित्तिक धर्म्म सुनिये ॥ २५ ॥ वैदिक पुण्यकार्य्योंसे द्विजातियोंके गर्भाधानादि शरीर संस्कार करना योग्य है। ये वैदिककर्म्म इस काल और परकालमें पवित्र करनेवाले हैं ॥ २६ ॥ गर्भ समयमें गर्भाधान आदि संस्कार, जातकर्म्म, चूड़ाकरण और उपनयनादि संस्कारोंसे द्विजातियोंके बीज और गर्भजनित पाप नष्ट हुआ करते हैं ॥ २७ ॥ तीनो वेदोंको पढ़ना, ब्रह्मचर्य्यव्रत, सन्ध्या सवेरे होम, ब्रह्मचर्य्यके समयमें देवऋषियोंका तर्पण, गृहस्थ होके सन्तान उत्पन्न करना, ब्रह्मयज्ञ आदि पञ्चमहायज्ञ वा ज्योतिष्टोमादि अन्य यज्ञोंको करना; ये सब मनुष्य शरीरको ब्रह्मप्राप्तिके उपयुक्त करते हैं ॥ २८ ॥ बालक जन्मते ही पहिले उसका नाड़ा काटके जातकर्म्म नाम संस्कार करना उचित है। उस समय निज गृह्यमन्त्रोंसे उसे स्वर्णमधु और घृत भोजन कराना होता है ॥ २९ ॥ जन्मे हुए बालकका नामकरण दसवें बारहवें वा उसके बाद जिस दिन ज्योतिष शास्त्रके मतसे नक्षत्र लग्न आदि शुभ होय, उस दिन

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥ शर्म्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रैष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥ स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्। मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥ चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्। षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥ चूड़ाकर्म्म द्विजातीनां सर्व्वेषामेव धर्म्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥ गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्व्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥ ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥३७॥ आ षोड़शाद्ब्राह्मस्य सावित्री नातिवर्त्तते।

करना चाहिये ॥ ३० ॥ ब्राह्मणका मङ्गलवाचक, क्षत्रियका बलवाची, वैश्यका धनवाचक और शूद्रका हीनता वाचक नाम रक्खे ॥ ३१ ॥ ब्राह्मण नामके अन्तमें शर्म्म, क्षत्रियका वर्म्म आदि कोई रक्षावाचक उपपद, वैश्यके नाममें भूति प्रभृति कोई पुष्टिवाची और शूद्रके नामके शेषमें दासादि कोई सेवकवाचक उपपद लगावे ॥ ३२ ॥ सुखसे उच्चारण किया जाय, क्रूरार्थवाची न होय, अर्थ साफ मालूम हो, मनोहर, मङ्गल वाचक, अन्तमें दीर्घस्वर, और पुकारनेमें आशीर्व्वादका बोध हो,—स्त्रियोंके ऐसे ही नाम रखना उचित हैं ॥ ३३ ॥ चौथे महीनेमें सूर्य्यदर्शन करानेके लिये जन्मे हुए बालकको जन्मगृहसे निकालना और छठें महीनेमें अन्नप्राशन संस्कार करना होता है ॥ ३४ ॥ वेदविधिसे पहले वा तीसरे वर्षमें कुलाचारके अनुसार द्विजातियोंका चूड़ाकरण संस्कार करना उचित है ॥ ३५ ॥ ब्राह्मणका यज्ञोपवीत गर्भारम्भके दिनसे आठवें, क्षत्रियका ग्यारहवें और वैश्यका बारहवें वर्षमें करना योग्य है। गर्भारम्भ समयसे आठवां वर्ष होनेपर गर्भाष्टमादि कहते हैं ॥ ३६ ॥ ब्रह्मतेजकी कामनावाले ब्राह्मणका गर्भसे पांचवें, बलकी इच्छावाले क्षत्रि-

आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥ अत ऊर्द्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः । सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥ नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् । ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥ कार्ष्ण-रौरव-वास्तानि चर्म्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्वेण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥ मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्य्या विप्रस्य मेखला । क्षत्रियस्य तु मौर्व्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥४२॥ मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्याः कुशाश्मन्तकवल्वजैः । त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥ कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्द्ध्वृतं त्रिवृत् । शण-

---

यका छठवें और धनशाली वैश्यका आठवें वर्षमें उपनयन करना चाहिये ॥ ३७ ॥ ब्राह्मणके यज्ञोपवीतका समय गर्भारम्भसे सोलह वर्ष, क्षत्रियका बीस और वैश्यका चौबीसवां वर्ष न बीतने पावे ॥ ३८ ॥ इन तीनो वर्णोंका यदि इतने समयतक उपनयन संस्कार न किया जाय तो ये भ्रष्ट होकर साधुसमाजमें निन्दनीय होते और इन्हें व्रात्य कहा जाता है ॥ ३९ ॥ इन प्रायश्चित्त-रहित व्रात्योंके सङ्ग ब्राह्मण लोग आपत्कालमें भी दान, अध्ययन आदि वेदसम्बन्ध वा कन्यादानादि योनिसम्बन्ध न करें ॥ ४० ॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारीके लिये शणके वस्त्र, ओढ़नेको काले मृगका चमड़ा, क्षत्रिय ब्रह्मचारीके पहरनेके लिये भेड़िके रोएंके वस्त्र और ओढ़नेको बकरेका चमड़ा होवे ॥ ४१ ॥ ब्राह्मणकी मेखला (करधनी) नीचेकी और ऊंची न रहे, कोमल हो, तिहरी मूंजकी बनावे, क्षत्रियकी मूर्व्वामयी धनुषके रोदेकी भांति और वैश्यकी शनतन्तुसे बनी हुई तिगुनी करधनी (मेखला) बनाना होती है ॥ ४२ ॥ मूंज आदिके अभावमें कुश अश्मन्तक और वल्वज नाम तृण विशेषसे क्रमानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी मेखला बनाना चाहिये। जिन तीन गांठके सहारे कमरमें करधनी पहरना होती है, वह कुलाचारके अनुसार एक तीन अथवा

सूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥ ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ। पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥ केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्य्यः प्रमाणतः। ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥ ऋजवस्ते तु सर्व्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः। अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचो नाग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥ प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्। प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥ भवत्पूर्व्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः। भवन्मध्यन्तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥ मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्। भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥ समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममा-

---

पांच गांठसे बांधे ॥ ४३ ॥ ब्राह्मणका यज्ञोपवीत कपासके सूतसे, क्षत्रियका शनके सूत और वैश्यका भेड़के रोमके सूतसे बनाना होता है। यह तिहरे सूतसे तीन तागे ऊपरसे नीचेतक रहें ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी बेल अथवा पलाश, क्षत्रिय ब्रह्मचारी बट वा खदिर और वैश्य ब्रह्मचारी पीलू अथवा उडुम्बरका दण्ड धारण करे ॥ ४५ ॥ ब्राह्मणके दण्डका परिमाण केश, क्षत्रियका मस्तक और वैश्यके दण्डका परिमाण नासिकाके अग्रभाग तक होना उचित है ॥ ४६ ॥ ऊपर कहे हुए दण्ड मजबूत छिद्ररहित, छालयुक्त, सुन्दर और अनुद्वेगकारी होने योग्य हैं ॥ ४७ इस ही भांति इच्छानुसार दण्ड धारण करके ब्रह्मचारी लोग सूर्य्यकी उपासनाके शेषमें तीन बार अग्निकी प्रदक्षिणा करके विधिपूर्व्वक भिक्षाचरण करें ॥ ४८ ॥ उपनीत ब्रह्मचारी ब्राह्मण पहले "भवत्" शब्द कहके भीख मांगे, अर्थात् "भवति भिक्षां देहि"—ऐसा वचन कहे और क्षत्रिय मध्यमें तथा वैश्य शेषमें "भवत" शब्द कहके भीख मांगे ॥ ४९ ॥ माता वा बहिन तथा जिन स्त्रियोंके समीप ब्रह्मचारीको छूछे फिरनेकी सम्भावना न रहे, ब्रह्मचारी पुरुष पहले उन्हींके समीप भिक्षा मांगे ॥ ५० ॥

यथा। निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥ आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः। श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥ उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः। भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥ पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतद-कुत्सयन्। दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्व्वशः ॥ ५४ ॥ पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्ज्जञ्च यच्छति। अपूजितन्तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥५५॥ नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा। न चैवात्यशनं कुर्य्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ५६ ॥ अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यञ्चातिभोजनम्। अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्ज्जयेत् ॥ ५७ ॥ ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकाल-

---

इस ही भांति जितना प्रयोजन हो, उतनी भिक्षा मांगके ब्रह्मचारी निष्कपट-चित्तसे गुरुको निवेदन करता हुआ आचमन कर पवित्र होके पूर्व्वमुख भोजन करे ॥ ५१ ॥ आयुकी इच्छा करनेवाले पूर्व्वमुख, यश चाहनेवाले दक्षिण मुख, धनके अभिलाषी पश्चिम और सत्यके इच्छुक पुरुष उत्तरमुख भोजन करें ॥ ५२ ॥ द्विजाति लोग हाथ पांव और मुख धोकर प्रसन्नचित्तसे अन्न भोजन करें, भोजनके शेषमें इस ही भांति फिर उपस्पर्शन करें और जलसे छः इन्द्रिय स्थान स्पर्श करें ॥ ५३ ॥ भोजनके समय अन्नको बहुत समादरके सहित ग्रहण करे, अन्नकी निन्दा न करे, अन्नको देखकर हर्षित होवे, मनसे सकुचाहट छोड़े और जिससे प्रति दिन अन्न मिले वैसी ही प्रार्थना करे ॥ ५४ ॥ इस ही भांति प्रति दिन भक्तिपूर्व्वक अन्न भोजन करनेसे सामर्थ्य और वीर्य्य लाभ होता है, परन्तु अश्रद्धाके सहित भोजन करनेसे दोनो ही नष्ट होते हैं ॥ ५५ ॥ किसीको भी जूटा अन्न न देवे, सन्ध्या और सवेरे भोजन समयके बीच फिर भोजन न करे; बहुत भोजन न करे और जूठे मुखसे कहीं न जावे ॥ ५६ ॥ अत्यन्त भोजनसे शरीर रोगी होता, परमायु घटती और लोकमें निन्दा

मुपस्पृशेत् । कायत्र दशिकाभ्यां वा न पित्रेण कदाचन ॥ ५८ ॥ अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते । कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥ त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात् ततो मुखम् । खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥ अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् । शौचेप्सुः सर्व्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥ हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः । वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥ उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः । सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥ मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् । अप्सु प्रास्य

हुआ करती है। यह स्वर्ग और धर्मका विरोधी है इस लिये अतिभोजन न करे ॥ ५७ ॥ ब्राह्मण सब समयमें ब्राह्मतीर्थ, अप्राप्त होनेपर प्रजापतितीर्थ वा देवतीर्थसे आचमन करे; परन्तु पितृतीर्थसे कदापि आचमन न करे ॥ ५८ ॥ वृद्धाङ्गुष्ठके मूलके नीचेके भागको ब्राह्मतीर्थ कहते हैं, कनिष्ठा अंगुलीके मूलका नाम प्रजापतितीर्थ, सब अंगुलियोंके अग्रभागका नाम देवतीर्थ और तर्ज्जनी तथा अङ्गुष्ठके मध्यभागको पितृतीर्थ कहते हैं ॥ ५९ ॥ आचमनके समय पहिले ब्रह्मादि तीर्थसे तीन बार जलपान करना होता है, अनन्तर ओठ और अधर मूंदकर अंगूठेके मूलसे जलके सहारे दो बार उसे धोवे, तब जलसे मुख वक्षस्थल और सिरको क्रमसे स्पर्श करे ॥ ६० ॥ पवित्रताकी इच्छा करनेवाला निर्ज्जन स्थानमें पूर्व्व वा उत्तर मुख बैठकर गरम और फेनरहित जलसे पूर्व्वोक्त तीर्थोंके सहारे आचमन करे ॥ ६१ ॥ आचमनका जल हृदयतक जानेसे ब्राह्मण पवित्र होता है, कण्ठतक जानेसे क्षत्रिय, मुखमें पहुंचनेसे वैश्य और जिह्वाओष्ठसे स्पर्श होनेपर शूद्र पवित्र होता है ॥ ६२ ॥ यज्ञसूत्र वा वस्त्र बांयें कन्धेसे दाहिने पसवाड़ेतक लटकते रहनेपर उसमेंसे दाहिनी भुजा निकालनेसे पुरुष उपवीती

विनष्टानि गृहीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥ केशान्तः षोड़शे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥ अमन्त्रिका तु कार्य्यं स्त्रीणामावृदशेषतः । संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥ वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः । पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥ एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः । उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्म्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥ उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः । आचारमग्निकार्य्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥ अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः । ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो

कहाता है । दाहिने कन्धेसे वांयें कोखके नीचे उपवीत रहे और उसमेंसे बाईं भुजा निकाली जावे, तो उसे प्राचीनावीती कहते हैं जिसके कण्ठमें यज्ञसूत्र मालाकी भांति झूलता रहता है, उसे निवीती कहते हैं ॥ ६३ ॥ मेखला, मृगछाला, दण्ड और कमण्डलु, टूटने फटनेपर उन्हें जलमें फेंक-कर मन्त्र पढ़के अन्य मेखला आदि धारण करे ॥ ६४ ॥ गर्भसे सोलहवें वर्ष ब्राह्मणका केशान्त संस्कार करना होता है । क्षत्रियका गर्भसे बारहवें और वैश्यका चौबीसवें वर्ष केशान्त संस्कार करे ॥ ६५ ॥ स्त्रियोंकी देह शुद्धिके लिये उपनयनके सिवा सब संस्कारही यथासमयमें क्रमानुसार करने योग्य हैं । परन्तु अमन्त्रक करना उचित है ॥ ६६ ॥ विवाह-संस्कार ही स्त्रियोंका वैदिक उपनयनसंस्कार है इनके लिये स्वामीकी सेवा ही गुरुकुलमें वास और गृहकार्य्य ही सन्ध्या सवेरेका होमरूपी अग्नि परिचर्य्या जानो ॥ ६७ ॥ द्विजातियोंकी उपनयनविधि कही गई, यह द्वितीय जन्मकी व्यञ्जक और परम पुण्यजनक है । अब उपनीतका कर्म्मयोग सुनो ॥ ६८ ॥ शिष्यका उपनयन करके पहिले गुरु उसे आदिसे अन्ततक शौचकर्म्मकी शिक्षा देवे ; आचार, अग्नि-परिचर्य्या और सन्ध्योपासना भी सिखावे ॥ ६९ ॥ पढ़नेके लिये शिष्य

लघुवासा जितेन्द्रियः॥ ७०॥ ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा। संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥ ७१॥ व्यत्यस्तपाणिना कार्य्यमुपसग्रहणं गुरोः। सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥ ७२॥ अध्येष्यमाणन्तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः। अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत्॥ ७३॥ ब्राह्मणः प्रणवं कुर्य्यादादावन्ते च सर्व्वदा। स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्व्वं परस्ताच्च विशीर्य्यति॥ ७४॥ प्राक्कूलान् पर्य्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः। प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति॥ ७५॥ अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च॥ ७६॥ त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्। तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः

शास्त्रविधिसे आचमन करे इन्द्रियसंयम करके हाथ जोड़कर पवित्र वेशमें उत्तर मुख बैठे, तब गुरु उसे अध्ययन करावे॥ ७०॥ वेद पढ़नेके आरम्भ और शेषमें शिष्य प्रतिदिन गुरुके दोनो चरण छूवे और पढ़नेके समय हाथ जोड़कर गुरुके समीपनिवास करे। पढ़नेके समयकी इस कृताञ्जलिको ब्रह्माञ्जलि कहते हैं॥ ७१॥ विपरीतमुखी (नीचे ऊपर) दोनो हाथोंसे गुरुका चरण छूना योग्य है अर्थात् दाहिने हाथसे दाहिना और बायें हाथसे गुरुका बायां चरण स्पर्श करे॥ ७२॥ जब शिष्य पढ़ना आरम्भ करे, तब गुरु उसे "भो! अध्ययन करो" कहके पाठ अध्ययन करावे। और "इस स्थानमें पाठ रहा" कहके पढ़ना शेष करावे॥ ७३॥ वेद पढ़नेके आरम्भ और शेषमें ब्राह्मण प्रणव उच्चारण करे, पहिले विना प्रणव उच्चारण किये क्रमसे पढ़ना नष्ट हो जाता है और पढ़नेके शेषमें प्रणवका उच्चारण न करे तो सब पाठ भूल जाता है॥ ७४॥ पूर्व्वमुख कुश बिछाकर बैठे और दोनो हाथोंमें पवित्र कुश लेकर पवित्र हो पन्द्रह ह्रस्वस्वर उच्चारण करनेके समय तीन प्राणायामके सहारे शुद्ध होनेपर तब ओंकार उच्चारण करने योग्य होता है॥ ७५॥ प्रणवके

परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥ एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्व्विकाम् । सन्ध्ययोर्व्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥ सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः । महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥ एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया । ब्रह्म-क्षत्रिय-विड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥ ओङ्कारपूर्व्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः । त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥ योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः । स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्त्तिमान् ॥ ८२ ॥ एका-क्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः । सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं

अवयव अकार उकार और मकार तथा भूः, भुवः, स्वः—इन तीनों व्याहृतियोंको प्रजापतिने तीन देवताओंसे उद्धारण किया है ॥ ७६ ॥ परमेष्ठि प्रजापतिने तीन वेदोंसे "तदित्यादि गायत्रीके भी तीन चरण एक एक करके उद्धार किये हैं ॥ ७७ ॥ यह प्रणव या भूर्भुवः स्वः, इस व्याहृतियुक्त गायत्रीको जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्यामें सावधान मनसे जपता है, उसे वेदके सारे पुण्य मिलते हैं ॥ ७८ ॥ जो द्विज सन्ध्याके सिवाय अन्य समयमें भी प्रतिदिन प्रणव, व्याहृति और गायत्री एक सहस्र बार जपता है, वह महत् पापसे इस प्रकार छूट जाता है, जैसे सांप केंचुलीसे छूटता है ॥ ७९ ॥ जो द्विज सावित्रीरूपी ऋक्से अलग होता अथवा यथासमयमें अपना अनुष्ठानादि नहीं करता, वह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंकी साधु-समाजमें निन्दित होता है ॥ ८० ॥ प्रणवयुक्त अव्यय ये तीन महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्रीको ब्रह्मप्राप्तिका एकही उपाय जानो ॥ ८१ ॥ जो आलस्यरहित होकर तीन वर्षतक प्रणव और व्याहृति-युक्त गायत्री जपता है, वह परब्रह्मको पाता, वायुकी भांति इच्छानुसार विचर सकता और आकाशकी भांति सर्व्वव्यापी होके भी निर्लिप्त रहता है ॥ ८२ ॥ एकाक्षर प्रणव ही परमब्रह्म है, तीनों प्राणायामही परम

विशिष्यते ॥ ८३ ॥ क्षरन्ति सर्व्वा वैदिक्यो जुहोति-यजतिक्रियाः । अक्षरन्त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥ विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥ ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः । सर्व्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥ ८६ । जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥ इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु । संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥ एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्व्वे मनीषिणः । तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्व्वशः ॥ ८९ ॥ श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी । पायू-

---

तपस्या हैं; गायत्रीसे बढ़के और मन्त्र नहीं है और मौनसे सत्य उत्तम है ॥ ८३ ॥ वैदिक होम यज्ञ आदि सब क्रिया ही समयानुसार नष्ट होती हैं, परन्तु प्रणव अक्षर ही अक्षर रहता है; यही प्रजापति ब्रह्मस्वरूप है ॥ ८४ ॥ वेदविहित यज्ञादिकोंसे जपयज्ञ दशगुण शुभप्रद है, जपयज्ञमें मौन जप सौगुणा फल देनेवाला है; मौन (उपांशु) जप हजार गुणाशुभदायक है ॥ ८५ ॥ देव, भूत, मनुष्य, और पितृ,—ये जो चारो महायज्ञ हैं, इनके साथ यदि दर्श पौर्णमासादि वेदविहित यज्ञोंको मिलाया जावे, तौभी इनके पुण्यफल ब्रह्मयज्ञरूपी जपयज्ञके सोलहवें हिस्सेका एक हिस्सा भी नहीं होता ॥ ८६ ॥ ज्योतिष्टोम आदि अन्य वैदिक कर्म्मोंको करे वा न करे, ब्राह्मण केवल जपबलसे निस्सन्देह सिद्धि प्राप्त करता है, क्योंकि दयाशील ब्राह्मण ही मुक्तिलाभके योग्य हैं ॥ ८७ ॥ जैसे सारथी घोड़ोंको अपने वशमें रखता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष आकर्षणशील निज निज विषयोंमें दौड़नेवाली इन्द्रियोंको संयम करनेकी चेष्टा करे ॥ ८८ ॥ पहिलेके पण्डितोंने जो एकादश इन्द्रिय कही हैं, वह सब मैं तुमसे कहता हूं ॥ ८९ ॥ कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा नासिका,

पस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्व्वशः । कर्म्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥ एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् । यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥ इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् । संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ ९४ ॥ यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्व्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् । प्रापणात् सर्व्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥ न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया । विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥ वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।

गुदा, उपस्थ, हाथ, पांव, वाक्य येही दशइन्द्रिय हैं ॥ ९० ॥ इनमेंसे आनुपूर्व्विक क्रमसे कान आदि पांचों इन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रिय और पायु आदि पांचोंको कर्म्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ ९१ ॥ मन ग्यारहवां इन्द्रिय कहा गया है, यह अपने गुणसे कर्म्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनोंका ही आत्मास्वरूप है। इसे जीतनेसे ही उपरोक्त दशों इन्द्रियोंकी जय किया जा सकता है ॥ ९२ ॥ इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होनेसे मनुष्य दूषित हुआ करता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। उन्हें संयम कर सकनेसे ही निश्चय सब सिद्धि प्राप्त होती हैं ॥ ९३ ॥ काम्य विषयोंके उपभोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती; बल्कि जैसे घृतकी आहुति देनेसे आग और भी जल उठती है, उस ही भांति विषय उपभोगसे कामनाकी भी वृद्धि होती है ॥ ९४ ॥ जो लोग सब कामनाके विषयोंको प्राप्त हुए हैं और जिन्होंने काम्यविषयोंको त्यागा है, इन दोनोंके बीच त्यागी पुरुषको ही श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ९५ ॥ जिस प्रकार ज्ञानके सहारे इन्द्रियां क्रमसे शान्त होती हैं, विषयभोगसे छुड़ाकर इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करनेकी चेष्टा करनेसे उस प्रकार संयत नहीं होती

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥ श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः । न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥ इन्द्रियाणान्तु सर्व्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥ वशेकृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा । सर्व्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥ पूर्व्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् । पश्चिमान्तु समासीनः सम्यगृक्ष-विभावनात् ॥ १०१ । पूर्व्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति । पश्चिमान्तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥ न तिष्ठति तु यः पूर्व्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवद्वहिष्कार्य्यः सर्व्वस्माद्द्विजकर्म्मणः ॥ १०३ ॥ अपां

है ॥ ९६ ॥ वेदबल, दानबल, यज्ञ, नियम तपस्या आदि जो कुछ पुण्यकार्य्यके बल हैं,—ये सब विषयलोलुप दुष्टबुद्धि पुरुषोंको कभी सिद्धि देनेमें समर्थ नहीं है ॥ ९७ ॥ सुनना, छूना, देखना, खाना, सूंघना, अनुकूल प्रतिकूल किसीमें भी जिसको हर्ष विषाद नहीं होता, उसे जितेन्द्रिय कहते हैं ॥ ९८ ॥ [जैसे चमड़ेका पात्र बहुत छिद्रयुक्त न होनेपर भी एकही छेदके दोषसे जल पूरित होकर डूब जाता है वैसे ही इन्द्रियोंके बीच यदि कोई इन्द्रिय भी स्खलित होवे, तो उस एकही इन्द्रियकी दुर्बलतासे परम ज्ञान नष्ट हुआ करता है] ॥ ९९ ॥ इन्द्रियोंको अपने वशमें रखके मनको संयमकर उपायबलसे शरीरको पीड़ित न करके साधारण लोगोंमें पुरुषार्थही साधन करे ॥ १०० ॥ प्रातःसन्ध्याके समय सूर्य्य निक-लनेतक एक स्थानमें खड़ा रहके गायत्री जप करे और सायंसन्ध्याके समय तारा निकलनेतक आसनपर बैठके जप करे ॥ १०१ ॥ [प्रातःकाल खड़ा होके जप करनेसे रात्रिके सञ्चित पापसमूह नष्ट होते हैं और सायंसन्ध्याके समय बैठके जप करनेसे दिनके किये हुए सब पाप छूट जाते हैं ॥ १०२ ॥ परन्तु जो पुरुष सवेरे और सन्ध्यासमय जप आदि

समीपे नियतो नत्यकं विधिमास्थितः। सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥ १०४॥ वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके। नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥ १०५॥ नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्। ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ १०६॥ यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः। तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥ १०७॥ अग्नीन्धनं भैक्ष्यचर्य्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्। आ समावर्त्तनात् कुर्य्यात् कृतोपनयनो द्विजः॥ १०८॥ आचार्य्यपुत्त्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्म्मिकः शुचिः। आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्म्मतः॥ १०९॥ नापृष्टः

नहीं करता, वह शूद्रकी भांति सब द्विज कर्म्मोंसे वाहिर होता है॥ १०३॥ वेदका बहुत पाठ करनेमें असमर्थ होनेपर ग्रामके बाहर किसी निर्ज्जन स्थानमें जाकर वहां जलके समीप यत्नपूर्व्वक नैत्यिक स्वाध्याय विधिके अनुसार प्रणव व्याहृतिके सहित गायत्री जपना॥ १०४॥ शिक्षा-कल्पादि वेदाङ्ग नित्यके स्वाध्याय और होममन्त्रके अध्ययनमें अनध्याय दिनकोभी बाधा नहीं है॥ १०५॥ नित्य अनुष्ठेय जप यज्ञादिमें अध्ययनका निषेध नहीं है; क्योंकि इसका विराम न रहनेसेही मन्वादिने इसे ब्रह्मसत्र कहा है। अनध्याय रूपी यज्ञ समापक वषट्कारमें भी वेदाध्ययन रूपी आहुति पुण्यजनक होती है॥ १०६॥ जो पुरुष शुद्धभावसे नियतेन्द्रिय होकर विधिपूर्व्वक एक वर्षतक जप यज्ञ करता है उस जप यज्ञहीसे उसके लिये सदा दूध, दही, घी और मधु भरता है अर्थात् देवता तथा पितरलोग उससे तृप्त होकर उसे प्रसन्न करते हैं॥ १०७॥ जबतक ब्रह्मचारी समावर्त्तन अर्थात् पिताके स्थानमें न लौटे, उतने दिन तक गुरुकुलमें रहके प्रतिदिन सवेरे और सन्ध्याको होमके काठसे अग्नि जलावे, पृथ्वीमें चटाई बिछाकर सोवे, भिक्षाचरण और गुरुके हितकर कार्य्य करे॥ १०८॥ गुरुका पुत्र, सेवा टहल करनेवाला, ज्ञानी,

कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः। जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥ अधर्म्मेण च यः प्राह यश्चाधर्म्मेण पृच्छति। तयो-रन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १११ ॥ धर्म्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा। तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥ विद्या-यैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना। आपद्यपि हि घोरायां नत्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥ विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्। असूय-काय मां मा दास्तथा स्यां वीर्य्यवत्तमा ॥ ११४ ॥ यमेव तु शुचिं विद्या नियतं ब्रह्मचारिणम्। तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥ ब्रह्म

धार्म्मिक, शुचि आत्मीय, पाठ ग्रहण करनेमें समर्थ, धनदाता, साधु और पुत्र,—ये दश धर्म्मसे पढ़ाये जानेके योग्यपात्र हैं ॥ १०६ ॥ शिष्यके सिवाय पूछे न जानेपर अन्य किसीसे भी कुछ बात न कहै, भक्ति श्रद्धादि प्रश्नधर्म्म उल्लङ्घन करके अन्यायभावसे पूछनेपर उत्तर न देवे, मेधावी पुरुष ऐसे स्थलमें जानसुनके भी लोकसमाजमें बधिरकी भांति व्यवहार करे ॥ ११० ॥ जो पुरुष अधर्म्मसे उत्तर देता है और जो मनुष्य अधर्म्मसे पूछता है प्रश्नोत्तर धर्म्मके अतिक्रम करनेवाले इन दोनोंमेंसे एकका नाश हो जाता है और दूसरा लोगोंका विद्वेषभाजन होता है ॥ १११ ॥ अथवा जैसे उत्तम बीजको खारभूमिमें न बोना चाहिये, वैसे ही जहां धर्म्म वा धनप्राप्ति वा उसके अनुरूप सेवा टहल आदि नहीं है, वहां विद्यादान न करना चाहिये ॥ ११२ ॥ जीवनउपायमें अत्यन्त कष्ट होनेपर ब्रह्मवादी अध्यापक बल्कि विद्याके सहित मर जावे, तथापि अपात्रमें विद्याबीज न बोवे ॥ ११३ ॥ विद्या ब्राह्मणके समीप आके बोली, कि "मैं तुम्हारी निधि हूं, मुझे यत्नपूर्व्वक रक्षा करो: अश्रद्धा आदि दोषोंसे दूषित अपात्रोंको मुझे न देना, तो मैं अत्यन्त बलवती रहूंगी। जिसे सर्व्वदा पवित्र जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी जानो विद्यारूपीनिधि-

यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्। स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते॥ ११६॥ लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च। आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्व्वमभिवादयेत्॥ ११७॥ सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्व्वाशी सर्व्वविक्रयी॥ ११८॥ शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्। शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥ ११९॥ ऊर्द्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥१२०॥ अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि संप्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ १२१॥ अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।

प्रतिपालक उस सावधान विप्रके हाथमें मुझे अर्पण करना॥ ११४।११५॥ जो पुरुष पढ़ने वा पढ़ानेवालेके समीप उसकी अनुमतिके बिना वेदविद्या प्राप्त करता है, वह वेद-चुरानेके पापसे युक्त होकर नरकमें पड़ता है॥ ११६ लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक ज्ञान जिसके समीप मिल सके,— सन्तुष्ट होकर पहले उसे ही प्रणाम करना योग्य है॥ ११७॥ सदाचार-युक्त ब्राह्मण यदि पूरा शास्त्रज्ञ न होकर केवल गायत्री मात्र जपे, तौभी वह माननीय है, परन्तु तीनो वेदोंका जाननेवाला भी यदि अनाचारी, निषिद्धभोजी और निषिद्ध वस्तुओंके बेचनेवाला हो, तो वे माननीय नहीं है॥ ११८॥ विद्या और अवस्थामें बड़े लोगोंकी जो शय्या वा आसन हो, उसपर कदापि बैठना न चाहिये। स्वयं शय्यापर बैठा हो उस समय विद्या वा अवस्थामें बड़े लोग आवें तो उठके उन्हें प्रणाम करना योग्य है॥ ११९॥ अवस्थामें और विद्यामें वृद्ध पुरुषोंके आनेपर युवाके प्राण ऊपरको उठनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उठकर प्रणाम आदि करनेसे फिर प्राण स्थिर होते हैं॥ १२०॥ सर्व्वदा वृद्धोंकी सेवामें रत, प्रणामशील युवाके आयु, विद्या, यश और बल,—इन चारोंकी पूरी वृद्धि होती है॥ १२१॥ श्रेष्ठ लोगोंको प्रणामके शेषमें "मैं अमुक आपको

असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्त्तयेत् ॥ १२२ ॥ नामधेयस्य ये केचि-दभिवादं न जानते। तान् प्राज्ञोऽहमितिब्रूयात् स्त्रियः सर्व्वास्तथैव च ॥१२३॥ भोःशब्दं कीर्त्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने। नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥१२४॥ आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने। अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्व्वाक्षरः प्लुतः ॥१२५॥ यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रःप्रत्यभिवादनम्। नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥ ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥ अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्। भोभवत्पूर्व्वकन्त्वेनमभिभाषेत धर्म्मवित् ॥ १२८ ॥ परपत्नी तु या स्त्री

प्रणाम करता हूं"—कह कर अपना नाम सुनावे ॥ १२२ ॥ प्रणाम करने योग्य वह बुद्धिमान पुरुष प्रणाम करनेके अनन्तर कहे कि मैं यह बात कहूंगा। स्त्रियां भी इस ही भांति प्रणाम करें ॥ १२३ ॥ प्रणाम करनेके समय अपना नाम कहके भो शब्द व्यवहार करे; क्योंकि जैसे नाम सम्बोधनादिका बोधक है, ऋषियोंने भो शब्दको भी वैसा ही कहा है ॥ १२४ ॥ प्रणाम करनेपर अमुक आयुष्मान हो, ऐसा कहके ब्राह्मणको आशीर्व्वाद करना होता है और उसके नामके शेषमें जो स्वरवर्ण रहे, अथवा उसके अभावमें उसके ठीक पूर्व्वके स्वरवर्णको प्लुत उच्चारण करना होता है ॥ १२५ ॥ जो ब्राह्मण आशीर्व्वाद देना नहीं जानता, विद्वान् पुरुष उसे प्रणाम न करे; उसे शूद्र समान माने ॥ १२६ ॥ परस्पर भेंट होनेपर प्रणामके अनन्तर छोटे वा समान अवस्थावाले ब्राह्मणका कुशल, क्षत्रियका मङ्गल, वैश्यका क्षेम और शूद्रकी आरोग्यताका समाचार पूछना होता है ॥ १२७ ॥ यज्ञादि में दीक्षित पुरुष यदि अवस्थामें छोटा हो, तौभी धर्म्मज्ञ पुरुष उस समय उसका नाम लेकर न पुकारे; परन्तु "भो" "भवत्" इत्यादि शब्दसे उसे सम्बोधन करे ॥ १२८ ॥ परस्त्री

स्यादसम्बन्धा च योनितः। तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥ मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून्। असावहमिति ब्रूयात् प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥ मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा। सम्पूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥ भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि। विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥ १३२ ॥ पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि। मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥ दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्। त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥ ब्राह्मणं दशवर्षन्तु शतवर्षन्तु भूमिपम्। पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

वा जिन स्त्रियोंके साथ किसी प्रकारका शोणितसम्बन्ध नहीं है, उन्हें "भवति" "सुभगे" अथवा "भगिनि" कहके पुकारना योग्य है ॥ १२९ ॥ मामा, पिता, ससुर, पुरोहित अथवा अन्य कोई गुरुजन यदि अवस्थामें छोटे भी हों, तौभी उनके आनेपर उठके कहे कि मैं "अमुक" हूं ॥१३० मौसी, मामी, फूफी और सास, इन्हें माता और गुरुपत्नीकी भांति चरण छूके प्रणाम करे; वे माता वा गुरुपत्नीके तुल्य हैं ॥ १३१ ॥ सवर्णा, अवस्थामें बड़ी भौजाईको चरण छूके प्रतिदिन प्रणाम करे और विदेशसे आनेपर, माता, सास आदिका चरण छूना होता है ॥ १३२ ॥ फूफी, मौसी और अपनी जेठी बहिनको मातातुल्य माने; परन्तु माता इनसे श्रेष्ठ है ॥ १३३ ॥ एक गांववाली लोगोंके बीच दस वर्षसे कमती अवस्थावालोंमें छोटे बड़ेके मान्यका तारतम्य नहीं है। नाचने गाने-वालोंमें, पांच और श्रोत्रिय ब्राह्मणोंमें तीन वर्षतक इतर विशेष नहीं है। परन्तु शोणितसम्बन्धीय पुरुषोंके बीच बहुत कम उमरमें भी सम्मानका इतरविशेष हुआ करता है ॥ १३४ ॥ ब्राह्मण यदि दस वर्षका हो और क्षत्रिय सौ वर्षका हो, तौभी दोनोंके बीच मान्यविषयमें पिता-

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म्म विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥ पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च। यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥ चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः। स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥ तेषान्तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ। राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥ उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः। सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्य्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥ एकदेशन्तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

पुत्रकी भांति व्यवहार जानो। अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रियके समीप पिताकी भांति माना जायगा ॥ १३५ ॥ स्वजातीय लोगोंके बीच धन, सम्बन्ध, अवस्था, शास्त्रविहित कर्म्म और विद्या, ये पांचो ही सम्मानके कारण हैं। इनमेंसे पहलेसे दूसरे आदि अधिक मान्यके योग्य हैं। जैसे धनीसे सुम्बन्धीय जन अधिक माननीय हैं इत्यादि ॥ १३६ ॥ उक्त पाचों गुणोंमेंसे जिनमें अधिक गुण हैं, वे ब्राह्मण आदि तीनो वर्णोंमें अधिक माननीय हैं। और नव्वे वर्षका शूद्र भी ब्राह्मणादिकोंका माननीय है ॥ १३७ ॥ पहियायुक्त रथ आदिपर चढ़े हुए बहुत बूढ़े, आतुर, बोझा ढोनवाले स्त्रियां, गुरुगृहसे लौटे हुए ब्राह्मण, राजा और विवाहके निमित्त जानेवाले, इन लोगोंको जानेके लिये आगेसे रस्ता छोड़के हट जावे ॥ १३८ ॥ ये सब कोई यदि एकत्रित हों, तो इनमेंसे स्नातक ब्राह्मण और राजा अधिक माननीय हैं। राजा और स्नातक ब्राह्मणके बीच स्नातक ब्राह्मण ही अधिक माननीय है ॥ १३९ ॥ जो ब्राह्मण उपनयन देकर शिष्यको यज्ञविद्या तथा उपनिषदके सहित वेदशास्त्र पढ़ाता है; उसे आचार्य्य कहते हैं ॥ १४० ॥ जो लोग जीविकाके लिये वेदका एक अंश अथवा वेदाङ्ग पढ़ाते हैं, उन्हें "उपाध्याय" कहते हैं ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्म्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥१४२॥ अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान्। यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते॥१४३॥ य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ। स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदाचन॥१४४॥ उपाध्यायान् दशाचार्य्य आचार्य्याणां शतं पिता। सहस्रन्तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥१४५॥ उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता। ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥१४६॥ कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः। सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते॥१४७॥ आचार्य्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या

जो लोग विधिपूर्व्वक गर्भाधानादि संस्कारोंको करते तथा अन्नसे प्रति-पालन करते हैं, उस विप्रको गुरु कहा जाता है॥१४२॥ जो लोग अग्नि स्थापन कार्य्य, पाकयज्ञ तथा अग्निष्टोमादि यज्ञ कराते हैं, वे ऋत्विक कहाते हैं॥१४३॥ जो लोग सत्यरूपी वेदमन्त्रोंसे दोनो कान परिपूर्ण करके कृतार्थ करते हैं, वे माता और वही पिता हैं; उनसे कभी द्रोह न करना चाहिये॥१४४॥ दश उपाध्याय से एक आचार्य्यका गौरव अधिक है, एक सौ आचार्य्योंसे संस्कारादि करनेवाले पिताका गौरव ज्यादा है। और जन्मदाता सहस्र पिताओंसे भी माताका अधिक गौरव है॥१४५॥ जो लोग संस्कारादि नहीं कराते, केवल जन्मदाताही हैं और जो लोग अंगोंके सहित वेद पढ़ाते हैं,—ये दोनोंही पिता कहाते हैं; परन्तु उनमें वेददाता पिताही श्रेष्ठ है। क्योंकि द्विजोंके लिये द्वितीय वा ब्रह्मचर्य्य ही इसकाल तथा परकालमें सत्य और शाश्वत है॥१४६॥ पिता माता काम-प्रेरित होके बालकका जन्म देते हैं; माताकी कुक्षिसे जो जन्म होता है, उसे पश्वादि साधारण जन्म कहा जाता है॥१४७॥ वेद जाननेवाला आचार्य्य जो सावित्री द्वारा विधि पूर्व्वक जन्म देता है,

साऽजराऽमरा ॥ १४८ ॥ अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः । तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥ ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्म्मस्य च शासिता । बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्म्मतः ॥ १५० ॥ अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः । पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥ ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागत-मन्यवः । देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥ अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः । अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥ न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः । ऋषयश्चक्रिरे धर्म्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १५४ ॥ विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रिया-

---

वह जन्मही सत्य है; उस जन्मके अनन्तर फिर जरा मरण नहीं है ॥ १४८ ॥ थोड़ा हो, चाहे ज्यादा हो, जो लोग वेद दानसे उपकार करते हैं, उस उपकारके हेतु शास्त्र मतसे उन्हें भी गुरु जानें ॥ १४९ ॥ जो वेदाध्ययनादिसे ब्राह्म जन्मका कारण होते हैं, जो वेदादि व्याख्यानसे निज धर्म्मोपदेश करता है, वही ब्राह्मण है। वह ब्राह्मण बालक होनेपर भी धर्म्मपूर्व्वक बूढ़ोंके लिये भी पिताके तुल्य माननीय है ॥ १५० ॥ अंगिराके पुत्र बालक होके भी अत्यन्त विद्वान् थे, इसीसे पिता तथा अवस्थामें बड़े लोगोंको पढ़ाते थे; उन्होंने उन्हें शिष्य करके "पुत्रक" शब्दसे पुकारा था। पुत्र कहनेसे उनलोगोंने क्रुद्ध होके देवताओंसे उसका अर्थ पूछा। "तब देवताओंने एकमत होके कहा था, कि बालकने जो कहा है, वह अन्याय नहीं है। क्योंकि अज्ञ लोग बूढ़े होनेपर भी बालक और ज्ञानोपदेशक बालक होनेपर भी पिताके समान पूजनीय है। अज्ञ पुरुषको बालक और वेददाताको जो पिता कहते हैं, यह बहुत पहलेसेही प्रसिद्ध है" ॥ १५१—१५३ ॥ सफेद केश, धन, सम्बन्ध अथवा इन सबके एकत्रित रहनेपर भी कोई बड़ा नहीं हो सकता। ऋषियोंने

ज्ञान्तु वीर्य्यतः। वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥ यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्म्ममयो मृगः। यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥ यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला। यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८ ॥ अहिंसयैव भूतानां कार्य्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्म्ममिच्छता ॥ १५९ ॥ यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्व्वदा। स वै सर्व्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥ नारुन्तुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्म्मधीः। ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

यह धर्म्म-नियम स्थापित किया है, कि जो लोग साङ्ग वेद जानते हैं, उनलोगोंके बीच वेही महत्पदसे पुकारे जाने योग्य हैं ॥ १५४ ॥ ज्ञानवान् होनेसे ब्राह्मण, अधिक बलवान होनेसे क्षत्रिय, धन धान्ययुक्त होनेसे वैश्य और अवस्थामें ज्येष्ठ होनेसे शूद्र बड़ा समझा जाता है ॥ १५५ ॥ सिरके केश पकना बूढ़ा होनेका प्रमाण नहीं है। परन्तु जो लोग युवा होके भी विद्वान होते हैं, देवता लोग उन्हेंही वृद्ध कहते हैं ॥ १५६ ॥ जैसे काठके बने हाथी और चमड़ेके नकली हरिन होते हैं,—वेदहीन ब्राह्मण भी वैसाही है। ये तीन केवल नाम मात्रकेही हैं ॥ १५७ ॥ जैसे हिजड़ेका सहवास, गायसे गायका सङ्गम और उन्मादका दान निष्फल है, वैसेही वेदाध्ययन रहित ब्राह्मण भी किसी कर्म्मका नहीं है ॥ १५८ ॥ बहुत ताड़नाके सहित शिष्योंको शिक्षा न देवे, धर्म्मकामनासे जो लोग शिक्षा देते हैं, वे शिष्योंके विषयमें मधुर तथा कोमल वचन प्रयोग किया करते हैं ॥ १५९ ॥ जो लोग कठोर वा मिथ्या वचन नहीं कहते, राग द्वेषादिसे सर्व्वदा पूरी तरह जिनका चित्त मुक्त हुआ है, वह वेदान्तमें कहे हुए फल पाते हैं ॥ १६० ॥ अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्व्वदा ॥ १६२ ॥ सुखं ह्यवमतः शेते सुखञ्च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥ अनेन क्रमयोगेण संस्कृतात्मा द्विजः शनैः। गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥ तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः। वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥ वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥ आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।

दूसरोंको मर्म्मपीड़ित करना उचित नहीं है; जिससे किसीकी बुराई हो, ऐसा कोई कार्य्य वा चिन्ता न करना चाहिये और जिस बातके कहनेसे लोगोंको उद्वेग उत्पन्न होवे, परलोकविरोधी ऐसा वचन उच्चारण करना न चाहिये ॥ १६१ ॥ ब्राह्मण ऐहिक सम्मानको जीवन पर्य्यन्त विषवत् जाने और अवमाननाको सदा अमृत समान माने ॥ १६२ ॥ क्योंकि अवमानना सहनेका अभ्यास होनेपर चित्तमें अवमान-जनित विकार नहीं होता; इस लिये वह सुखसे सोता, जागता और संसारके कर्त्तव्य कार्य्योंको करता है; परन्तु अपमान करनेवालेके मनमें ग्लानि हुआ करती है और उस पापसे उसके लोक-परलोक दोनोंही नष्ट होजाते हैं ॥ १६३ ॥ इस ऊपर कही हुई रीतिसे संस्कारयुक्त पुरुष गुरुकुलमें निवास करते हुए क्रमसे वेद प्राप्तिके योग्य तपस्या करे ॥ १६४ ॥ अनेक प्रकारके तपोविशेष और विधिपूर्व्वक सावित्री आदि व्रतानुष्ठान करके उपनिषदोंके सहित द्विजातियोंको सब वेद पढ़ना योग्य है ॥ १६५ ॥ जो द्विज तपस्या करनेकी इच्छा करता है, वह सदा वेदभ्यास करे; ऋषियोंने कहा, कि इस लोकमें वेदाभ्यासही ब्राह्मणकी परम तपस्या है ॥ १६६ ॥ ब्रह्मचर्य्यके विरोधी माला आदिक धारण करनेपर भी जो लोग यथाशक्ति वेद पाठ करते हैं, उनकी

यः स्वप्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ १६७ ॥ योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥ मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने । तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥ तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् । तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य्य उच्यते ॥ १७० ॥ वेदप्रदानादाचार्य्यं पितरं परिचक्षते । न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म्म किञ्चिदा मौञ्जिबन्धनात् ॥ १७१ ॥ नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते । शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥ कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते । ब्रह्मणो ग्रहणञ्चैव क्रमेण विधिपूर्व्वकम् ॥ १७३ ॥ यद्यस्य विहितं चर्म्म यत् सूत्रं या च

तपस्या नखशिख पर्य्यन्त व्याप्त हुआ करती है ॥ १६७ ॥ जो ब्राह्मण वेदपाठ न करके अन्यत्र परिश्रम करता है, वह जीवित अवस्थामें ही शूद्रत्वको प्राप्त होता है ॥ १६८ ॥ वेदोंमें कहा है,—द्विजलोग पहले मातासे जन्मते हैं, फिर उपनयन होनेपर उनका दूसरा जन्म होता है; उसके अनन्तर यज्ञ-दीक्षा पानेसे उनका तीसरा जन्म होता है ॥ १६९ ॥ इन तीनों जन्मोंके बीच जो मेखलाबन्धनयुक्त उपनयन संस्काररूपी द्विजोंका ब्रह्मजन्म होती है; उसमें गायत्री माता और आचार्य्य पिता कहाता है ॥ १७० ॥ उपनयनके पहले श्रौत-स्मार्त्त कोई कर्म्म करनेका अधिकार नहीं रहता; इसही लिये उपनयन तथा वेदविद्या दान करनेसे आचार्य्यको ऋषियोंने पिता कहा है ॥ १७१ ॥ उपनयनके पहले श्राद्धीय मन्त्रके सिवाय कोई वेद न पढ़ना चाहिये। जितने दिनतक ब्रह्म जन्म न होय, तबतक द्विजलोग शूद्रके समान रहते हैं ॥ १७२ ॥ उपनयन होनेपर वेद विद्या वा मधुमांस त्यागादिकी आज्ञा है और विधिपूर्व्वक वेद ग्रहण करनेका भार अर्पित होता है ॥ १७३ ॥ उपनयनके समय

मेखला। यो दण्डो यच्च वसनं तत् तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥ सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्। संनियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥ नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्। देवताभ्यर्च्चनञ्चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥ वर्ज्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः। शुक्तानि यानि सर्व्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम् ॥१७७॥ अभ्यङ्गमञ्जनञ्चाक्ष्णो-रुपानच्छत्रधारणम्। कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥ द्यूतञ्च जनवादञ्च परीवादं तथानृतम्। स्त्रीणाञ्च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥ एकः शयीत सर्व्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्। कामाद्धि

जिस ब्रह्मचारीके लिये जो चर्म्म, मेखला, दण्ड और वस्त्र विहित हुए हैं; चान्द्रायण आदि व्रतके समय भी उनके लिये उन्हीका विधान है ॥ १७४ ॥ गुरुकुलमें निवासके समय ब्रह्मचारी इन्द्रिय संयम करके निज भाग्यकी वृद्धिके लिये निम्नलिखित नियमोंको प्रतिपालन करे ॥ १७५ ॥ प्रतिदिन स्नान करके पवित्र भावसे देव तथा पितरोंका तर्पण, देवताओंकी पूजा करे और सन्ध्या-सवेरे आग जलाकर होम करे ॥ १७६ ॥ ब्रह्मचारी-मधु-मांस भोजन, सुगन्धि वस्तु सेवन, माला आदि धारण, गुड़ आदि रस ग्रहण और स्त्री सम्भोग न करे। जो चीजें स्वाभाविक मधुर हैं परन्तु किसी कारणसे खट्टी होजाती हैं,—उन्हें त्याग देवे—और प्राणियोंकी हिंसा न करे ॥ १७७ ॥ सिर तथा सारे शरीरमें तेल मलना, नेत्रोंमें काजल आदि लगाना, पादुका या छत्र धारण करना, काम, क्रोध, लोभ और नृत्य-गीत, बाजा, पास आदि खेलना लोगोंके साथ वृथा कलह, देशवार्त्ता आदिकी खोज, मिथ्या बोलना, बुरे अभिप्रायसे स्त्रियोंकी ओर देखना वा उन्हें आलिङ्गन करना और दूसरोंकी बुराई करना;—इन सब कार्य्योंसे ब्रह्मचारी निवृत्त रहे ॥ १७८ ॥ १७९ ॥ सब ठौर अकेला सोवे और हस्तक्रिया आदिसे कदापि वीर्य्य न गिरावे, कामसे

स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥ स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः । स्नात्वार्कमर्च्चयित्वा त्रिः पुनर्म्मामित्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥ उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् । आहरेद्यावदर्थानि भैक्ष्यञ्चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥ वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु । ब्रह्मचार्य्याहरेद्भैक्ष्यं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥ गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु । अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्व्वं पूर्व्वं विवर्ज्जयेत् ॥ १८४ ॥ सर्व्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्व्वोक्तानामसम्भवे । नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्ज्जयेत् ॥ १८५ ॥ दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि । सायं प्रातश्च जुहुयात् ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥ अकृत्वा भैक्ष्यचरणमसमिध्य च पावकम् ।

वीर्य्य गिरानेवालेका व्रत एकबारही नष्ट होजाता है ॥ १८० ॥ यदि स्वप्नदोषसे ब्रह्मचारीका वीर्य्यस्खलित हो, तो वह स्नान करके सूर्य्यदेवकी पूजा करे और मेरा वीर्य्य फिर लौट आवे, इत्यादि वेदमन्त्रोंका बारम्बार जप करे ॥ १८१ ॥ आचार्य्यके प्रयोजन अनुसार जलके घड़े, फूल गोबर, मट्टी और कुश लावे तथा प्रतिदिन भिक्षान्न संग्रह करे ॥ १८२ ॥ वेदानुष्ठान युक्त जो गृहस्थ सन्तुष्ट चित्तसे निज निज वृत्तिसें समय विताते हैं; ब्रह्मचारी पवित्र होकर प्रतिदिन उनके गृहसे भिक्षा संग्रह करे ॥ १८३ गुरुकुल, निजवंश तथा मामा आदि बान्धवोंसे ब्रह्मचारीको भीख मांगना उचित नहीं है। योग्य गृहस्थ न मि , तो पूर्व्वकुलको छोड़के अन्तके क्रमसे अर्थात् मातुल आदि कुलसे भिक्षा मांगना आरम्भ करे ॥ १८४ ॥ पुनः पूर्व्वोक्त समीप भिक्षा पानेकी असम्भावना होनेपर संयतेन्द्रिय और भिक्षावाक्य वर्ज्जनसें मौनी होकर ग्राम भिक्षा करे ; परन्तु अभिशापयुक्त महापातकादि युक्त गृहस्थोंको त्याग करे ॥१८५ ॥ ब्रह्मचारी दूरसे समिध काठ लाके खुले स्थानसें रक्खे और निरालसी होके सन्ध्या-सवेरे उस समिध-काष्ठसे अग्निमें होम करे ॥ १८६ ॥

अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥ भैक्षेण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती । भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥ व्रतवद्देव-दैवत्ये पित्र्ये कर्म्मण्यथर्षिवत् । काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥ ब्राह्मणस्यैव कर्म्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः । राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत् कर्म्म विधीयते ॥ १९० ॥ चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा । कुर्य्यादध्ययने यत्नमाचार्य्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥ शरीरञ्चैव वाचञ्च बुद्धी-न्द्रियमनांसि च । नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥ नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात् साध्वाचारः सुसंयतः । आस्यतामिति चोक्तः

ब्रह्मचारी यदि अनातुर अवस्थामें सात रात्रितक भिक्षाचरण तथा सन्ध्या-सवेरे समिधकाष्ठमें होम न करे, तो उसे अवकीर्णि प्रायश्चित्त करना होता है ॥ १८७ ॥ ब्रह्मचारीको प्रतिदिन भिक्षाटन करना योग्य है, एक गृहस्थके निकटसेही भिक्षा संग्रह न करना चाहिये; भिक्षान्नके सहारे ब्रह्मचारीकी जीविकाको ऋषियोंने उपवास-सदृश-पुण्यजनक कहा है ॥ १८८ ॥ ब्रह्मचारी लोग देव कर्म्ममें निमन्त्रित होनेपर मधुमांसादि रहित ब्रह्मचारीकी भांति और पितर कर्म्ममें नीवारादि ऋषियोंकी भांति अन्न ग्रहण कर सकते हैं। इससे उन्हें एकान्न सेवनका दोष नहीं होता है तथा भिक्षा व्रतकी हानि भी नहीं होती ॥ १८९ ॥ मन्वादि ऋषियोंने ब्राह्मण ब्रह्मचारीके विषयमें इसही भांति श्राद्धादिके समय एकान्न भोज-नकी विधि दी है। क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारियोंके विषयमें भिक्षाटन विहित है, परन्तु एकान्न सेवनकी विधि नहीं है ॥ १९० ॥ गुरुकी आज्ञा हो वा न होवे, ब्रह्मचारी प्रतिदिन वेद पढ़ने और गुरुके हितकार्य्योंमें सदा यत्नवान रहे ॥ १९१ ॥ प्रतिदिन शरीर, वाक्य, बुद्धि और मन संयम करके हाथ जोड़के गुरुके मुखकी ओर दृष्टि करके खड़ा होवे ॥ १९२ ॥ दुपट्टेसे दाहिना हाथ उठाकर प्रतिदिन उत्तम रीतिसे वस्त्र पहनकर

समासीताभिमुखं गुरोः ॥ १६३ ॥ हीनान्नवस्त्रवेशः स्यात् सर्व्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत् प्रथमञ्चास्य चरमञ्चैव संविशेत् ॥ १६४ ॥ प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् । नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन् न पराङ्मुखः ॥ १६५ ॥ आसीनस्य स्थितः कुर्य्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः। प्रत्युद्गम्य त्वव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १६६ ॥ पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्। प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १६७ ॥ नीचं शय्यासनञ्चास्य सर्व्वदा गुरुसन्निधौ। गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १६८ ॥ नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्। न चैवास्यानुकुर्व्वीत गति-

---

गुरुकी आज्ञा पानेसे उनके सामने बैठे ॥ १६३ ॥ सर्व्वदा गुरुके समीप गुरुसे घटके अन्न और वस्त्रधारी होना उचित है। जब गुरु उठे, तो उससे पहले, उठना और जब गुरु सोवे तो उनके पीछे शिष्यको सोना चाहिये ॥ १६४ ॥ सोते, बैठे, भोजन करते हुए, दूर खड़े रहके, और दूसरेकी ओर मुंह करके गुरुकी आज्ञा ग्रहण, वा उनसे वार्त्तालाप न करना चाहिये ॥१६५॥ यदि गुरु आसनपर बैठके आज्ञा करें, तो शिष्य उठके उसकी आज्ञा माने वा उनके सङ्ग बात करे। इसही भांति गुरुके उठकर आज्ञा करनेपर शिष्य उनकी ओर कई एक पद जाके, आगमनकी आज्ञा देनेपर प्रत्युद्गमन करके और जल्दी चलनेकी आज्ञा करनेपर शिष्य गुरुके पीछे पीछे दौड़ते हुए उसकी आज्ञा माने वा उससे वार्त्तालाप करे॥ १६६ ॥ गुरुके अनन्यमुखी रहनेपर सामने होकर। दूर रहनेपर समीप जाके और सोये तथा समीप रहनेपर सिर झुकाके उनकी आज्ञा माने और उनसे वार्त्तालाप करे ॥ १६७ ॥ गुरुके समीप शिष्यके आसन और शय्या सदा गुरुसे नीचे होना योग्य है; जहां गुरु देखता हो उस स्थानमें शिष्यको हाथ पांव फैलाकर न बैठना चाहिये ॥ १६८ ॥ गुरुके न रहनेपर भी उपाध्याय आचार्य्य आदि पदसे रहित केवल नाममात्र न लेना

भाषितचेष्टितम्॥ १९९॥ गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥ २००॥ परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः। परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥२०१॥ दूरस्थो नार्च्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः। यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत्॥ २०२॥ प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह। असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्त्तयेत्॥ २०३॥ गोऽश्वोष्ट्र-यानप्रासाद-प्रस्तरेषु कटेषु च। आसीत गुरुणा सार्द्धं शिलाफलकनौषु च॥ २०४॥ गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्। न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत्॥ २०५॥ विद्या-

---

चाहिये और उपहास बुद्धिसे गुरुके चलन और वचनादिका अनुकरण करना उचित नहीं है॥ १९९॥ जहां गुरुका परीवाद वा मिथ्या दोष सुने, वहां हाथोंसे दोनो कान मूदकर शिष्यको दूसरी ओर गमन करना योग्य है॥ २००॥ गुरुका परीवाद करनेसे गर्दभ और निन्दा करनेसे श्वान योनि प्राप्त होती है। अन्यायसे गुरुके द्रव्य उपभोग करनेसे कीड़े और गुरुका बड़न न सहसकनेवाले पुरुषको कीट होना पड़ता है॥ २०१॥ स्वयं न जाके अन्य किसीके सहारे माला चन्दन आदि देकर गुरुकी पूजा न करे क्रुद्ध होकर पूजा न करे तथा स्त्रियोंके समीप गुरुके रहनेपर उसकी पूजा न करे। शिष्य सवारीपर रहनेसे उतरके गुरुको प्रणाम करे॥ २०२॥ कदाचित् शरीरकी गन्ध वा वातका थूक शरीरमें लगे, इस लिये प्रतिवायु वा अनुवायु क्रमसे शिष्य कदापि गुरुके साथ न बटे अथवा गुरु सुनने न पावे,—ऐसा कुछ न कहे॥ २०३॥ शिष्य बैल, घोड़े और ऊंटकी सवारी, प्रासादकी भांति ऊंचे स्थान, प्रस्तरसे बने हुए प्राङ्गण, तृणके बने हुए बड़े आसन और नौकापर गुरुके साथ बैठ सकता है॥ २०४॥ गुरुका गुरु उपस्थित होवे, तो उसे गुरुकी भांति माने जिस समय शिष्य गुरुके गृहमें रहे, तो बिना गुरुकी आज्ञाके

गुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु । प्रतिषेधत्सु चाधर्म्मान् हितञ्चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥ श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् । गुरुपुत्त्रेषु चार्य्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥ बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्म्मणि अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥ उत्सादनञ्च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने । न कुर्य्याद्गुरुपुत्त्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥ गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः । असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥ अभ्यञ्जनं स्नापनञ्च गात्रोत्सादनमेव च । गुरुपत्न्या न कार्य्याणि केशानाञ्च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥ गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः । पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥ स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् । अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥

माता पिता प्रभृति अपने गुरुजनोंको प्रणाम न करे ॥ २०५ ॥ विद्यादाता, रक्तसम्बन्धी पिता आदि, अधर्म्मसे रोकनेवाले और हितोपदेशकोंसे गुरुकी भांति पूर्व्वोक्त रीतिसे व्यवहार करे ॥ २०६ ॥ विद्या और तपस्यामें श्रेष्ठ लोगों, अधिक अवस्थावालों, गुरुपुत्र, श्रेष्ठ ब्राह्मणों और गुरुके पिता आदि बान्धवोंको गुरु समान माने ॥ २०७ ॥ गुरुपुत्र छोटा हो, चाहे समान अवस्थाका हो अथवा यज्ञ विद्यादिमें शिष्यही होवे, यदि वह वेदका पढ़ानेवाला हो, तो उसका गुरुकी भांति सम्मान करना चाहिये। परन्तु गुरुकी भांति गुरुपुत्रका शरीर दाबना, स्नान कराना, पांव धोना और जूठा भोजन न करना चाहिये ॥ २०८ ॥ २०९ । गुरुकी सवर्णा स्त्रियां गुरुकी भांति पूजने योग्य हैं; परन्तु सवर्णा स्त्रियां केवल उठके प्रणामसेही सम्मानके योग्य हैं ॥ २१० ॥ गुरुपत्नीके शरीरमें तेल लगाना, स्नान कराना, देह मर्दन करना और उनका केश झाड़ना उचित नहीं है ॥ २११ ॥ गुण-दोषको जाननेवाला युवाशिष्य तरुणी गुरुस्त्रीका पांव छूके कदापि प्रणाम न करे ॥ २१२ ॥ इस लोकमें मनुष्योंको दूषित करनाही स्त्रियोंका

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः। प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥ मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥ कामन्तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि। विधिवद्वन्दनं कुर्य्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥२१६॥ विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहञ्चाभिवादनम्। गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्म्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥ यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्य्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥ मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः। नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत् सूर्य्यो नाभ्युदियात् क्वचित् ॥ २१९ ॥ तं

स्वभाव है इसलिये पण्डित लोग स्त्रियोंके विषयमें कदापि प्रमत्त वा असावधान नहीं होवे ॥ २१३ ॥ संसारमें देहधर्म्मके अनुसार सभी काम क्रोधके वशमें हैं। चाहे मूर्ख हो चाहे विद्वान् हो,—स्त्रियां सहजमेंही उसे कुमार्गगामी कर सकती हैं ॥ २१४ ॥ माता, बहिन और कन्या आदिके साथभी निर्ज्जन स्थानमें वास न करना चाहिये। क्योंकि इन्द्रियां इतनी बलवान हैं, कि वे ज्ञानवान् लोगोंके चित्तको भी आकर्षित किया करती हैं २१५ ॥ यदि इच्छा हो, तो युवाशिष्य युवती गुरुपत्नीका चरण न छूके विधिपूर्व्वक अपना नाम आदि सुनाके भूमिमें झुकके प्रणाम कर सकता है ॥ २१६ ॥ विदेशसे आनेपर शिष्टाचार स्मरण करके युवा शिष्य पहले दिन बूढ़ी गुरुपत्नीको चरण छूके प्रणाम करे। उसके बाद प्रतिदिन भूमिमें सिर टेकके उसे प्रणाम करना चाहिये ॥ २१७ ॥ जैसे खोदते खोदते मनुष्यको जल प्राप्त होता है, वैसेही सेवा करते करते गुरुकी सब विद्या धीरे धीरे शिष्यको मिलती है ॥ २१८ ॥ केश रहित सिर, जटाधारी वा शिखाधारी,—चाहे किसी प्रकारके ब्रह्मचारी क्यों न हों, सूर्य्यके अस्त और उदय होनेके समय गांवमें न दीखें, अर्थात् सूर्य्यास्त और उदयके समय बनमें जाके अग्नि-

चेदभ्युदियात् सूर्य्यः शयानं कामचारतः । निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥ सूर्य्येण ह्यभिनिर्म्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः । प्रायश्चित्तमकुर्व्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥ आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः । शुचौ देशे जपन् जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥ यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित् समाचरेत् । तत् सर्व्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥ धर्म्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म्म एव च । अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥ आचार्य्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः

होकर सन्ध्या आदि करें ॥ २१९ ॥ यदि ब्रह्मचारी स्वेच्छापूर्व्वक सोता रहे और सूर्य्य उदय हो जाय वा अज्ञानसे सोते रहनेपर सूर्य्य अस्त होय, तो इस पापके छुड़ानेके लिये उसे दिनभर उपवासी रहके गायत्री जप करना होगा ॥ २२० ॥ जिसके सोते रहनेपर सूर्य्य उदय वा अस्त होता है, वह यदि उक्त प्रायश्चित्त न करे तो महा पापग्रस्त होता है ॥ २२१ ॥ इसलिये सूर्य्यके उदय अस्त दोनो सन्धिकालमें आचमनकर सावधान होके पवित्र स्थानमें एकाग्र चित्तसे विधि पूर्व्वक गायत्री जप करते हुए उपासना करे ॥ २२२ ॥ यदि स्त्री वा शूद्रादि भी कुछ कल्याणके अनुष्ठानका उपदेश करें, तो ब्रह्मचारी सावधान होके उसे करे अथवा शास्त्रके अनुकूल मनकी रुचि अनुसार कार्य्य करे ॥ २२३ ॥ कोई कोई आचार्य्य धर्म्म और अर्थको परम कल्याणकारी निश्चय करते हैं, कोई अर्थ और कामनासिद्धिको परम कल्याणदायक कहते हैं; कोई अकेले धर्म्मकोही त्रिवर्ग साधनका मूल कहा करते हैं; दूसरे अर्थकोही इस लोकमें एकमात्र कल्याणकारी कहते हैं। परन्तु धर्म्म, अर्थ और काम, ये तीनोंही परम पुरुषार्थ तथा कल्याणदायक हैं,— ऐसाही निश्चय है ॥ २२४ ॥ विद्या दाता आचार्य्य साक्षात् ब्रह्मकी मूर्त्ति है। जन्मदाता पिता ब्रह्मा, और गर्भधारिणी माता साक्षात पृथ्वीकी

प्रजापतेः । माता पृथिव्या मूर्त्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्त्तिरात्मनः ॥ २२५ ॥ आचार्य्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्व्वजः । नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥ यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् । न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥ तयोर्नित्यं प्रियं कुर्य्यादाचार्य्यस्य च सर्व्वदा । तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्व्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥ तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते । न तैरभ्यननुज्ञातो धर्म्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥ त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः । त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥ पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः । गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥ त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीन् लोकान् विजयेद्गृही । दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते ॥ २३२ ॥ इमं लोकं

मूर्त्ति है । इसलिये आचार्य्य, पिता माता और भाइयोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर इनमेंसे किसीकी विशेष करके ब्राह्मणकी किसी भांति अवमानना करना उचित नहीं है॥ २२५ ॥ २२६ ॥ सन्तानके जन्म समयमें माता पिता जो क्लेश सहते हैं पुत्र एक सौवर्षमें भी उसका पलटा नहीं चुका सकता ॥ २२७ ॥ प्रतिदिन पिता-माताका प्रियकार्य्य करे । आचार्य्यको भी सर्व्वदा प्रसन्न रक्खे ; इन तीनोंके सन्तुष्ट रहनेसे सब तपस्या पूर्ण होती है ॥२२८॥ इन तीनोंकी सेवाकोही पण्डित लोग परम तपस्या कहते हैं ; इनकी सम्मतिके बिना कोई भी धर्म्माचरण न करना चाहिये ॥ २२९ ॥ ये तीनजन त्रिलोकप्राप्तिके हेतु हैं, ये तीनोंही तीनो आश्रमोंकी प्राप्तिके कारण हैं । ये तीनोंही तीनों वेद और त्रिअग्नि हैं । पिता गार्हपत्य, माता दक्षिणाग्नि और आचार्य आहवनीय अग्नि हैं । ये तीन अग्नि ही पृथ्वीके बीच श्रेष्ठ हैं ॥ २३० ॥ २३१ ॥ इन तीनोंके ऊपर प्रमाद प्रकाशित न करके जो गृहस्थ इनके विषयमें सर्व्वदा सावधान रहता है ; वह उसही कर्म्मके सहारे तीनोलोक जय करता है। वह स्वयं प्रकाशित

मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् । गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥ सर्व्वे तस्यादृता धर्म्मा यस्यैते त्रय आदृताः । अनादृतास्तु यस्यैते सर्व्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥ यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् । तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्य्यात् प्रियहिते रतः ॥२३५॥ तेषामनुपरोधेन पारतंत्र्य यद्‌यदाचरेत् । तत्तन्निवेदयेत् तेभ्यो मनोवचनकर्म्मभिः ॥ २३६ ॥ त्रिष्वेते ष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते । एष धर्म्मः परः साक्षादुपधर्म्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥ श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि । अन्त्यादपि परं धर्म्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥ विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् । अमित्रा-

---

होकर देवताओंकी भांति स्वर्गमें दिव्य आनन्द उपभोग करता है ॥ २३२॥ मातृभक्तिसे भूलोक, पिताकी भक्तिसे मध्यम अर्थात् अन्तरिक्ष लोक और गुरुभक्तिवशसे ब्रह्मलोक मिलता है ॥ २३३ ॥ जो लोग इन तीनोंका आदर करते हैं, वे धर्म्मका आदर कर चुके, और जो लोग इन तीनोंका अनादर करते हैं, उनके सब धर्म्म कर्म्म व्यर्थ हैं ॥ २३४ ॥ जबतक ये जीवित रहें, तबतक स्वतन्त्रतासे कोई धर्म्मकार्य्य न करना चाहिये; परन्तु प्रतिदिन इनका प्रियकार्य्य वा सेवा टहलही करना होगा ॥ २३५ ॥ इनकी सेवा आदिके अनुकूल परलोक कामनासे मन, वचन और कर्म्मसे जो कुछ धर्म्मकार्य्य करे, वह सब इन्हें निवेदन करना योग्य है ॥ २३६ ॥ इन तीनोंकी उक्त रीतिसे सेवा आदि करनेसे पुरुषके कर्त्तव्य कार्य्य शेष होते हैं। येही साक्षात् परम धर्म्म हैं। इसके सिवाय अग्निहोत्रादि दूसरे जो कुछ धर्म्म हैं, वे सभी उपधर्म्म कहाते हैं ॥ २३७ ॥ श्रद्धायुक्त होकर साधारण लोगोंसे भी कल्याणदायिनी विद्या सीखे, अत्यन्त अन्त्यज चाण्डाल आदिसे भी परम धर्म्म सीख ले और स्त्रीरत्न कलंकित कुलमें उत्पन्न होनेपर भी ग्रहण करे ॥ २३८ ॥ विषसे भी अमृत निकाल ले, बालककी भी माङ्गलिक बात माने, शत्रुमें भी यदि सदनुष्ठान

दपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥ स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्म्मः शौचं सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्व्वतः ॥ २४० ॥ अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥ नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्। ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥ यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले। युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥ आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्। स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ २४४ ॥ न पूर्व्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्व्वीत धर्म्मवित्। स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्व्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥ क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानह-

---

रहे, तो उसका अनुकरण करे और अपवित्र स्थानमें भी सुवर्णादि मूल्यवान् द्रव्य ले लेवे ॥ २३९ ॥ स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म्म, पवित्रता, हितवाक्य और विविध शिल्पकार्य्य सबसे लेवे वा सीखे ॥ २४० ॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी आपत्कालमें अब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मणसे नीचेवाले वर्णोंके निकट पढ़ सकता है और जबतक पढ़े, तबतक पैर धोने तथा जूठा भोजन करनेके सिवाय अनुगमनादिसे उसकी सेवा करे ॥ २४१ ॥ जो लोग उत्तम गति वा मोक्षलाभकी इच्छा करें, वे ब्रह्मचारी भावसे अब्राह्मण गुरु अथवा अध्यापन आचारादि रहित ब्राह्मण गुरुके गृहमें जीवनपर्य्यन्त निवास न करें ॥ २४२ ॥ जो नष्ठिक ब्रह्मचारी जीवनपर्य्यन्त गुरु-गृहमें वास करनेकी इच्छा करें, उन्हें गुरुगृहमें वास करते हुए देह छुटनेतक गुरुसेवा आदि करना योग्य है ॥ २४३ ॥ शरीर छूटनेतक जो लोग इसही भांति गुरुसेवा करते हैं, वे सहजमेंही शाश्वत ब्रह्मधाममें जाते हैं ॥ २४४ ॥ धर्म्म जाननेवाला शिष्य गुरु गृहसे लौटनेके पहले कुछ भी धन गुरु दक्षिणामें न दे, परन्तु जब गुरुकी आज्ञानुसार व्रत समाप्त करके स्नान करे; तो गुरुको सामर्थ्य अनुसार दक्षिणा देवे। उस समय

मासनम् । धान्यं शाकञ्च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥ आचार्य्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते । गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥ एतेष्वविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान् । प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥ एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्य्यमविप्लुतः । स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेह जायते पुनः ॥२४६ ॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् । तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥ वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।

खेत सुवर्ण आदि, गौ, घोड़े, छत्र, जूता, आसन, धान्य, शाक और वस्त्रादिसे गुरुको प्रसन्न करे ॥ २४५ । आचार्य्यकी मृत्यु होनेपर गुणवान् गुरुपुत्र, गुरुपत्नी और गुरुके सपिण्ड लोगोंकी नैष्ठिक ब्रह्मचारी सेवा करे ; गुरुके न रहनेपर उसके आसनस्थानीय होके सायं समिध होमके सहारे अग्निसेवा करते हुए जीवन बितावे ॥ २४७ ॥ २४८ ॥ इसही भांति अस्खलित नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य करनेवाला ब्राह्मण उत्तम स्थान पाता है और फिर उसे जन्म लेना नहीं पड़ता ॥ २४६ ॥

२ अध्याय समाप्त ।

अथ तृतीय अध्यायः ।

ब्रह्मचारी गुरु-गृहमें छत्तीस, अठारह, नव अथवा जितने समयतक तीनो वेदोंका सारा अर्थ न जान लेवे, उतने दिनतक ब्रह्मचर्य्य व्रताचरण करते हुए गुरु-गृहमें रहे ॥ १ ॥ अथवा निजशाखा पढ़नेके अनन्तर

अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥ तं प्रतीतं स्वधर्म्मेण ब्रह्म-दायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥ ३ ॥ गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणा-न्विताम् ॥ ४ ॥ असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीना दारकर्म्मणि मैथुने ॥ ५ ॥ महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजावि-धन-धान्यतः। स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्ज्जयेत् ॥ ६ ॥ हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारि-श्वित्रि-कुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥ नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ८ ॥ नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्व्वत-

---

वेदकी तीन, दो वा एक शाखासमूहको क्रमसे पढ़के अस्खलित ब्रह्मचर्य्य अवस्थामें गृहाश्रममें प्रवेश करे ॥ २ ॥ ब्रह्मचर्य्यसे विख्यात, पिता वा आचार्य्यके समीप वेद पढ़े हुए, गृहस्थाश्रममें प्रवेशकी इच्छा करनेवाले आसनपर बैठे हुए मालाधारी पुरुषको विवाहके पहले गौ मधुपर्कके सहारे पूजा करे ॥ ३ ॥ गुरुकी आज्ञा लेकर व्रत स्नान समाप्तिके अनन्तर द्विजलक्षणयुक्त सवर्णा स्त्रीसे विवाह करे ॥ ४ ॥ जो स्त्रियां माताकी असपिण्ड अर्थात् सात पीढ़ीतक मातामह आदि वंशमें न जन्मी हों तथा पितामहकी चौदह पीढ़ीतक सगोत्रा न हों और पिताकी सगोत्रा वा सपिण्ड न रहे,—ऐसी स्त्रीही विवाहकर्म्म वा सुरत कार्य्यमें श्रेष्ठ हैं ॥ ५ ॥ जातकर्म्मादि संस्कारसे रहित कन्यामात्र उत्पन्न होनेवाले कुलको, वेदाध्ययन रहित अधिक लोमयुक्त, अर्श, राजयक्ष्मा, अपस्मार, श्वित्र, और कुष्ठ रोगसे आक्रान्त,—इन दश कुलोंमें विवाह सम्बन्ध न करे ॥ ७ ॥ पिङ्गल केशवाली, छः अंगुलीयुक्त सदारोगी, रोम रहित अथवा अधिक रोएंवाली अत्यन्त बकबक करनेवाली और पीले नेत्रवाली कन्यासे विवाह न करे ॥ ८ ॥ नक्षत्र, वृक्ष, नदी, म्लेच्छ, पर्व्वत, पक्षी, सर्प और सेवासूचक

नामिकाम्। न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं नच भीषणनामिकाम्॥ ९॥ अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्। तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥ १०॥ यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्म्मशङ्कया॥ ११॥ सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्म्मणि। कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥ १२॥ शूद्रैव भार्य्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते। ते च स्वा चैव राज्ञः स्युस्ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥१३॥ न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः। कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्य्योपदिश्यते॥ १४॥ हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः। कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥ १५॥ शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च। शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तद-

---

दासी आदि नाम बोधक जिस कन्याके नाम हों, उससे तथा अत्यन्त भयानक नामवाली कन्यासे विवाह न करे॥ ९॥ जिसके कोई अङ्ग टेढ़े न हों, जिसका नाम सुखसे कहा जाय, हंस और हाथीकी भांति जिसकी चाल हो, जिसके रोएंके केश और दांत अधिक स्थूल न हों,— ऐसे कोमल अङ्गवाली कन्यासे विवाह करे॥ १०॥ जिस कन्याके भाई न हो, जिसके पिताका वृत्तान्त न मालूम हो, बुद्धिमान लोग उस पुत्रिका न्याको जारज वा मद्यपसे उत्पन्न होनेकी शङ्कासे विवाह न करें॥ ११॥ द्विजा-तियोंके प्रथम विवाहमें सवर्णा स्त्रीही श्रेष्ठ है; स्वेच्छापूर्वक पुनर्वि॰ वाहमें क्रमसे निम्नलिखी स्त्रियांही श्रेष्ठ होती हैं॥ १२॥ शूद्रको केवल शूद्राही भार्य्या होगी, वैश्यकी शूद्रा और वैश्या; क्षत्रियकी शूद्रा, वैश्या और क्षत्रिया और ब्राह्मणकी शूद्रा, वैश्या, क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी विवाहके योग्य है॥ १३॥ इतिहासादि किसी वृत्तान्तमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंको विपतकालमें भी शूद्राको व्याहनेकी कथा नहीं है॥ १४॥ द्विजातिगण यदि मोहवश नीच जातिकी स्त्रियोंसे विवाह करें, तो वे पुत्र पौत्रादिकोंके

पत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥ शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् । जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥ दैवपित्र्यातिथेयानि तत्-प्रधानानि यस्य तु । नाश्नन्ति पितृदेवास्तं नच स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥ वृषलीफेनपीतस्य निश्वासोपहतस्य च । तस्याञ्चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥ चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् । अष्टा-विमान् समासेन स्त्रीविवाहान् निबोधत ॥ २० ॥ ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः । गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥ यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ । तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि

साथ वंशसहित शीघ्रही शूद्रत्वको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥ अत्रि और उतथ्य अर्थात् गौतम महर्षिके वचन अनुसार शूद्रा स्त्रीको व्याहनेसे ब्राह्मणादि पतित होते हैं । शौनक मुनिके मतमें शूद्रासे पुत्र उत्पन्न करनेपर पतित होना होता है और भृगुके मतमें शूद्रासे उत्पन्न सन्तानकी सन्तान होनेपर पतित होना पड़ता है ॥ १६ ॥ शूद्रा स्त्री गमन करनेसे ब्राह्मणकी नीचगति होती और उसमें पुत्र उत्पन्न करनेसे ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व नष्ट होता है ॥ १७ ॥ जिस द्विजके देव, पितर और अतिथि कार्य्यमें शूद्रा गृहिणी रूपी होके सम्मिलित होती है उसका हव्य कव्य देवता और पितर लोग ग्रहण नहीं करते और उस गृहस्थको वैसे आतिथ्य द्वारा स्वर्गलोक भी नहीं मिलता ॥ १८ ॥ शूद्रा स्त्रीके अधररस पीने-वाले, उसका स्वास ग्रहण करनेवाले और उस शूद्रामें पुत्र उपन्न करने वाले द्विजोंकी निष्कृति नहीं है ॥ १९ ॥ अब चारोंवर्णोंके इसलोक और परलोकके हिताहितजनक, स्त्रीप्राप्तिके उपाय रूपी आठ भांतिके विवाह-कर्म्म संक्षेपमें कहते हैं; सुनिये ॥ २० ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर; गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये आठ प्रकारके विवाह हैं ॥ २१ ॥ जिस वर्णके जो विवाह धर्म्म हैं और जिस विवाहमें जो गुणदोष उत्पन्न

प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥ षड़ानुपूर्व्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् । विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान् ॥ २३ ॥ चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः । राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥ पञ्चानान्तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह । पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥ पृथक् पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्व्वचोदितौ । गान्धर्व्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥ आच्छाद्य चार्च्चयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम् । आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्म्मः प्रकीर्त्तितः ॥२७॥

होते हैं, वह सब कहता हूं ॥ २२ ॥ ब्राह्मणके लिये ऊपर कहे हुए छः विवाह, क्षत्रियके चार और वैश्य तथा शूद्रके पक्षमें राक्षसके सिवाय इन कई एक विवाह अर्थात् आसुर, गान्धर्व्व और पैशाच विवाहका निषेध नहीं है ॥ २३ ॥ उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाले होनेसे पहले चार प्रकारके व्याह अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य,—ब्राह्मणके लिये प्रशस्त वा प्रथम कल्प हैं। क्षत्रियके पक्षमें केवल राक्षस विवाह और वैश्य शूद्रके पक्षमें आसुर विवाहही श्रेष्ठ है॥ २४ ॥ परन्तु इस शास्त्रमतसे प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व्व, राक्षस और पैशाच, इन पांच प्रकारके विवाहोंके बीच प्राजापत्य, गान्धर्व्व और राक्षससे ये तीन प्रकारके विवाह धर्म्मजनक हैं शेषके पैशाच और आसुर विवाह अधर्म्मजनक होनेसे करने योग्य नहीं हैं ॥ २५ ॥ पहिले कहे हुए गान्धर्व्व और राक्षस विवाह पृथक् भावसे हों, अथवा मिश्रित भावसेही होवें, क्षत्रियके पक्षमें दोनोंही धर्म्म जनक हैं। स्त्री पुरुषोंके परस्पर अनुराग होनेसे जो विवाह होता है उसे गान्धर्व्व और युद्धमें जीती हुई कन्याके साथ जो विवाह होता है, उसे राक्षस व्याह कहते हैं ॥ २६ ॥ कन्याको सम्मान पूर्व्वक मूल्यवान वस्त्र और आभूषणोंसे अलङ्कृत करके विद्या और सदाचार युक्त वरको स्वयं बुलाकर दान करनेको ब्राह्म विवाह

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म्म कुर्व्वते। अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्म्मं प्रचक्षते॥ २८॥ एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्म्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्म्मः स उच्यते॥ २९॥ सहोभौ चरतां धर्म्ममिति वाचानुभाष्य च। कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥ ३०॥ ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः। कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्या-दासुरो धर्म्म उच्यते॥ ३१॥ इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्व्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥ ३२॥ हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्। प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधि-रुच्यते॥ ३३॥ सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति। स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ ३४॥ अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं

कहते हैं॥ २७॥ ज्योतिष्टोमादि यज्ञके अनन्तर उस यज्ञकर्म्म करनेवाले पुरोहितको अलंकृत कन्यादान करनेको दैव विवाह कहते हैं॥ २८॥ यज्ञ आदि अवश्य करने योग्य धर्म्मके लिये वरसे एक वा दो जोड़े गौ बैल लेके उसे विधिपूर्व्वक कन्या दान की जाती हैं,—वह आर्ष विवाह कहाता है॥ २९॥ "तुम दोनो गार्हस्थ्य धर्म्माचरण करो" इस अनुरोधसे विधि पूर्व्वक आभूषण आदिसे पूजित कर वरको जो कन्यादान करते हैं, वह आर्ष विवाह कहाता है॥ ३०॥ स्वेच्छापूर्व्वक कन्याके पिता वा कन्याको धन देकर जो कन्या ग्रहण की जाती है, उसे आसुर विवाह कहते हैं॥ ३१॥ कन्या और वर दोनोंकी परस्पर अनुरागसे जो मिलन होता है, उसे गान्धर्व्व विवाह कहते हैं॥ ३२॥ कन्या पक्षके लोगोंको मार, काट अथवा गृहभेद करके रोती चिल्लाती हुई कन्याको हरके जो विवाह होता है, उसे राक्षस विवाह कहते हैं॥ ३३॥ निद्रित, मद्यपानसे मतवाली, अथवा उन्मत्त कन्यागमन करनेको पैशाच विवाह कहते हैं। आठ प्रकारके विवाहोंमेंसे यही सबसे अधर्म्म है॥ ३४॥

विशिष्यते। इतरेषान्तु वर्णानामितरेतरकाम्यया॥ ३५॥ यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्त्तितो गुणः। सर्व्वं शृणुत तं विप्राः सम्यक् कीर्त्तयतो मम॥ ३६॥ दश पूर्व्वान् परान् वंश्यानात्मानञ्चैकविंशकम्। ब्राह्मीपुत्त्रः सुकृतकृन्मोचयत्येनसः पितॄन्॥ ३७॥ दैवोढ़ाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान्। आर्षोढ़ाजः सुतस्त्रींस्त्रीन् षट् षट् कायोढ़जः सुतः॥ ३८॥ ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्व्वशः। ब्रह्मवर्च्चस्विनः पुत्त्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥ ३९॥ रूप-सत्त्व-गुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः। पर्य्याप्तभोगा धर्म्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥ ४०॥ इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः। जायन्ते दुर्व्विवाहेषु ब्रह्मधर्म्मद्विषः सुताः॥ ४१॥ अनिन्दितैः स्त्रीविवाहै

जलदान पूर्व्वक कन्यादान ही ब्राह्मणके लिये श्रेष्ठ है। परन्तु क्षत्री तथा अन्य वर्णोंके पक्षमें परस्परकी इच्छानुसार केवल वचनसे ही कन्यादान होगा॥ ३५॥ हे विप्रगण! इन विवाहोंके बीच जिसके जैसे गुण मनुने कहे हैं वह सब पूरी रीतिसे कहता हूं, सुनो॥ ३६॥ ब्राह्मविवाहसे जो सन्तान होती है, सुकृतिमान होनेसे इसके सहारे दस पुरुखा पहलेके और दस पीछेके और आत्मा,—ये इक्कीस पुरुष पापसे छूटते हैं॥ ३७॥ दैव विवाहसे उत्पन्न हुआ, सन्तान सात पहलेके, सात पीछेके और अपना उद्धार करता है। आर्ष विवाहसे उत्पन्न हुआ पुत्र पहलेकी तीन पीढ़ी और नीचेकी तीन पीढ़ी तथा अपना उद्धार करता है। प्राजापत्य विवाहसे उत्पन्न पुत्र पितादि छः और पुत्रादि छः पुरुषों तथा अपना उद्धार करता है॥ ३८॥ क्रम अनुसार ब्राह्म आदि चार विवाहसे जो पुत्र जन्मते हैं वे ब्रह्म तेजयुक्त और साधु सम्मत होते हैं॥ ३९॥ वे लोग सुन्दर, सतो गुणप्रधान, धनवान, यशस्वी, मितभोग्यवान् और धार्म्मिक होते हैं तथा एक सौ वर्षतक जीवित रहते हैं॥ ४०॥ और शेषके चार साधारण विवाहसे उपन्न पुत्र क्रूर कर्म्म करनेवाले मिथ्या बोलने

रनिन्द्या भवति प्रजा। निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥ पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते। असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्म्मणि ॥ ४३ ॥ शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया। वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥ ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा। पर्व्ववर्ज्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥ ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोड़श स्मृताः। चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥ तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या। त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥४७॥ युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु

वाले धर्म्म और वेदके द्वेषी होते हैं ॥ ४१ ॥ अनिन्दिता स्त्रीसे विवाह करनेसे अनिन्दित सन्तान जन्मती है और निन्दित विवाहसे मनुष्योंके निन्दित सन्तान होतो हैं। इस लिये निन्दित विवाह न करे ॥ ४२ ॥ शास्त्रमें सवर्ण स्त्रीके पाणिग्रहण की ही व्यवस्था है। असवर्ण स्त्रीके विवाह कालमें पाणिग्रहणके बदले नीचे लिखी विधि ही श्रेष्ठ है ॥ ४३ ॥ जब क्षत्रिया ब्राह्मणसे विवाह करनेके समय पाणिग्रहणके समयमें, हाथका वाण ग्रहण करे, ब्राह्मण और क्षत्रियके सङ्ग वैश्याका विवाह होनेके समय वैश्या उनके हाथमें स्थित गौचरानेकी लाठी ग्रहण करे और शूद्राकी विवाह करनेपर शूद्रा ब्राह्मणादिके पहरे हुए वस्त्रकी दशी ग्रहण करे ॥ ४४ ॥ ऋतुकालमें अवश्य स्त्रीगमन करे, यद्यपि ऋतुकालके सिवाय अन्यकालमें भी स्त्रीकी तृप्तिके लिये स्त्रीसम्भोग करे परन्तु ऋतुकाल तथा अन्य समयमें अमावस्या आदि पर्व्वदिन वर्ज्जित है ॥ ४५ ॥ शिष्टोंसे निन्दित प्रथम चारदिन रातसे लेकर ऋतुकालकी स्वाभाविक अवस्था सोलह दिनरात्रि जानो ॥ ४६ ॥ उसमेंसे पहली चार रात्रि और ग्यारहवी,—ये छहोरों रात्रि निषिद्ध हैं। शेष दस रात्रि स्त्रीगमनमें श्रेष्ठ हैं ॥ ७ ॥ युग्म रात्रिमें स्त्रीगमन करनेसे पुत्र, अयुग्म रात्रिमें कन्या उत्पन्न होती है,

रात्रिषु। तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥ पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः। समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्य्ययः ॥ ४९ ॥ निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्ज्जयन्। ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥ न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि। गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥५१ ॥ स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः। नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥ ५२ ॥ आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।

इसलिये पुत्रकी कामनावाला पुरुष ऋतुकालमें युग्म रात्रिमें ही स्त्रीगमन करे ॥ ४८ ॥ अयुग्म रात्रि होनेपर भी पुरुषके वीर्य्यकी अधिकतासे पुत्र और स्त्रीके रजकी अधिकतासे कन्या उत्पन्न होती है और दोनोंके वीर्य्यकी समानता होनेपर क्लीव अथवा यमज पुत्र-कन्याही उत्पन्न होते हैं, यदि दोनोंके वीर्य्य असार वा अल्प हों, तो गर्भ नहीं होता ॥ ४९ ॥ जो लोग ऊपर कही हुई निन्दित छः रात्रि और अनिन्दित दस रात्रिको बीच जो कोई अष्ट रात्रि हों, उन षोडश रात्रिमें स्त्रीसंसर्ग न करके शेषके पर्ववर्ज्जित दो रात्रिमें स्त्रीगमन नहीं करता है, वह चाहे कोई आश्रमवासी क्यों न होवे, ब्रह्मचारी ही बना रहता है, उसके ब्रह्मचर्य्यकी कुछ हानि नहीं होती ॥ ५० ॥ धन ग्रहणके दोष जाननेवाला पिता कन्यादानके लिये थोड़ाभी शुल्कन लेवे ; लोभसे शुल्क लेनेपर अपत्य बेचनेवाला होना होता है। और गऊवध और, सन्तान विक्रय दोनो तुल्य पाप है ॥ ५१ ॥ जो पिता प्रभृति बन्धु-बान्धव मोहके वशमें होकर कन्या वा भगिनीके स्त्रीधन अथवा उनके दासी सवारी तथा वस्त्रादि उपभोग करते हैं। उन पापवद्धियोंकी अधोगति होती है ॥ ५२ ॥ आर्ष विवाहमें गऊ-बैल (गोमिथुन) वरसे लिया जाता है,—कोई कोई कहते हैं, यह शुल्क है ; परन्तु थोड़ा हो चाहे अधिक हो, कन्याके बदले जो कुछ

अल्पोऽप्येवं महान् वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥ यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः । अर्हणं तत् कुमारीणामानृशंस्यञ्च केवलम् ॥ ५४ पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा । पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याण-मीप्सुभिः ॥ ५५ ॥ यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥ शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम् । न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्व्वदा ॥५७॥ जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः । तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥ तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः । भूतिकामैर्नरै-र्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥ सन्तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या

लिया जाता है, उससेही बेंचना सिद्ध होता है ॥ ५३ ॥ तब वर-पक्षवाले प्रसन्नतासे जो कुछ कन्याको दें,—और कन्याके सिवा यदि कन्याके पिता आदि उस धनको न लें, तो उसे बेंचना नहीं कहते ; क्योंकि ऐसा धन कुमारियोंपर दया करके पूजा उपहारमें दिया जाता है ॥ ५४ ॥ अधिक कल्याणकी इच्छा करनेवाले पिता, माता पति और देवरको उचित है, कि स्त्रियोंको मान आदरके सहित भोजन वस्त्र और आभूषणसे सदा भूषित करें ॥ ५५ ॥ जिस कुलमें स्त्रियोंका सत्कार होता है, वहां देवता प्रसन्न रहते हैं। और जिस कुलमें स्त्रियोंका आदर नहीं होता, वहां सब क्रिया-कर्म्म निष्फल होते हैं ॥ ५६ ॥ जिस कुलमें स्त्रियां शोक-सन्ताप करती हैं, वह कुल शीघ्रही नष्ट हो जाता है ; जहां स्त्रियोंको कुछ दुःख नहीं रहता, उस कुटुम्बकी सदा श्री बढ़ती है ॥ ५७ ॥ स्त्रियां असत्कृत (आदर रहित) होनेपर जिस गृहको अभिशाप करती हैं, उस कुलका अभिचार द्वारा नष्ट होनेकी भांति सब प्रकारसे नाश हो जाता है । ५८ ॥ इसलिये जो लोग श्रीवृद्धिकी इच्छा करें, वे विविध सत्कारके समय भोजन वस्त्र तथा गहना आदिसे स्त्रियोंका सत्कार कर ॥

तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥ यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ ६१ ॥ स्त्रियान्तु रोचमानायां सर्व्वं तद्रोचते कुलम्। तस्यान्त्वरोचमानायां सर्व्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥ कुविवाहैः क्रियालोपैर्व्वेदानध्ययनेन च। कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥ शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः। गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥ अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्म्मणाम्। कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥ ६५ ॥ मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि। कुलसङ्ख्याञ्च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ ६६ ॥ वैवाहिकेऽग्नौ कुर्व्वीत

---

५६ ॥ जिस कुलमें पतिसे भार्य्या और भार्य्यासे पति सदा सन्तुष्ट रहता है, उस कुलमें निश्चय ही कल्याण होता है ॥ ६० ॥ वस्त्र आभूषणोंसे विना भूषित हुए स्त्री स्वामीको प्रसन्न नहीं कर सकती और पतिको प्रसन्न न कर सकनेसे सन्तानोत्पत्ति नहीं होती ॥ ६१ ॥ यदि स्त्री भूषणादिसे मनोहर भावसे सज्जित रहे, तो सब घरही सुन्दर लगता है, और यदि स्त्री रुचिकर नहीं होती तो सब गृह ही शोभारहित हो जाता है ॥ ६२ ॥ कुविवाह, श्राद्धादि कार्य्य न करने, वेदादि शास्त्रोंके न पढ़ने और ब्राह्मणोंका अनादर करनेसे श्रेष्ठकुल भी निकृष्ट होजाते हैं ॥ ६३ ॥ वस्त्र बुनना आदि शिल्पकार्य्य, व्याजके लालचसे धन लगाने, केवल शूद्रास्त्रीके गर्भसे सन्तान उत्पन्न करने, गधे, घोड़े सवारी आदि बेचने खरीदने, कृषि, राजसेवा; अयाज्य लोगोंके यज्ञ कराने वेद और स्मार्त्त कर्म्मोंमें नास्तिक बुद्धि तथा मन्त्ररहित होनेपर शीघ्रही कुल निकृष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ वेदके सहारे बढ़ा हुआ कुल अल्प धनयुक्त होनेपर भी कुलकी गिनतीमें श्रेष्ठ माना जाता और बड़ाई पाता है ॥ ६६ ॥ वैवाहिक अग्निमें गृहस्थ विधिपूर्व्वक अष्टकादि गृहकार्य्योंको

गृह्यं कर्म्म यथाविधि। पञ्चयज्ञविधानञ्च पक्तिञ्चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥ पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥ तासां क्रमेण सर्व्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः। पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥ पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः। स गृहेऽपि वसन् नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥ देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः। न निर्व्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न स जीवति ॥ ७२ ॥ अहुतञ्च हुतञ्चैव तथा प्रहुतमेव च। ब्राह्म्यं हुतं प्राशितञ्च पञ्च यज्ञान् प्रचक्षते ॥ ७३ ॥ जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः। ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्च्चा

पूर्ण करे, पञ्चमहायज्ञ करे तथा प्रतिदिन पाककर्म्म पूरा करे ॥ ६७ ॥ गृहस्थोंके यहां प्राणिवधके पांच स्थान हैं। जैसे चूल्हा, चक्की, ऊखल, जलके कलश और घर बुहारनेके समय जीवहिंसा होती है ॥ ६८ ॥ उन चूल्हे चक्की आदि वधस्थानोंसे जो पाप होता है, उससे छुटकारा पानेके लिये महर्षियोंने प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञोंका विधान किया है ॥ ६९ ॥ पढ़ना पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ, अन्नजल आदिसे पितरोंका तर्पण करना पितृयज्ञ, होमका नाम देवयज्ञ पशुपक्षि आदिको अन्न प्रभृति देना भूतयज्ञ और अतिथिसेवाको मनुष्ययज्ञ कहते हैं। ७० ॥ सामर्थ रहते जो गृहस्थ इन पञ्चमहायज्ञोंको एक दिन भी नहीं त्यागता, वह सदा गृहस्थीमें बसनेपर भी पञ्चसूना पापसे लिप्त नहीं होता ॥ ७१ ॥ देवता, अतिथि पालन करने योग्य प्राणी, पितर और आत्मा, इन पांचोंको जो पुरुष उक्त पञ्चयज्ञोंसे अन्नादि नहीं देता वह सांस प्रश्वासयुक्त होनेपर भी जीवित नहीं है ॥ ७२ ॥ कोई कोई ऋषि इन पञ्चमहायज्ञोंके अहुत हुत प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित नाम कहते हैं ॥ ७३ ॥ ब्रह्मयज्ञ वा जपका

प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥ स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्म्मणि। दैवकर्म्मणि युक्तो हि बिभर्त्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥ यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व्वे आश्रमाः ॥ ७७ ॥ यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥ स संधार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखञ्चेहेच्छता नित्यं योऽधार्य्यो दुर्ब्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥ ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथय-

---

नाम अहुत, होमका नाम हुत, भूतयज्ञका नाम प्रहुत, ब्राह्मणोंकी पूजाको ब्राह्महुत और पितृतर्पणको प्राशित कहते हैं ॥ ७४ ॥ दरिद्रता आदि दोषोंके कारण अतिथि-सेवा प्रभृति न कर सकनेपरभी वेद पढ़ने और होम करनेमें सदा तत्पर रहे। जो लोग सदा दैवकर्म्ममें रत रहते हैं, वेही इस चराचर जगत् को धारण करते हैं ॥ ७५ ॥ अग्निमें आहुति देनेसे वह सूर्य्यदेवको पहुंचती है, वही रस सूर्य्यसे वृष्टिरूपी होकर गिरता है, वृष्टिसे अन्न होता और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है ॥ ७६ ॥ जैसे प्राणवायुके सहारे सब प्राणी जीवित हैं, वैसे ही गृहस्थके अवलम्बसे सब आश्रमवाले जीवन धारण करते हैं ॥ ७७ ॥ ब्रह्मचारी, वाणप्रस्थ और भिक्षुक, ये तीनों आश्रमी गृहस्थोंके द्वारा प्रति दिन विद्या और अन्नादिसे प्रतिपालित होते हैं। इसलिये गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ है ॥ ७८ ॥ जो लोग मरनेपर अक्षय सुख और जीते जी सुख भोगनेकी इच्छा करें, वे अत्यन्त यत्नसे गृहस्थधर्म्म प्रतिपालन करें। दुर्ब्बलेन्द्रिय होने अथवा इन्द्रियोंको वशमें न रख सकनेसे यह पवित्र गृहस्थाश्रम-धर्म्म प्रतिपालित नहीं होता ॥ ७९ ॥ ऋषि, पितर, देवता, भूतगण और अतिथि लोग गृहस्थोंकी ही प्रत्याशा करते हैं। इस लिये इनको

तथा। अग्नाहृते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्य्यं विजानता ॥ ८० ॥ स्वाध्यायेना-र्च्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि। पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलि-कर्म्मणा ॥ ८१ ॥ कुर्य्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा। पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥ एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके। न चैवात्राशयेत् कञ्चिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ ८३ ॥ वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्ये ऽग्नौ विधिपूर्व्वकम्। आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥ अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः। विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥ कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च। सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥ एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्व्वदिक्षु प्रदक्षिणम्। इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥

हेतु नीचे लिखे कार्यों को करना ही ज्ञानवान् गृहस्थोंको उचित है ॥ ८० ॥ स्वाध्यायपाठसे ऋषियों, होमसे देवताओं, श्राद्धसे पितरों, अन्नसे मनुष्यों और बलि दिये हुए अन्नादिसे पशु-पक्षी आदि जीवोंको विधिपूर्व्वक तृप्त करे ॥ ८१ ॥ अन्न, जल, फल, दूध वा मूलादिसे ही क्यों न होवे; पितरोंकी प्रीतिके लिये प्रतिदिन यथाशक्ति श्राद्ध करे ॥ ८२ ॥ पञ्चयज्ञोंके अन्तर्गत पितृयज्ञमें पितरोंकी तृप्तिके लिये एक ब्राह्मणको भी भोजन करावे। वैश्वदेवादि कार्यों में ब्राह्मणभोजनकी आवश्यकता नहीं है ॥ ८३ ॥ द्विज लोग प्रतिदिन संस्कारयुक्त अग्निमें वैश्वदेवके उद्देश्यसे पकाये हुए अन्नको निम्न लिखित देवताओंके लिये होम करें।—जैसे पहले अग्नि और सोमको अनन्तर समस्त अग्निषोमको; फिर विश्वेदेव, धन्व-न्तरि, कुहुर, अनुमति, प्रजापतिको, उसके अनन्तर एक साथ ही द्यावा पृथिवीको और सबके शेषमें स्विष्टकृत अग्निको आहुति देवे ॥८४॥८६॥ उक्त रीतिसे सावधान होकर प्रतिमाओंके लिये हविसे होम करके पूर्व्व आदि दिशा क्रमसे प्रदक्षिणा करते हुए सब ओर इन्द्र, यम, वरुण चन्द्रमा और इनके अनुचर देवताओंको बलि देवे ॥ ८७ ॥ अनन्तर मरुतके द्वारपर

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि । वनस्पतिभ्य इत्येवं मूषलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥ उच्छीर्षके श्रियै कुर्य्याद्भद्रकाल्यै च पादतः । ब्रह्मवास्तो-ष्पतिभ्यान्तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥ विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलि माकाश उत्क्षिपेत् । दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च ॥ ९० ॥ पृष्ठ-वास्तुनि कुर्व्वीत बलिं सर्व्वात्मभूतये । पितृभ्यो बलिशेषन्तु सर्व्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥ शुनाञ्च पतितानाञ्च श्वपचां पापरोगिणाम् । वायसानां कृमीणाञ्च शनकैर्निर्व्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥ एवं यः सर्व्वभूतानि ब्राह्मणो नित्य-मर्चति । स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्त्तिःपथर्ज्जुना ॥ ९३ ॥ कृत्वैतद्बलि-कर्म्मैवमतिथिं पूर्व्वमाशयेत् । भिक्षाञ्च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥९४॥

"मरुद्भ्योनमः," जलमें "अद्भ्योनमः," और मूषल वा उखलमें "वनस्पति-भ्योनमः"—कहके बलि देवे ॥ ८८ ॥ सिरके उत्तर-पूर्व्व और लक्ष्मीको पदस्थानमें भद्रकाली, गृहमें ब्रह्मा और वास्तुदेवताको बलि देवे ॥ ८९ ॥ विश्वेभ्यो नमः कहके सब देवताओं और दिनचारी रात्रिचारी प्राणियोंके उद्देश्यसे ऊपरको और आकाशमें बलि फेंके ॥ ९० ॥ शेषमें अपने पिछाड़ी पृथ्वीपर "सर्व्वात्मभूतयेनमः" कहके सब भूतोंको बलि दें और बलिके शेषमें दक्षिणमुख प्राचीनावीती होकर "स्वधापितृभ्यः" कहके पितरोंको बलि देवे ॥ ९१ ॥ अनन्तर कुत्ते, चाण्डाल, पतित, पापरोगी, कौवे और कीटादिकोंके लिये पात्रमें अन्न देकर धीरे धीरे इस प्रकार भूमिपर रखे, कि जिसमें वह अन्न धूलिमें न मिल जावे ॥ ९२ ॥ जो ब्राह्मण प्रति दिन इस ही प्रकार अन्न दान आदिसे सब भूतों (प्राणियों) का सत्कार (पूजा) करता है, वह प्रकाशमय शरीरधारी होकर सीधे मार्गसे परम स्थानको जाता है ॥ ९३ ॥ इस बलिकर्म्मके समाप्त होनेपर सबसे पहले अतिथिको भोजन करावे और भिक्षुक अथवा ब्रह्मचारीको विधिपूर्व्वक भीख देय ॥ ९४ ॥ गुरुको विधिपूर्व्वक गोदान करनेसे ब्रह्मचारीको जो

यत् पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः । तत् पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥ ९५ ॥ भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्व्वकम् । वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥ नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् । भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥ विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु । निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥ संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके । अन्नञ्चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्व्वकम् ॥ ९९ ॥ शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः । सर्व्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्च्चितो वसन् ॥ १०० ॥ तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे

पुण्य होता है, गृहस्थद्विज भिक्षुकको भीख देकर गृहस्थाश्रममें ही उसके तुल्य पुण्यवान् होता है ॥ ९५ ॥ चाहे भिक्षा हो, चाहे जलसे भरा पात्र ही होवे, वह विधिपूर्व्वक स्वस्तिवाचनादिके सहित वेदार्थ तत्त्वके जाननेवाले ब्राह्मणको देना चाहिये ॥ ९६ ॥ दान धर्म्मको न जाननेवाला जो दाता मोहके वशमें होकर पितरों और देवताओंके हव्य कव्य, वेदाध्ययन अथवा तपादि कर्म्मोंसे रहित निस्तेज ब्राह्मणको दान करता है, उसका वह सारा हव्य-कव्य निष्फल हो जाता है ॥ ९७ ॥ विद्या और तप-तेजयुक्त अग्निसदृश ब्राह्मण मुखमें हव्य-कव्यकी आहुति पड़ती है, उससे विविध सङ्कट और महत् पापोंसे भी उद्धार होता है ॥ ९८ ॥ गृहस्थको उचित है, कि आये हुए अतिथिका विधिपूर्व्वक सत्कार करके उसे आसन, पांव धोनेके लिये जल और अपनी शक्ति अनुसार अन्नादि देवे ॥ ९९ ॥ चाहे उञ्छवृत्तिजीवी हो अथवा प्रति दिन पञ्चाग्निमें होम करे, तौभी गृहपर आया हुआ ब्राह्मण अतिथि-सत्कार रहित होनेपर उसके पुण्यको हरके चल देता है। १०० ॥ अत्यन्त दरिद्र होनेपर भी अतिथिको सोनेके लिये तृण, बैठनेको भूमि

नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥ एकरात्रन्तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः । अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥ नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा । उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥ उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः । तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥ अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्य्योढ़ो गृहमेधिना । काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥ न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् । धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यञ्चातिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥ आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् । उत्तमेषूत्तमं कुर्य्याद्धीने हीनं समे समम् ॥१०७॥

पांव धोनेके लिये जल और मीठी वाणीका सज्जनोंके गृहमें कभी अभाव नहीं हो सकता ॥ १०१ ॥ एक रात्रिही पराये गृहमें बसनेसे ब्राह्मणको अतिथि कहा जाता है। "अनित्यस्थिति" इस व्युत्पत्तिसे अतिथि नाम वर्णित हुआ करता है। १०२ ॥ भार्य्या और अग्नि पास रहनेपर एक ही गांवका बसनेवाला अथवा विचित्र परिहास कहानी आदिसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मणको अतिथि नहीं कहा जाता ॥ १०३ ॥ पराये अन्नके भोजनका दोष न जानकर जो गृहस्थ अतिथि-सत्कारके लोभसे अन्य गांवोंमें घूमता है, वह उसही पापसे दूसरे जन्ममें अन्नदाताका पशु हुआ करता है ॥ १०४ ॥ सूर्य्यदेवके द्वारा आये हुए सन्ध्याके समय अतिथिको किसी प्रकार भी फिराना न चाहिये। यथा समयमें आवे, असमयमें ही आवे,—उस आये हुए अतिथिके कदापि भूखा न रखे ॥ १०५ ॥ जो वस्तु अतिथिको न खिला सके, वह अत्यन्त उत्तम होनेपर भी स्वयं भोजन न करे। अतिथिके प्रसन्न होनेपर गृहस्थको धन, यश, आयु और स्वर्गलोक मिलता है ॥ १०६ ॥ आसन, गृह, शय्या अतिथिके आनेपर उसे बैठने वा सोनेके लिये उसकी योग्यता अनुसार देवे। अर्थात् उत्तम अतिथिको उत्तमतासे हीनको हीन रीति और समानका सम-

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्। तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥ न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्। भोजनार्थं हि ते शंसन् वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥ न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते। वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥ यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्। भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥ वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ। भोजयेत् सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥ इतरानपि सख्यादीन् संप्रीत्या गृहमागतान्। प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत् सह भार्यया ॥ ११३ ॥ सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः। अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचा-

---

आदरसे सत्कार करे ॥१०७॥ वैश्वदेव कर्मसे अतिथिभोजन शेष होनेके बाद यदि और कोई अतिथि घरमें आवे, तो उसे भी शक्तिके अनुसार अन्न आदि पका देवे; परन्तु उसके लिये फिर वश्वदेवबलि न करे ॥१०८॥ भोजनके लिये ब्राह्मण कदापि अपना कुल गोत्र न कहे, भोजनके निमित्त जिसे अपने कुल-गोत्रकी प्रशंसा करनी होती है, पण्डित लोग उसे वमनभोजी कहके घृणा करते हैं ॥१०९॥ ब्राह्मणके घरमें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंको अतिथि नहीं कहा जाता। घरपर आये हुए बन्धु, स्वजन और गुरु भी अतिथि नहीं कहाते ॥११०॥ परन्तु यदि क्षत्रिय भी अतिथिरूपसे घरमें आवे, तो ब्राह्मण अतिथियोंको भोजन करानेपर उसे भी अच्छे प्रकार भोजन करावे वैश्य और शूद्र भी यदि ब्राह्मणके घर अतिथिरूपी होकर आवें, तो नौकरोंके साथ उन्हें भी खिलावे ॥१११॥११२॥ क्षत्रियादिके सिवाय यदि सखा, सहपाठी तथा कुटुम्बके लोग प्रीतिके कारण घरपर आवें तौभी शक्तिके अनुसार अन्नके पक्वान्न बनाकर निज भार्याके सहित उन्हें स्वयं भोजन करावे ॥११३॥ नवीन विवाहिता स्त्री, पतोहू वा पुत्री, बालक, रोगी और गर्भवती स्त्रीके

रयन् ॥ ११४ ॥ अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः । स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥ भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि । भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टन्तु दम्पती ॥ ११६ ॥ देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः । पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥ अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥ राजर्त्विक्स्नातकगुरून् प्रियश्वशुरमातुलान् । अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात् पुनः ॥ ११९ ॥ राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ । मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥ सायन्त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं

लिये कुछ विचार न करके अतिथिके पहले ही भोजन करावे । ११४ ॥ जो मूर्ख पुरुष उन्हें बिना खिलाये पहले स्वयं भोजन करता है, मरनेके अनन्तर उसका शरीर सियार और कुत्ते खाते हैं ॥ ११५ ॥ ब्राह्मणों, स्वजनों और सेवकोंको पहले खिलाके पीछे जो कुछ रहे, गृहस्थ पुरुष स्त्रीके सहित उसे भोजन करे ॥ ११६ ॥ देव-ऋषि, मनुष्य, पितर और गृह देवताकी अन्नादिसे पूजा करके गृहस्थ भोजन करे ॥ ११७ ॥ जो पुरुष अपने ही लिये अन्न पकाता है, वह केवल पाप भोजन करता है । यज्ञसे बचे हुए अन्नादि ही उत्तम लोगोंके खाने योग्य हैं ॥ ११८ ॥ राजा, पुरोहित, स्नातक, गुरु, दामाद श्वशुर और मामा सम्वत्सरके बाद घरपर आवें, तो गृहस्थको उचित है, कि गृह्योक्त मधुपर्कसे उनकी पूजा करे ॥ ११९ ॥ राजा और स्नातक ब्राह्मण यदि सम्वत्सरके बीच भी यज्ञकर्ममें आवे, तो मधुपर्कसे उनकी पूजा करनी होती है ; परन्तु यज्ञके सिवाय अन्य समयमें मधुपर्क देना नहीं पड़ता ॥ १२० ॥ पत्नी सन्ध्याके समय पकाये हुए अन्नसे बिना मन्त्रके ही देवताओंके उद्देश्यसे बलि देवे । क्योंकि वैश्वदेव बलि अन्नसे होती है ;—यह सन्ध्या और सवेरे करनी

बलिं हरेत्। वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥ पितृयज्ञन्तु निर्व्वर्त्य विप्रश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान्। पिण्डान्वाहार्य्यकं श्राद्धं कुर्य्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ॥ पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्य्यं विदुर्बुधाः। तच्चामिषेण कर्त्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः ॥ १२३ ॥ तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः। यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ॥ १२४ ॥ द्वौ दैवे पितृकार्य्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा। भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥ सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः। पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥१२६॥ प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये। तस्मिन् युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥१२७॥

योग्य है ॥ १२१ ॥ साग्निक द्विज अमावस्याको पिण्डपितृयज्ञ समाप्त करके "पिण्डान्वाहार्य्यक" नाम श्राद्ध करे ॥ १२२ ॥ पितरोंका महीने महीने जो श्राद्ध विहित है, उसे पण्डित लोग अन्वाहार्य्य श्राद्ध कहते हैं। यह श्राद्ध यत्नसहित विधिपूर्व्वक मांससे करना होता है ॥ १२३ ॥ हे द्विजोत्तमगण! इस श्राद्धमें जिन जिन ब्राह्मणोंको जिस प्रकार अन्नसे भोजन कराना होता है, मैं वह सब पूरी रीतिसे कहता हूं। १२४ ॥ देवकार्य्यमें दो और पितृकर्म्ममें तीन अथवा देवपक्षमें एक और पितृपक्षमें एक ब्राह्मणको भोजन कराना होता है। समृद्धिशाली होनेपर भी इससे अर्थात् अधिक ब्राह्मण भोजन करानेके लिये उद्योगी न होवे ॥२२५॥ ब्राह्मणोंकी बहुतायत होनेपर उनकी सेवामें देश,काल शुद्धाशुद्धि और पात्रा पात्र विचार,—इनपांचोंका कुछ नियम नहीं रहता। इस लिये ब्राह्मणोंकी अधिक संख्या करनेकी चेष्टा करना उचित नहीं है ॥ १२६ ॥ प्रति अमाव-स्यामें यह पित्र्यकर्म्म पितरोंके लिये उपकारक कहा गया है। जो लोग इस पित्र्यकार्य्यको करते हैं, उन्हें सदा धन धान्य आदि समृद्धि प्राप्त होती है ॥ १२७ ॥ दाताको उचित है, कि पूजनीय वेदपाठी ब्राह्मणको

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः। अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥ एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्। पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि ॥ १२९ ॥ दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्। तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥ सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते। एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्व्वानर्हति धर्म्मतः ॥ १३१ ॥ ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च। न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः ॥ १३२ ॥ यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्। तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥ १३३ ॥ ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठास्तथापरे। तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्म्म-

---

देव-पितृसम्बन्धीय हव्य-कव्य अन्नादि देवे। इसही भांति ब्राह्मणको दान करनेसे महाफल होता है ॥ १२८ ॥ द्विजोंको चाहिये कि देव और पितृकार्य्यमें एक एक वेद जाननेवाले ब्राह्मणको भोजन करावें इससे भी उन्हें श्रेष्ठफल मिलता है; परन्तु वेदहीन बहुतेरे ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे भी कुछ फल नहीं है ॥ १२९ ॥ वेद जाननेवाले ब्राह्मणको बहुत दूरसे भी खोजे, ऐसे ही वंशपरम्परासे पवित्र वेद जाननेवाले ब्राह्मण हव्यकव्य देनेके लिये तीर्थरूपी हैं। ऐसे ब्राह्मणको दान करनेसे अतिथिको दानकी भांति महाफल मिलता है ॥ १३० ॥ जहां वेद न जाननेवाले दश लाख ब्राह्मण भोजन करते हैं, उस श्राद्धमें यदि वेद जाननेवाला एक ब्राह्मण भी भोजनादिसे प्रसन्न होय, तो दश लाख ब्राह्मणोंके भोजनका फल धर्म्मानुसार उस एकही वेदज्ञ ब्राह्मणके भोजन करनेसे हुआ करता है ॥ १३१ ॥ ज्ञानमें श्रेष्ठ ब्राह्मणको ही हव्यकव्य देना उचित है, रुधिरपूरित हाथ लहूसे धोनेपर कदापि शुद्ध नहीं होता ॥ १३२ ॥ मूर्ख ब्राह्मण हव्यकव्यके जितने ग्रास खाता है, परलोकमें उसे उतने ही तपाये हुए लोहेके पिण्डोंका भोजन करना पड़ता है ॥ १३३ ॥ द्विजोंमें

निष्ठास्तथा परे ॥ १३४ ॥ ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः । हव्यानि तु यथान्यायं सर्व्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥ १३५ ॥ अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्त्रः स्याद्वेदपारगः । अश्रोत्रियो वा पुत्त्रः स्यात् पिता स्याद्वेदपारगः ॥१३६॥ ज्यायांसमनयोर्विद्यात् यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता । मन्त्रसंपूजनार्थन्तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥ न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्य्योऽस्य संग्रहः । नारिं न मित्रं यं विद्यात् तं श्राद्धे भोजयेद्द्विजम् ॥१३८॥ यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च । तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥१३९॥ यः सङ्गतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः । स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो

कोई आत्मज्ञानी, कोई तपस्वी, कोई तपस्या और अध्ययन करनेवाले और कितने ही केवल कर्म्मनिष्ठ हैं ॥ १३४ ॥ इनमेंसे आत्मज्ञान निष्ठ ब्राह्मणको ही पितरोंके उद्देश्यसे हव्य-कव्य देवे, परन्तु देवसम्बन्धीय हव्य इन चार प्रकारके ब्राह्मणोंको देना ही न्याययुक्त है ॥ १३५ ॥ जिसका पिता मूर्ख, परन्तु पुत्र वेद जाननेवाला है,—उन दोनोंमेंसे जिसका पिता वेदज्ञ है, यज्ञश्राद्धमें वही श्रेष्ठ पात्र है ; किन्तु वेदकी मर्य्यादाके हेतु अश्रोत्रिय पितृक वेदयज्ञ और सत्कारमें वेद जाननेवाले पिताका पुत्र विशिष्ट संस्कारयुक्त होनेसे ही पात्रत्वमें अधिक होता है ॥ १३६-१३७ ॥ श्राद्धमें मित्रता हेतुसे भोजन न करावे, धन वा अन्य प्रकारसे मित्रको मित्रता दिखानी योग्य है । परन्तु जो शत्रु, अथवा मित्र नहीं हैं, वैसे ब्राह्मणको ही भोजन कराना चाहिये ॥ १३८ ॥ जिसके श्राद्ध वा देवकार्य्यमें मित्र लोग ही भोजन करते हैं, उसके उस कार्य्यसे परलोकमें कुछ फल नहीं मिलता ॥ १३९ ॥ जो मनुष्य मोहके वशमें होकर श्राद्धसे मित्रता करना चाहते हैं, वे श्राद्धमित्र अधम ब्राह्मण कदापि स्वर्गलोक पानेके अधिकारी नहीं होते ॥ १४० ॥ द्विज लोग जो मित्रतासाधनकी लिये स्वजनोंको भोजन कराते हैं ऋषियोंने उसे पिशाच धर्म्म कहा है । एक ही गृहमें

द्विजाधमः ॥ १४० ॥ सम्भोजनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः। इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैक वेश्मनि ॥ १४१ ॥ यथेरिणे वीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्। तथाऽृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥ दातॄन् प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः। विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत् प्रेत्य चेह च ॥१४३ ॥ कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्। द्विषता हि हवि- र्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥१४४॥ यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम्। शाखान्तगमथाध्वर्य्युं छन्दोगन्तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥ एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः। पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥ एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्य-कव्ययोः। अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः

वन्धी हुई अन्धी गऊकी भांति ऐसे भोजन दानसे इस लोकमें ही मित्रादि संग्रहरूपी उपकार हुआ करता है। परन्तु उससे पितृलोकादि पार- लौकिक उपकार कुछ भी नहीं होता ॥ १४१ ॥ जैसे रेह (सज्जीमट्टी) वाली जमीनमें बीज बोनेसे कुछ लाभ नहीं होता, वैसे ही मूर्ख ब्राह्म- णको हविदान करके दाता कुछ भी फल नहीं पाता ॥ १४२ ॥ परन्तु विद्वान् ब्राह्मणको दक्षिणा देनेसे दाता और प्रतिग्रहीता दोनो इस लोक और परलोकमें फल भोगते हैं ॥१४३॥ श्राद्धमें बल्कि स्थलविशेषमें मित्रको भोजन करा सकते हैं, परन्तु शत्रुके अत्यन्त विद्वान् होनेपर भी उसे भोजन कराना किसी प्रकार उचित नहीं है। शत्रु लोग यदि श्राद्धकी वस्तु भोजन करें, तो परलोकमें वह एकबारगी निष्फल होता है ॥ १४४ ॥ श्राद्धमें अत्यन्त यत्नपूर्व्वक वेदज्ञ ऋग्वेदी, तीनो वेद अथवा शाखा पाठ करनेवाले यजुर्वेदी ब्राह्मणको भोजन करावे ॥ १४५ ॥ इन तीनो ब्राह्मणोंमेंसे एक भी पूजित होकर जिसके श्राद्धमें भोजन करते उनके पितृ आदि सात पुरुषोंको चिरस्थायिनी तृप्ति होती है ॥ १४६ ॥ हव्य कव्य दान कर- नेके लिये ऊपरे कहे हुए अतिय ब्राह्मणको ही मुख्य जानो। उसके

सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥ मातामहं मातुलञ्च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् । दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥ न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे धर्म्मणि धर्म्मवित् । पित्रे कर्म्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥ ये स्तेनपतितक्लीवा ये च नास्तिकवृत्तयः । तान् हव्यकव्ययो-र्विप्राननर्हान् मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥ जटिलञ्चानधीयानं दुर्ब्बलं कितवं तथा । याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥ चिकित्सकान् देवल-कान् मांसविक्रयिणस्तथा । विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥ प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः । प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्द्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥ यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।

अभावमें साधु पुरुषोंसे आचरित यह नीचे लिखी हुई विधि है, कि मातामह, मामा, भानजा, श्वशुर, गुरु, दौहित्र, दामाद, मातृस्वसृ, पितृ-स्वसृ पुत्रादि, बन्धु, पुरोहित और शिष्यको भोजन करावे । १४७-१४८ ॥ धर्म्म जाननेवाला पुरुष देवकार्य्यमें भोजनके ब्राह्मणकी अधिक परीक्षा न करे ; परन्तु पितृ कार्य्यमें उनकी यत्नपूर्व्वक परीक्षा करे ॥ १४९ ॥ मनुने कहा है, कि जो सब ब्राह्मण पतित, चोर, क्लीव और नास्तिक हैं, उन्हें देव तथा पितृकार्य्यमें निमन्त्रण न करे ॥ १५० ॥ वेदपाठ रहित ब्रह्मचारी, चर्म्मरोगी, जुआ खेलनेवाले, अनेकोंके यज्ञादि कार्य्य करानेवाले ब्राह्म-णोंको श्राद्धमें भोजन न करावे ॥ १५१ ॥ चिकित्सक, प्रतिमाके सेवक, देवल, मांस बेचनेवाले और जो ब्राह्मण निन्दित व्यवसाय से जीविका निभाते हैं, उन्हें हव्य-कव्यमें परित्याग करे ॥ १५२ ॥ गांव वा बाजारके सेवक, निन्दित कुनखी, काने, बुरे दांतवाले गुरुके विरोधी, श्रौतस्मार्त्त अग्निको त्यागनेवाले और ब्याज खानेवाले ब्राह्मणोंको हव्य-कव्य दान न करे ॥ १५३ ॥ यक्ष्मा रोगी, जीविकाके लिये नकरे गऊ आदि पशुपालनेवाले, परिवेत्ता, पञ्च महायज्ञोंसे रहित, ब्राह्मणद्वेषी परिवित्ति और साधारणकी

ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥ कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च । पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥ भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा । शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्ड-गोलकौ ॥ १५६ ॥ अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा । ब्राह्मैर्यौनैश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥ आगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी । समुद्रयायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ १५८ ॥ पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा । पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रस-

---

लिये उत्सृष्ट मठ वा धनादि जीवी ब्राह्मणको हव्य-कव्यमें भोजन न करावे ॥ १५४ ॥ नाच रके जीविका चलानेवाले, स्त्री संसर्गसे ब्रह्मचर्य खोनेवाले ब्रह्मचारी और यति, शूद्रस्त्रीसे विवाह करनेवाला, पुनर्भूपुत्रवाला, काने और जिसकी स्त्रीके उपपति है, उसे हव्य-कव्यमें निमन्त्रण न करे ॥ १५५ ॥ जो वेतन लेकर वेद पढ़ाते, जो शिष्य ऐसे गुरुसे वेद पढ़ता, जो शूद्रको चेला बनाता वा शूद्रको पढ़ाता, जो सदा निठुरताईसे वचन बोलता, जो पिताके रहते जारसे पैदा होता तथा जो पिताके मरनेपर जारज सन्तान जन्मते हैं; उन्हें हव्य-कव्यमें भोजन न करावे ॥ १५६ ॥ जो वेतन लेकर वेद पढ़ाते, जो शिष्य ऐसे गुरुको बिना कारणके ही त्यागता है, जो पतित लोगोंके साथ अध्ययन और कन्या दानादि सम्बन्ध करके सम्मिलित होते हैं, उन्हें हव्य-कव्यमें भोजन न करावे ॥ १५७ ॥ जो ब्राह्मण घर जलाता, जो लोगोंके प्राणनाशके लिये विष देता, सोमलता बेचनेवाला, समुद्रयात्रा करनेवाला, स्तुति करके जीविका निभानेवाला, तेलके लिये जो तिल आदिके बीज पेरता है और जो तुलामान वा लेख्य विषयमें जाल करता है, वैसे ब्राह्मणको हव्य-कव्यमें निमन्त्रण न करे ॥१५८॥ जो पितासे विवाद करता, जो स्वयं जूआ न जानके भी दूसरोंके धनके सहारे द्यूत-क्रीड़ा करता है, मद्य पीनेवाला पापरोगी, अपवादयुक्त, छद्मवेशी (बहु-

विक्रयी ॥ १५९ ॥ धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रे दिधिषूपतिः । मित्रध्रुग्-द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥ भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा । उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥ १६१ ॥ हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति । पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥ स्रोतसां भेदको यश्च तेषाञ्चावरणे रतः । गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥ श्वक्रीड़ी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च । हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानाञ्चैव याजकः ॥ १६४ ॥ आचारहीनः क्लीवश्च नित्यं याचनकस्तथा । कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित

स्थां), अधर्म्म करनेवाले, जो ब्राह्मण लाख आदिका रस बेंचते हैं, वे भी हव्य-कव्य ग्रहण करने योग्य नहीं हैं ॥ १५९ ॥ जो ब्राह्मण धनुष वाण बनाता है, जो मित्रोंकी बुराई करे, जो द्यूत करके जीविका चलावे और जो पुत्रसे वेद शास्त्र सीखें, उन ब्राह्मणोंको हव्य-कव्यमें निमन्त्रण न करे १६० ॥ अपस्मार (मृगी) गण्डमाला और श्वेतकुष्ठ रोगी, दुर्जन, उन्मत्त, अन्धे और वेदनिन्दकको हव्य-कव्यमें निमन्त्रण न करे ॥ १६१ ॥ जो ब्राह्मण हाथी, घोड़ा, गऊ और ऊंट दमन वा शिक्षा करकेजीविका निभाता है, जो नक्षत्रादिकी गणना करता, जो पक्षियोंको पाल पोषके जीविका चलाता, और जो युद्धका आचार्य होता है ; उसे हव्य-कव्यमें निमन्त्रण न करे ॥ १६२ ॥ जो ब्राह्मण सेतु भेदादिसे बहनेवाले स्रोतकी गति परिवर्त्तित वा अवरुद्ध करता है, जो जीविकाके लिये घर बनाता, जो दूतका काम करता, जो वेतन लेकर वृक्ष लगाता है, उसे हव्य कव्यमें निमन्त्रण न करे ॥ १६३ ॥ खेल दिखानेके लिये कुत्ता पालनेवाले, बाज पक्षी क्रय विक्रय करके जीविका चलानेवाले, दश वर्षकी कन्यासे सहगमन करनेवाले तथा जो अनेक जातिके लोगोंके याजक हैं, उन्हें हव्य-कव्यमें निमन्त्रण न करे ॥ १६४ ॥ आचार रहित, निरुत्साही जो सदा भीख

एव च ॥ १६५ ॥ औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्व्वापतिस्तथा। प्रेतनिर्हारकश्चैव वर्ज्जनीयाः प्रयत्नतः ॥१६६॥ एतान् विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान्। द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्ज्जयेत् ॥ १६७ ॥ ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति। तस्मै हव्यं न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥ अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्द्धं फलोदयः। दैवे हविषि पित्र्ये वा तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥ अव्रतैर्यद्द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा। अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥ दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्व्वजः ॥ १७१ ॥

मांगके दूसरोंको विरक्त करते हैं, जो निज कृषिकर्म्मसे जीविका निभाते हैं, व्याधिसे जिनके चरण स्थूल हुए हैं, जो साधुओंसे निन्दित हैं, उन्हें हव्य-कव्यमें निमन्त्रण न करे ॥ १६५ ॥ भेड़ और भैंसे बेंचनेवाले विधवा स्त्रीसे व्याह करनेवाले, धन लेके मुर्दा ढोनेवाले ब्राह्मणोंको यत्नपूर्व्वक हव्य-कव्यमें परित्याग करे ॥ १६६ ॥ निन्दित आचारवाले, पांतमें बठनेके अयोग्य, अधम ब्राह्मणोंको द्विजोंमें श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण लोग दैव और पितृकार्य्यमें परित्याग करें ॥ १६७ ॥ जैसे फूसकी अग्नि शीघ्र ही बुझ जाती है, वेदपाठ रहित ब्राह्मण भी वैसा ही है। जैसे फूसकी आगमें कोई घृतकी आहुति नहीं डालता, वैसे ही ज्ञानहीन ब्राह्मणको भी हव्य आदि देना उचित नहीं है ॥ १६८ ॥ दैव और पितृकर्म्ममें पंक्तिसे बाहिर किये हुए ब्राह्मणको हव्य-कव्य देनेसे दाताको परलोकमें जो फल मिलता है, उसे मैं कहता हूं,—सुनो ॥ १६९ ॥ शास्त्र आचार रहित, पंक्तिदूषित, परिवेत्ता और चोर आदि द्विज जो हव्य-कव्य भोजन करते हैं, वह राक्षसोंका भोजन कहाता है ॥ १७० ॥ जेठे भाईके अनग्निक वा क्वारे रहनेपर जो लहुरा अगाड़ी विवाह वा अग्नि-स्वीकार करता है, उस लहुरे भाईको परिवेत्ता और जेठेको परिवित्ति कहते

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते। सर्व्वे ते नरकं यान्ति दातृ-याजक-पञ्चमाः ॥ १७२ ॥ भ्रातुर्मृतस्य भार्य्यायां योऽनुरज्येत कामतः। धर्म्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥ परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्ड-गोलकौ। पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्त्तरि गोलकः ॥ १७४ ॥ तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च। दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥१७५॥ अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति। तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥ वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु। पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥ यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणान् शूद्रयाजकः। तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य

हैं ॥ १७१ ॥ परिवित्ति, परिवेत्ता, परिवेनीया कन्या, कन्यादान करनेवाला और इस विवाहके पुरोहित, ये पांचो पुरुष नरकमें जाते हैं ॥ १७२ ॥ धर्म्म अनुसार पुत्र उत्पन्न करनेके लिये मरे भाईकी स्त्रीमें नियुक्त होकर जो पुरुष नियोगधर्म्मके विरुद्ध आसक्त होता है, उसे दिधीषु पति कहते हैं ॥ १७३ ॥ परस्त्री गमनसे जो दो प्रकारकी सन्तान उत्पन्न होती हैं, उन्हें कुण्ड और गोलक कहते हैं। पतिके जीवित रहते उसकी स्त्रीमें दूसरेके द्वारा जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसे कुण्ड और पतिके मरनेपर उसकी स्त्रीमें जो पुत्र पैदा हो, उसे गोलक कहते हैं ॥ १७४ ॥ दूसरेके क्षेत्रमें उत्पन्न हुए कुण्ड और गोलकको जो हव्यकव्य प्रदानकी जाती है,—उससे दाताको इस लोक वा परलोकमें कहीं भी फल नहीं मिलता ॥ १७५ ॥ पंक्तिहीन ब्राह्मण पांतिमें भोजन करके जितने लोगोंको देखता है, यज्ञदाता उतने ब्राह्मणोंके भोजनका फल नहीं पाता ॥ १७६ ॥ अन्धा पुरुष भी यदि पंक्तिभोजन देखने योग्य स्थानमें बैठे, तो यज्ञ करने-वालेके नव्वे ब्राह्मण-भोजनका फल नष्ट करे; काना साठ, श्वित्ररोगी एक सौ और पापरोगी एक हजार ब्राह्मणभोजनका फल नष्ट करता है।

पौनर्त्तिकम् ॥ १७८॥ वेदविद्यापि विप्रोऽस्य लोभात् कृत्वा प्रतिग्रहम्। विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९॥ सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम्। नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठन्तु वार्द्धुषौ ॥ १८०॥ यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत्। भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१॥ इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु। मेदोऽसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२॥ अपाङ्क्त्योपहता पंङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः। तान् निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान् पङ्क्तिपावनान् ॥१८३॥ अग्र्याः सर्व्वेषु वेदेषु सर्व्वप्रवचनेषु च। श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्ति-

---

है ॥ १७७॥ शूद्रका यज्ञ करानेवाला ब्राह्मण जिस पंक्तिमें बैठता है, उस पंक्ति भरके श्राद्धीय ब्राह्मण-भोजनका फल दाताको नहीं मिलता ॥ १७८॥ वेद जाननेपर भी यदि ब्राह्मण लोभवशसे शूद्र याजकका दान लेवे, तो वह इस प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे मट्टीके कच्चे वर्त्तन जल पड़नेसे शीघ्रही नष्ट हो जाते हैं ॥ १७९॥ सोमलता बेंचनेवालेको जो दान दिया जाता है, वह विष्ठास्वरूप है, चिकित्सक ब्राह्मणको दान देना पीव रुधिरकी भांति त्यागने योग्य है; देवल ब्राह्मणको जो दान किया जाता, वह निष्फल होता और व्याज लेनेवालेको जो दान किया जाता है, उसकी देवताओंके समीप स्थिति ही नहीं हो सकती ॥ १८०॥ वणिक्-वृत्तिवालेको जो हव्यकव्य दिया जाता है, इस लोक वा परलोकमें उससे कुछ भी फल नहीं होता; वह राखमें डाली हुई आहुतिकी भांति निष्फल है ॥ १८१॥ ऊपर कहे क्रमसे दुष्ट तथा अन्यान्य अपंक्तेय ब्राह्मणोंको जो हव्य-कव्य दिया जाता है, पण्डित लोग उसे मेद, मांस, मज्जा और हड्डीरूपी समझते हैं ॥ १८२॥ जिन उत्तम ब्राह्मणोंसे अपंक्तेय तस्कर आदिकोंसे दूषित पांत भी पवित्र होती है, उन पंक्ति पावन श्रेष्ठ द्विजोंकी कथा पूरी रीतिसे कहता हूं, सुनो ॥ १८३॥ वेदोंमें

पावनाः॥ १८४॥ त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित। ब्राह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च॥ १८५॥ वेदार्थवित् प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः। शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः॥१८६॥ पूर्वेद्युरपरे द्युर्वा श्राद्धकर्म्मण्युपस्थिते। निमन्त्रयेत त्र्यवरान् सम्यग्विप्रान् यथोदितान्॥ १८७॥ निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत् सदा। नच च्छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धञ्च तद्भवेत्॥ १८८॥ निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्। वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते॥१८९॥ केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः। कथञ्चिदप्यतिक्रामन् पापः शूकरतां व्रजेत्॥१९०॥

जो अग्रगण्य हैं, वेदाङ्गोंमें भी जिनकी अधिक व्युत्पत्ति है और दश पीढ़ीतक जिनके वंशमें वेदपाठ चला आता है, उन ब्राह्मणोंको पंक्तिपावन जानो॥ १८४॥ यजुर्वेदका प्रसिद्ध त्रिणाचिकेतभाग जिन्होंने पढ़ा है, जो पञ्चाग्नियुक्त हैं, विख्यात त्रिसुपर्ण जिन्होंने व्रतके साथ ग्रहण किया है, छहों वेदाङ्गोंमें जिनकी विशेष व्युत्पत्ति है, जो ब्राह्मण-विधिसे विवाह की हुई स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुए हों और जो लोग सामवेदका आरण्यक भाग गाया करते हैं।—येही छः प्रकारके ब्राह्मण पंक्तिपावन हैं॥१८५॥ वेदार्थ जाननेवाले, प्रवक्ता, ब्रह्मचारी, बहुतसा दान करनेवाले और एक सौ वर्षकी अवस्थावाले ब्राह्मणोंको पंक्तिपावन जानो॥ १८६॥ श्राद्धसे पहिले अथवा श्राद्धके दिन कमसे कम तीन ब्राह्मणको यथोचित सम्मानपूर्व्वक निमन्त्रण करे॥ १८७॥ श्राद्धमें ब्राह्मण निमन्त्रित होनेपर श्राद्धके दिन-रात्रि तक स्त्री सहवासादि न करे, जप प्रभृति सन्ध्योपासनाके सिवा वेद भी न पढ़े और श्राद्ध करनेवाला भी ऐसा ही नियम अवलम्बन करे॥ १८८॥ उन निमन्त्रित ब्राह्मणोंके शरीरमें अदृश्यरूपसे पितर लोग प्रवेश करते हैं, वे लोग जहाँ जाते हैं, वायुसदृश पितृगण भी उनके अनुगामी होते हैं

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते। दातुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित् तत् सर्व्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥ अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः। न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्व्वदेवताः ॥ १९२ ॥ यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्व्वेषामप्यशेषतः। ये च यैरुपचर्य्याः स्युर्नियमैस्तान् निबोधत ॥१९३॥ मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः। तेषामृषीणां सर्व्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥ विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः। अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥ दैत्य-दानव-यक्षाणां गन्धर्व्वोरग-रक्षसाम्। सुपर्ण-किन्नराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥१९६॥

और उनके बैठनेपर पितर भी बैठते हैं ॥ १८९ ॥ देव और पितृकर्म्ममें शास्त्रकी विधिसे निमन्त्रित होकर ब्राह्मण यदि किसी प्रकार उसमें अन्यथाचरण करे, तो उस पापसे उसे शूकरयोनि प्राप्त होती है ॥१९०॥ जो ब्राह्मण शास्त्रविधिसे निमन्त्रित होके स्त्री-सम्भोगादि करता है, वह करनेवालेके सारे पापोंका भागी होता है ॥ १९१ ॥ पितर लोग क्रोध रहित पवित्रतायुक्त और सदा ब्रह्मचारीभावसे स्थित, शस्त्र त्यागी, उदार आदि गुणयुक्त, महात्मा और देवताओंसे भी प्राचीन हैं,—उनकी उपासना करनेके समय श्राद्ध करनेवाला तथा श्राद्धमें भोजन करनेवालोंको उन पितरोंकी भांति धर्म्म अवलम्बन करना चाहिये ॥ १९२ ॥ जिनसे इन पितरोंकी उत्पत्ति है, जो पितर हैं और जिन नियमोंसे उनकी पूजा करनी होती है, वह सब पूरी रीतिसे सुनो ॥ १९३ ॥ हिरण्यगर्भ मनुके जो मरीचि आदि पुत्र हैं, उन मरीचि प्रभृति ऋषियोंके सोमप आदि पुत्र शास्त्रमें पितर कहे गये हैं ॥ १९४ ॥ उनमें सोमसदनाम विराटके पुत्र साध्यगणोंके और तीन लोकमें विख्यात अग्निष्वात्ता नाम मरीचि सन्तान देवताओंके पितर हैं ॥ १९५ ॥ बर्हिषद नाम अत्रि-सन्तान-आदि दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरोंके पितर

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः । वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः ॥ १९७ ॥ सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः । पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥१९८॥ अग्निदग्धानाग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा । अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥१९९॥ य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्त्तिताः । तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥ ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः । देवेभ्यस्तु जगत् सर्व्वं चरं स्थाण्वनुपूर्व्वशः ॥२०१॥ राजतैर्भाजनैरेषामथवा राजतान्वितैः । वार्य्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥ दैवकार्य्याद्‌द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते । दैवं हि पितृकार्य्यस्य पूर्व्वमाप्यायनं स्मृतम् ॥ २०३ ॥ तेषामारक्षभूतन्तु पूर्व्वं दैवं नियोजयेत् । रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्ष-

---

हैं ॥ १९६ ॥ ब्राह्मणोंके सोमप, क्षत्रियोंके हविर्भुज और वैश्योंके आज्यप नाम पितर हैं, तथा शूद्रोंके सुकालिनगण पितर हैं ॥ १९७ ॥ भृगुके पुत्र हविर्भुज और हविष्मन्त नामसे विख्यात हैं। पुलस्त्यकी सन्तान आज्यप नाम और वसिष्ठकी सन्तान सुकालिन नामसे प्रसिद्ध है ॥ १९८ ॥ अग्निदग्ध अनग्निदग्ध, काव्य, वर्हिषद, अग्निष्वात्ता और सौम्य, ये ब्राह्मणोंके पितर कहे गये हैं ॥ १९९ ॥ ये जो मुख्य मुख्य पितर कहे गये इस जगतमें उनके पुत्र पौत्रादि क्रमसे वंश परम्पराको भी पितर जानो ॥ २०० ॥ मरीचि आदि ऋषियोंसे पितरगण उत्पन्न हुए हैं। पितरोंसे देवतादानव और देवताओंसे यह चराचर जगत उत्पन्न हुआ है ॥ २०१ ॥ पितरोंको चांदीके पात्र अथवा चांदीयुक्त तांवेके पात्रमें श्रद्धापूर्व्वक जल दान करनेसे उनकी अक्षय तृप्तिका कारण होता है ॥ २०२ ॥ द्विजातियोंको देवकार्य्यकी अपेक्षा पितृकर्म्म विशेष रूपसे करना चाहिये। देवकार्य्य पितृकर्म्मका अङ्गस्वरूप पूर्व्वपोषक मात्र कहके शास्त्रमें वर्णित है ॥ २०३ ॥ पितृकार्य्यका रक्षाकारी होनेसे देवकार्य्यमें अर्थात् विश्वेदेव आवाहनादि

वर्ज्जितम् ॥ २०४ ॥ दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् । पित्राद्यन्तन्त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥ शुचिं देशं विविक्तञ्च, गोमयेनोपलेपयेत । दक्षिणाप्रवणञ्चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥ अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि । विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥ आसनेषूपक्लृप्तेषु वर्हिष्मत्सु पृथक् पृथक् । उपस्पृष्टोदकान् सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥ उपवेश्य तु तान् विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् ।

पहिले करना होता है। श्राद्ध आदि यदि रक्षाहीन हो, तो राक्षस लोग उसे नष्ट करते हैं ॥ २०४ ॥ इसही लिये श्राद्धके आरम्भमें आवाहन और अन्तमें विश्वेदेव विसर्ज्जन आदि देवकार्य्य करना होता है। यह श्राद्धके बाद होना योग्य नहीं है। जो पुरुष पहिले विना देवकार्य्य किये पितृ-श्राद्धके ब्राह्मणोंको निमन्त्रण तथा शेषमें पितृ-ब्राह्मणोंको विसर्जन आदि करता है,—श्राद्धमें विघ्न होनेके कारण वह शीघ्रही वंश-सहित नष्ट होजाता है ॥ २०५ ॥ श्राद्धकर्म्मके वास्ते अस्थि वा अङ्गारादि रहित पवित्र और निर्ज्जन स्थान ठीक करके उसे गोमयसे लेप करे, वह स्थान यदि स्वाभाविक दक्षिणकी ओर क्रमसे नीचा (ढालुआ) न हो, तो यत्नपूर्व्वक उसे दक्षिणकी तरफ नीचा करे ॥ २०६ ॥ स्वभावसे ही पवित्र अनावृत और निर्ज्जन स्थान तथा नदी आदिके तटपर श्राद्ध करनेसे पितरगण सर्व्वदा परितुष्ट रहते हैं ॥ २०७ ॥ उसही स्थानमें अलग अलग कुशमय आसन बिछाकर, उसपर भलीभांति स्नान आचमन किये हुए निमन्त्रित ब्राह्मणोंको एक एक करके बैठावें। यहां देव ब्राह्मणोंके आसनमें पूर्व्वाग्र दो कुश और पितृब्राह्मणोंके आसनमें दक्षिणाग्र एक कुश प्रदान करना होता है ॥ २०८ ॥ उन ब्राह्मणोंको कुश-मय आसनपर बैठाकर कुंकुमादि अङ्गराग तथा सुगन्ध, माला धूप, दीप आदिसे देवपूर्व्वकर्म्ममें उनकी पूजा करे अर्थात् पहिले देव-ब्राह्मणोंकी

गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्च्चयेद्दैवपूर्व्वकम् ॥ २०९ ॥ तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि । अग्नौ कुर्य्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥ अग्नेः सोमयमाभ्याञ्च कृत्वाप्यायनमादितः । हविर्दानेन विधिवत् पश्चात् सन्तर्पयेत् पितॄन् ॥२११॥ अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् । यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥ अक्रोधनान् सप्रसादान् वदन्त्येतान् पुरातनान् । लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥२१३॥ अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्व्वमावृत्परिक्रमम् । अपसव्येन हस्तेन निर्व्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥ त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात् पिण्डान् कृत्वा समाहितः । औदकेनैव विधिना निर्व्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥ न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्व्वकम् ।

पीछे पितृ-ब्राह्मणोंकी पूजा करे ॥ २०९ ॥ अनन्तर ब्राह्मणोंको कुश और तिलमिश्रित अर्घजल देकर सबकी आज्ञा लेकर नीचे कही रीतिसे अग्निमें होम करे ॥ २१० ॥ अग्नि, सोम, यम—इन्हें पहिले विधिपूर्व्वक हविसे प्रसन्न करके पीछे अन्नादिसे पितरोंको तृप्त करे ॥ २११ ॥ यदि उपासनाग्निका असद्भाव हो, तो ब्राह्मणके हाथमें ही ऊपर कही हुई तीन आहुति देवे, क्योंकि वेददर्शी ब्राह्मण कहते हैं, कि अग्नि और ब्राह्मण एक हैं, इनमें कुछ भी भिन्नता नहीं है ॥ २१२ ॥ ऋषियोंने द्विजोंमें उत्तम ब्राह्मणोंको क्रोधरहित, सदा प्रसन्न, सृष्टि प्रवाहके बीच पुरातन, लोगोंके मङ्गल वृद्धिमें सदा रत और श्राद्धकर्म्मके पात्रभूत देवता कहे हैं ॥ २१३ ॥ अग्निमें पर्य्युक्षण वा परिस्तरणादि जो कुछ करने योग्य कार्य्य हैं, वह सब दक्षिणामुख वा दक्षिणासंस्थ होकर करना होगा और दाहिना हाथसे पिण्डके आधारभूत भूमिपर जलदान करना होता है ॥ २१४ ॥ अग्निमें श्राद्ध आहुति देनेपर आहुतिसे बची हुई सब वस्तुओंको इकट्ठी करके तीन पिण्ड बनावे और उसे दक्षिणमुख सावधानचित्तसे दाहिना हाथके पितृतीर्थसे उस कुशके ऊपर रखे ॥ २१५ ॥

तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥ आचम्योदक् परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् । षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्य्यात् पितॄनेव च मन्त्रवित् ॥ २१७ ॥ उदकं निनयेच्छेषं शनैःपिण्डान्तिके पुनः । अवजिघ्रेच्च तान् पिण्डान् यथान्युप्तान् समाहितः ॥ २१८ ॥ पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्व्वशः । तानेव विप्रानासीनान् विधिवत् पूर्व्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥ ध्रियमाणे तु पितरि पूर्व्वेषामेव निर्व्वपेत् । विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत ॥ २२० ॥ पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः । पितुः स नाम सङ्कीर्त्त्य कीर्त्तयेत् प्रपितामहम् ॥ २२१ ॥ पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ।

अपने गृह्योक्त विधिसे यत्नपूर्व्वक कुशपर पिण्डदान करके लेपभुक् वृद्ध-प्रपितामहादि ऊपरी तीन पुरुषोंके तृप्तिके लिये कुशका मूलसे हाथ घिसे ॥ २१६ ॥ अनन्तर उत्तर मुख हो, आचमन करके धीरे धीरे तीन प्राणायाम करके वसन्तादि छः ऋतुओंको नमस्कार करे और दक्षिण-मुख होके पितरोंको भी नमस्कार करे ॥ २१७ ॥ जल पात्रमेंका शेष जल धीरे धीरे तीनों पिण्डोंके समीप गिरावे और जिस भांति पिण्ड दिया गया है उसही भांति प्रत्येक पिण्डका आघ्राण लेवे ॥ २१८ ॥ अन-न्तर पितृपिण्ड क्रमसे प्रत्येक पिण्डोंमेंसे थोड़ा थोड़ा हिस्सा लेकर पहिले बठे हुए उन ब्राह्मणोंको भोजन करावे ॥ २१९ ॥ पिताके जीवित रहते पितामहादि तीन पुरुषोंका श्राद्ध करे अथवा पितृ-ब्राह्मणकी जगह अपने पिताको ही भोजन करावे * ॥ २२० ॥ परन्तु जिसका पिता मर गया हो और दादा (पितामह) जीवित हो, वह पिताके बाद प्रपिता-मह (पड़दादा) का श्राद्ध करे ॥ २२१ ॥ जीते हुए पितामह,—दादाके

---

* पिताके जीवित रहते प्रायश्चित्तके अङ्ग पार्व्वण श्राद्ध इत्यादिमें अधिकार है ।

कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥ तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्। तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३ ॥ पाणिभ्यान्तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितम्। विप्रान्तिके पितृन् ध्यायञ्छनकै-रुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥ उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते। तद्विप्रलुम्प-न्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥ गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दधि घृतं मधु। विन्यसेत् प्रयतः सम्यग्भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥ भक्ष्यं भोज्यञ्च विविधं मूलानि च फलानि च। हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥ उपनीय तु तत् सर्व्वं शनकैः सुसमाहितः। परिवेषयेत प्रयतो गुणान् सर्व्वान् प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥ नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत्। न पादेन स्पृशेदन्नं नचैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥ अस्रं गमयति प्रेतान्

ब्राह्मणस्थानी होकर भोजन करे, अथवा पौत्र उनकी आज्ञा लेकर इच्छानुसार स्वयं ही श्राद्धकार्य्य पूरा करे। यह मनुने कहा है ॥ २२२ ॥ जिसके अनन्तर ब्राह्मणोंके हाथमें कुश और तिलयुक्त जल देकर ऊपर कहे हुए पिण्डाग्रोंको समर्पण करे ॥ २२३ ॥ फिर अन्नसे भरा पात्र स्वयं दोनों हाथोंसे उठाकर पितरोंका स्मरण करते करते ब्राह्मणोंके समीप रखे ॥ २२४ ॥ दोनो हाथोंसे बिना उठाये जो अन्न लिया वा परिवेषण किया जाता है, दुष्टचेष्टावाले असुर लोग उसे हठात् अपहरण करते हैं ॥ २२५ ॥ शाक सूपादि सब व्यञ्जन, दूध, दही, घृत और मधु आदि सब वस्तु परोसनेके पहिले बहुत सावधान होकर एकाग्र चित्तसे भूमिपर रखे ॥ २२६ ॥ विविध प्रकारकी भक्ष्य-भोज्य सामग्री, अनेक तरहकी सुगन्धित पीनेकी चीजें, कई तरहके फलमूल तथा मांस आदि क्रमसे सावधानी पूर्व्वक ब्राह्मणोंके समीप लाके उन लोगोंको परोसे और परोसते समय उन परोसी हुई वस्तुओंके गुण कहे ॥ २२७ ॥ २२८ ॥ परोसनेके समय रोवे नहीं, हाथमें अन्न लेकर क्रोध न करे, झूठ न बोले, पैरसे अन्न न

कोपोऽरीननृतं शुनः। पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥ यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः। ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात् पितॄणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥ स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्म्मशास्त्राणि चैव हि। आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ २३२ ॥ हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः। अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥ व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्। कुतपञ्चासने दद्यात् तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥ त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः। त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥ अत्युष्णं सर्व्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः। न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा

छूवे अथवा अन्न फेंके नहीं ॥ २२९ ॥ हाथमें अन्न लेके रोनेसे प्रेतोंकी तृप्ति होती, क्रोध करनेसे शत्रुओंकी, झूठ बोलनेसे कुत्तोंकी, पैरसे छूनेसे राक्षसोंकी और अन्न फेंकनेसे पाप कर्म्म करनेवाले पापियोंकी परितृप्ति होती। उस अन्नसे पितरोंकी कदापि तृप्ति नहीं होती ॥ २३० ॥ जो जो भोजनकी वस्तु लेनेकी ब्राह्मणोंकी रुचि हो, कृपणता छोड़कर वही सब वस्तु ब्राह्मणोंको परोसे। ब्राह्मण भोजनके समय परमात्मा विषयक आलाप पितरोंको अभीप्सित है ॥ २३१ ॥ श्राद्धके समय ब्राह्मणोंको वेद, धर्म्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण, खिल अर्थात् श्रीसूक्त आदि सुनना होता है ॥ २३२ ॥ स्वयं प्रसन्नचित्त होकर प्रिय वचनोंसे ब्राह्मणोंको प्रसन्न करे, धीरे धीरे उन्हें भोजन करावे और अन्न आदिका गुण कहके बारम्बार उसे ब्राह्मणोंको देनेके लिये अनुरोध करे ॥ २३३ ॥ दौहित्र ब्रह्मचारीको यत्नपूर्व्वक श्राद्धमें भोजन करावे,—उसे बैठनेके लिये आसन और उस भूमिपर तिल छोड़ देवे ॥ २३४ ॥ श्राद्धकर्म्ममें दौहित्र, कम्बल और तिलको परम पवित्र जाने। पवित्रता, क्रोधरहित होना और शान्त भावसे कार्य्य करना अत्यन्त श्रेष्ठ गुण कहके श्राद्ध कार्य्यमें प्रशंसित है॥

हविर्गुणान्॥ २३६॥ यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः। पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः॥ २३७॥ यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः। सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥२३८॥ चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च। रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान्॥ २३९॥ होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभि रभि वीक्ष्यते। दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम्॥२४०॥ घ्राणेन शूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः। श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः॥ २४१॥ खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत्। हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत् ततः॥ २४२॥ ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम्। ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः

२३५॥ सब अन्न खूब गर्म्म हो और ब्राह्मणलोग मौनावलम्बी होके भोजन करे, परोसनेवालेके भोज्यवस्तुओंके गुण-दोष पूछनेपरभी वचनसे उसे कुछ उत्तर न दें॥ २३६॥ जबतक अन्न गर्म्म रहता है, जबतक ब्राह्मण चुपचाप भोजन करते और जबतक भोज्यवस्तुओंका गुण-दोष नहीं कहाजाता,—तबतक पितरलोग ब्राह्मणोंके मुखसे भोजन करते हैं॥२३७॥ सरपर वस्त्रादि बांधके दक्षिण ओर मुंह करके और पादुका (जूता) पहनके जो अन्न भोजन किया जाता है, उसे राक्षसलोग ही भोजन करते हैं॥ २३८॥ जिस समय ब्राह्मण भोजन करते हों उस वक्त चाण्डाल, शूकर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री तथा नपुंसकलोग उन्हें न देखने पावें॥ २३९॥ होम, दान, भोजन, दैव और पितृकर्ममें इनके द्वारा जो कुछ देखा जाता है, वह कर्म्म फलदायक नहीं होता॥ २४०॥ शूकर सूंघने, मुर्गा पंखकी वायुसे कुत्ता आंखसे देखने और नीचलोग छूनेसे श्राद्धादि कार्य्योंको नष्ट किया करते हैं॥ २४१॥ गञ्जा, काना, अङ्गहीन अथवा अधिक अङ्गवाले पुरुष यदि श्राद्ध करनेवालेके सेवक भी हों, तोभी श्राद्धके स्थानसे उन्हें दूर कर देवे॥ २४२॥ श्राद्धके समय यदि गृहस्थ

प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥ सार्व्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा। समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन् भुवि ॥ २४४ ॥ असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम्। उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥२४५ ॥ उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च। दासवर्गस्य तत् पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥ आसपिण्डक्रियाकर्म्म द्विजातेः संस्थितस्य तु। अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकन्तु निर्व्वपेत् ॥ २४७ ॥ सह पिण्डक्रियायान्तु कृतायामस्य धर्म्मतः। अनयैवावृता कार्य्यं पिण्डनिर्व्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥ श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति। स मूढ़ो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥ श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति। तस्याः पुरीषे

भिक्षुक ब्राह्मण भोजनके लिये आवे, तो निमन्त्रित ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर उसेभी शक्तिके अनुसार भोजन करावे ॥ २४२ ॥ ब्राह्मण भोजन होनेके अनन्तर सब प्रकारके अन्न व्यञ्जनादिको एकत्रित कर तथा जलसे धोकर ब्राह्मणोंके सामने भूमिमें उसे कुशपर रखे ॥ २४४ ॥ कुशपर रखा हुआ यह ब्राह्मणोंके जूठे पातका अन्न अग्नि संस्कारके अयोग्य है;—यह मृत बालकों तथा जो स्त्रियें कुलत्याग करही हैं, उनका प्राप्य-भाग जानो ॥ २४५ ॥ श्राद्धके समय जो जूठा अन्न भूमिपर गिर जाता है, उसे सरल स्वभाव आलस रहित सच्चे सेवकोंका भाग कहके ऋषियोंने वर्णन किया है ॥ २४३ ॥ सपिण्डीकरण पर्य्यन्त आसन्न मृतका जो श्राद्ध होता है, वह वैश्व देवरहित करके करना होता है; उसमें एक ब्राह्मण एक पिण्ड और एक पवित्रेय आवश्यक है ॥ २४७ ॥ धर्म्मपूर्व्वक मरे मनुष्यका सपिण्डीकरण समाप्त होनेपर पुत्रलोग मृताहादि सब तिथियोंमें पार्व्वणकी रीति अनुसार उसे पिण्डदान करें ॥ २४८ ॥ श्राद्धमें भोजन करके जो पुरुष छूटा हुआ जूठा अन्न शूद्रको देता है, उस मूर्ख कालसूत्र नाम नरकमें नीचेमुख होना पड़ता है ॥ २४९ ॥ श्राद्धमें भोजन करके

तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥ पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत् ततः । आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥ स्वधास्त्वि-त्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् । स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्व्वेषु पितृ-कर्म्मसु ॥ २५२ ॥ ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् । यथा ब्रूयुस्तथा कुर्य्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥ पित्र्ये स्वदितमित्येवं वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् । सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥ अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसम्पादनं तिलाः । सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्म्मसु सम्पदः ॥ २५५ ॥ दर्भाः पवित्रं पूर्व्वाह्णो हविष्याणि च सर्व्वशः । पवित्रं यच्च पूर्व्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः ॥ २५६ ॥ मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं

उसी दिन रात्रिमें स्त्रीसम्भोग करनेसे उसही विष्ठामें सम्भोग करनेवालेके पितर एक महीनेतक शयन किया करते हैं ॥ २४० ॥ ब्राह्मणोंको तृप्त हुआ जानके उन्हें "स्वादित" कहके आचमन करावे । आचमन करनेपर उन्हें विश्राम करनेको कहे ॥ २५१ ॥ तिसके अनन्तर वे ब्राह्मणलोग उस श्राद्ध करनेवालेको "स्वधास्तु" कहके आशीर्व्वाद करें। सब पितृकार्य्योंमें स्वधाशब्दके उच्चारणकोही परम आशीर्व्वाद जानो ॥ २५२ ॥ आशीर्व्वाद करनेपर ब्राह्मणोंसे पूंछेकि शेष बचा हूआ अन्न किसे दूं, और वे लोग जिसे देने कहें उसेही वह अन्न देवे ॥ २५३ ॥ पितामाताके एकोद्दिष्ट श्राद्धमें "स्वदित" गोष्ठिश्राद्धमें "सुश्रुत" वृद्धिश्राद्धमें "सम्पन्न" और देवोद्देश्यमें "रुचित"—कहके ब्राह्मणोंके तृप्तिकी बात पूछनीहोती है ॥२५४॥ अपरान्हकाल, उत्तम रीतिसे गृह आदिकी पवित्रता, तिल, प्रसन्नमनसे ब्राह्मणोंके अन्नादि दान, अन्नादिकोंकी शुद्धि और पंक्तिपावन ब्राह्मणोंकी प्राप्ति; श्राद्धकर्म्ममें ये कई एक मुख्य सम्पद वा अङ्ग हैं ॥ २५५ ॥ कुश, मन्त्र, पूर्व्वान्हकाल, उत्तम हविष्य अन्नादि और पहिले जो सब पवित्रता कही गई हैं, वह सब देवकर्म्मका अङ्ग गिना गया है ॥ २५६ ॥ मुनियोंसे :

यच्चाशुपस्कृतम्। अक्षारलवणञ्चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥२५७॥ विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः। दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन् याचेतेमान् वरान् पितॄन् ॥ २५८ ॥ दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च। श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयञ्च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥ एवं निर्व्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम्। गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥ पिण्डनिर्व्वपणं केचित् पुरस्तादेव कुर्व्वते। वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥ पतिव्रता धर्म्मपत्नी पितृपूजनतत्परा। मध्यमन्तु ततः पिण्डमद्यात् सम्यक् सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥ आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्। धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्म्मिकं तथा ॥ २६३ ॥ प्रक्षाल्य हस्ता-

---

सेवित जङ्गलके नीवारादि अन्न, सोमरस अच्छे मद्य-मांस, सेंधाआदि अच्छे नमकको ऋषियोंने स्वभाविक हवि कहे हैं ॥ २४७ ॥ निमन्त्रित ब्राह्मणोंको विदाकर मौनावलम्बी हो एकाग्र चित्तसे दक्षिणकी ओर देखता हुआ पितरोंसे वर मांगे ॥ २५८ ॥ हे पितरगण ! हमारे कुलमें दाताकी बढ़ती हो, प्रत्येक वेदशास्त्रोंकी पूरी आलोचना हो, हमारे पुत्र पौत्रादि सदा बढ़ते रहें, वेदपर हमारे कुलमें सदा श्रद्धा बनी रहे और दान करनेके वास्ते देने योग्य वस्तुओंकी कभी कमी न हो ॥ २५९ ॥ श्राद्धकार्य्य पूरा तथा इस प्रकारकी प्रार्थना शेष होनेपर सब पिण्ड गऊ ब्राह्मण वा बकरीको खिलावे अथवा जलमें फेंक दे ॥ २६० ॥ कोई कोई आचार्य्य पहिले ब्रह्मणोंको भोजन कराके पीछे पिण्डदान किया करते हैं, कोई पक्षियोंको पिण्ड खिलाते हैं और कोई इस पिण्डको अग्नि वा जलमें फेंकनेको कहते हैं ॥ २२१ ॥ पितरोंकी पूजामें तत्पर पतिव्रता धर्म्मपत्नी यदि विशिष्ट पुत्रकी इच्छा हो तो उसे गृह्योक्त मन्त्रसे पितामहका पिण्ड करावे ॥ २६२ ॥ मध्यम पिण्ड खानेसे उस धर्म्मपत्नीके गर्भमें जो सन्तान उत्पन्न होती हैं वह आयुष्मान, यशस्वी बुद्धिमान, धनवान, प्रजावान,

वाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् । ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४ ॥ उच्छेषणन्तु तत् तिष्ठेद् यावद्विप्रा विसर्ज्जिताः । ततो गृहबलिं कुर्य्यादिति धर्म्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥ हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्पते । पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥ तिलै-र्व्रीहियवैर्म्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा । दत्तेन मासं प्रीयन्ते विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥ द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥ षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै । अष्टावैणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥ दश मासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः । शशकूर्म्मयोस्तु मांसेन मासाने-

---

मतोगुणी और धार्म्मिक हुआ करती है ॥ २६३ ॥ तदनन्तर दोनों हाथ धोके आचमन कर स्वजनोंको भोजन करावे । स्वजनोंको भोजन करानेके बाद मातृपक्षीय ब्राह्मणोंको खिलावे ॥ २६४ ॥ जबतक ब्राह्मणलोग वहांसे न चले जावें, तबतक उनका जूठा न साफ करें । श्राद्धकर्म्म शेष होनेपर वैश्वदेवादि नित्य कर्म्मोंको करे ; यही धर्म्मव्यवस्था है ॥ २६५ ॥ जिन अन्नोंको विधिपूर्व्वक प्रदान करनेसे पितरोंकी अक्षय तृप्ति होती है, उसे पूरी रीतिसे कहता हूं, सुनो ॥ २६६ ॥ तिल, धान्य, यव, काले उड़द, जल मूल और फल ; इनमेंसे जो कोई वस्तु श्रद्धासे विधिपूर्व्वक दी जावे, उससे एक महीनेतक पितर परितृप्त रहते हैं ॥ २६७ ॥ पाठीन आदि मत्स्यके मांससे पितरलोग दो महीने, हरिनके मांससे तीन महीने, मेढ़के मांससे चार महीने और द्विजातियोंके खाने योग्य पक्षियोंके मांससे पांच महीनेतक तृप्त रहते हैं ॥ २६८ ॥ बकरेके मांससे छः महीने, चित्रित मृगके मांससे सात महीने, एण हरिणके मांससे आठ महीने और रुरुमृगके मांससे पितर लोग नव महीनेतक तृप्त रहते हैं ॥ २६९ ॥ बाराह और भैंसेका मांस श्राद्धमें दिये जानेसे पितर लोग दस महीनेतक

कादशैव तु ॥ २७० ॥ संवत्सरन्तु गव्येन पयसा पायसेन च। वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥ कालशाकं महाशल्काः खड्गा लोहामिषं मधु। आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्व्वशः ॥ २७२ ॥ यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात् तु त्रयोदशीम्। तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥ अपि नः स कुले जायाद् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्। पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥ यद्यद्ददाति विधिवत् सम्यक्श्रद्धासमन्वितः। तत् तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥ कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्ज्जयित्वा चतुर्दशीम्। श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता

तृप्त रहते हैं, और शशा तथा कछवेके मांससे उनकी ग्यारह महीनेकी तृप्ति हुआ करती है ॥ २७० ॥ गऊके दूध और उसके पायससे उनकी सम्वत्सरतक तृप्ति रहती है और वार्ध्रीणस मांससे पितरोंको बारह वर्षकी तृप्ति होती है। लम्बी जीभ और कानयुक्त क्षीणेन्द्रिय, वृद्ध और सफेद बकरा विशेषको वार्ध्रीणस कहते हैं ॥ २७१ ॥ कालशाक नाम शाक, शल्कत, शल्कयुक्त मत्स्य, गड़ाके मांस, लाल बकरेके मांस और नीवारादि मुनिजन-भक्ष्य अन्नसे पितरोंकी अनन्तकालतक तृप्ति हुआ करती है ॥ २७२ ॥ वर्षा कालमें मघा नक्षत्रमें यदि त्रयोदशी योग हो, तो उस दिन जो कुछ मधु मिला हुआ अन्न हो, पितरोंको प्रदान करना उचित है; उससे उनकी अक्षय तृप्ति हुआ करती है ॥ २७३ ॥ पितर लोग प्रार्थना करते हैं, कि "ऐसा वंशधर हमारे कुलमें जन्मे" जो मघा त्रयोदशीमें अथवा अन्यतिथिमें भी जब हस्तीकी छाया पूर्व और पड़ती है, उस ही समयमें घृत मधुयुक्त पायससे हमें परितृप्त करे ॥ २७४ ॥ पूरी रीतिसे श्रद्धापूर्व्वक पितरोंको जो कुछ दिया जाता है, आगेके वास्ते वह पितरोंकी अक्षय वा अनन्त तृप्तिका कारण होता है ॥ २७५ ॥ चतुर्दशीको छोड़कर कृष्णपक्षकी दशमीसे अमावस्यातक पांच तिथि श्राद्ध कर्म्ममें

न तथेतराः ॥ २७६ ॥ युक्षु कुर्व्वन् दिनर्क्षेषु सर्व्वान् कामान् समश्नुते । अयुक्षु तु पितॄन् सर्व्वान् प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥ यथा चैवापरः पक्षः पूर्व्वपक्षाद्विशिष्यते । तथा श्राद्धस्य पूर्व्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ २७८ ॥ प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा । पित्र्यमा निधनात् कार्य्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥ रात्रौ श्राद्धं न कुर्व्वीत राक्षसी कीर्त्तिता हि सा । सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्य्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥ अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्व्वपेत् । हेमन्त-ग्रीष्म-वर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥ न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते । न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥ यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन् स्नात्वा द्विजोत्तमः ।

जसी श्रेष्ठ हैं, अन्य प्रतिपदादि तिथियां वैसी नहीं हैं ॥ २७६ ॥ द्वितीया और चतुर्थी प्रभृति युग्म तिथियों और भरणी तथा रोहिणी आदि युग्म नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेसे सब कामना सिद्ध होती और अयुग्म तिथि तथा अयुग्म नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेसे धन विद्यादिसे युक्त सन्तति प्राप्त होती है ॥ २७७ ॥ श्राद्ध कर्म्ममें जैसे कृष्णपक्ष शुक्लपक्षसे विशेष फलदायी है, वैसे ही पूर्व्वाह्णसे अपराह्ण भी श्राद्ध कार्य्यमें विशेष फलदायक है ॥ २७८ ॥ दाहिने कन्धेपर स्थित यज्ञसूत्रधारी निरालसी पुरुष हाथमें कुश लिये हुए पूरी रीतिसे पितृतीर्थके सहारे श्राद्ध-समाप्तिपर्य्यन्त सब पितर-कार्य्य शेष करे ॥ २७९ ॥ रात्रिके समय श्राद्ध न करे, रात्रिकालको ऋषि लोग राक्षसी समय कहते हैं। दोनों सन्ध्याके समयमें भी श्राद्ध न करे अथवा सूर्य्य उदय होते हुए भी श्राद्ध न करे ॥ २८० ॥ यदि महीने महीने पूर्व्व कहे हुए श्राद्धको न कर सके, तो ऊपर कही रीतिसे हेमन्त वर्षा और ग्रीष्मके समयमें तीन बार श्राद्ध करे। परन्तु पञ्च यज्ञान्तर्गत श्राद्धकार्य्य प्रतिदिन करे ॥ २८१ ॥ पितृयज्ञमें जो होम कहा गया है, वह लौकिक अग्निमें न करे। साग्निक ब्राह्मणादि अमावस्याके सिवा श्राद्ध

तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥ वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्। प्रपितामहांस्त्वादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥ विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः। विघसो भुक्तशेषन्तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८५ ॥ एतद्वोऽभिहितं सर्व्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्। द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

मघकी त्रयोदशी आदि तिथिमें श्राद्ध न करे ॥ २८२ ॥ स्नानके अनन्तर जब द्विज लोग पितरोंका तर्पण करते हैं, तब वह उस होसे पितृयज्ञ कर्म्मका सब फल पाते हैं ॥ २८३ ॥ ऋषि लोग पितृगणको वसु, पितामहगणको रुद्र और प्रपितामहगणको आदित्य कहते हैं। पितरोंमें इस भांति देवताओंकी सनातनी श्रुति स्वीकार की है ॥ २८४ ॥ सदा ही विघस भोगी हो,—नित्य ही अमृत भोजन करे। ब्राह्मणोंके भोजनसे और यज्ञसे बचे हुए अन्नको अमृत कहते हैं ॥ २८५ ॥ यह सब यज्ञिक अनुष्ठानका विधान कहा। अब ब्राह्मणोंकी जीविकाकी विधि कहता हूं, सुनो ॥ २८६ ॥

तृतीय अध्याय समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः ।

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः । द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥ अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥ यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः । अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ ३ ॥ ऋतामृताभ्यां जीवेत् तु मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥४॥ ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् । मृतन्तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥ सत्यानृतन्तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते । सेवा श्ववृत्ति-

---

अथ चतुर्थ अध्याय ।

जीवनके प्रथम चौथे हिस्सेतक गुरुके समीपवास और आयुका दूसरा चतुर्थ हिस्सा दारपरिग्रह करके निज गृहमें निवास करे ॥ १ ॥ जिससे किसी प्राणीको कुछ भी बुराई न हो अथवा अभाव पक्षमें थोड़ा ही दुःख हो, आपदकालके सिवा अन्य समयमें ऐसी ही वृत्ति अवलम्बन करके जीविका संग्रह करे ॥ २ ॥ प्राणयात्रा मात्र चली जाय, ऐसा लक्ष्य रखके और शरीरको किसी प्रकारका क्लेश न देकर निज वर्ण-विहित उत्तम कार्य्यसे धनोपार्ज्जन करे ॥ ३ ॥ ऋत और अमृतसे अथवा मृत और प्रमृतसे वा सत्यानृतसे जीविका निभा सकते हैं, परन्तु जीविकाके वास्ते कदाचित श्ववृत्ति अवलम्बन न करे ॥ ४ ॥ पृथ्वीमें पड़े हुए धान्यादिके दानोंको एक एक करके बीननेको उञ्छवृत्ति अथवा धान्य आदिकी मञ्जरी संग्रहरूपी शिलवृत्ति; इन उञ्छवृत्तियोंसे जीविका निभानेको ऋतस्वरूप जानो; बिना मांगे जो कुछ प्राप्त हो, वह अमृतवृत्ति है; भिक्षा-जीवनको मृतवृत्ति और कृषिजीवनको प्रमृतवृत्ति कहते हैं ॥ ५ ॥ वाणिज्यका नाम सत्यानृत है,—उससे भी जीवन

राख्याता तस्मात् तां परिवर्ज्जयेत् ॥६॥ कुशूलधान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा। त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥ चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्। ज्यायान् परः परो ज्ञेयो धर्म्मतो लोकजित्तमः ॥८॥ षट्कर्म्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते। द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥ वर्त्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः। इष्टीः पार्व्वायणान्तीयाः केवला निर्व्वपेत् सदा ॥ १० ॥ न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन। अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥

बितावे ; परन्तु सेवा नौकरी कुत्तेकी वृत्ति कहके विख्यात है,—उसे सब प्रकारसे परित्याग करे ॥ ६ ॥ कुसूल धान्यक वा कुम्भीधान्यक होवे, अथवा कुटम्बमें तीन दिनतक चले,ऐसे सञ्चयकी चेष्टा करे अथवा आगामी कलहके लिये भी कुछ सञ्चय न करे ॥ ७ ॥ कुसूल धान्यादि सञ्चय करनेवाले तीन और असञ्चयी एकजन, ये चार प्रकारके गृहस्थ ब्राह्मण यथाक्रमसे लोकजयी हुआ करते हैं ॥ ८ ॥ अनेक लोगोंके पालन पोषण करनेवाले गृहस्थ,—ऋत, अयाचित, भैक्ष्य, कृषि, वाणिज्य और कुसीद,—इन छः कार्य्योंसे जीविका निर्व्वाह कर सकते हैं। थोड़े परिवारवाले गृहस्थ याजन अध्यापन और प्रतिग्रहके सहारे जीविका निभा सकतेहैं। अल्प पोष्यवर्ग होनेसे अध्यापन और याजनसे जीविका निभावे तथा जिसके थोड़ा परिवार हो, वह केवल अध्यापनासे ही जीविका निर्व्वाह करे ॥ ९ ॥ शिलोञ्छवृत्तिवाले द्विज धनसाध्य पुण्यकार्य्योंमें असमर्थ होनेसे केवल अग्निहोत्र करें और पर्व्व तथा अयनान्तविहित दर्शपौर्णमासादि यज्ञोंको करें ॥ १० ॥ अल्पपराक्रमी साधारण लोग जीविकाके लिये झूठ, ठगहारी, खुशामद, निजगुणोंकी बड़ाई, स्वामीके अनुरूपी वेश आदि धारण इत्यादि अनेक अवैध कार्य्योंमें प्रवृत्त होते हैं; परन्तु जीविकाके वास्ते कभी उन लोगोंकी

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्य्ययः॥ १२॥ अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः। स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्॥ १३॥ वेदोदितं स्वकं कर्म्म नित्यं कुर्य्यादतन्द्रितः। तद्धि कुर्व्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥१४॥ नेहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्म्मणा। न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ १५॥ इन्द्रियार्थेषु सर्व्वेषु न प्रसज्येत कामतः। अतिप्रसक्तिञ्चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत्॥ १६॥ सर्व्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः। यथा

वृत्तिका अनुकरण न करे। जो दम्भ आदि रहित, और सरल हो, जिस जीविकाप्राप्तिमें कुछ भी लघुता वा ठगहारी नहीं करनी होती, जो बहुत पवित्र अर्थात् जिसमें पापका स्पर्श भी न हो,—वैसीही ब्राह्मण-जीविका यजनादिसे गृहस्थ ब्राह्मण जीवन वितावे॥११॥ सुखकी इच्छावाला पुरुष एकही सन्तोष अवलम्बन करके अधिक धनकी चेष्टा न करे; क्योंकि सन्तोष ही सुखका मूल है और असन्तोष ही दुःखका कारण है॥१२॥ गृहस्थ द्विजगण ऊपर कही हुई वृत्तियोंमेंसे कोई एक वृत्तिके सहारे वक्ष्यमाण स्वर्गयशस्कर नियमोंको अवश्य प्रतिपालन करें॥१३॥ जीवन पर्य्यन्त निरालसी होकर निज आश्रम विहित वेदोक्त और स्मार्त्त कर्मोंको पूरा करे। शक्तिके अनुसार इन कार्य्योंको करनेसे ही द्विज परम गति पाता है॥१४॥ जिन विषयोंमें इन्द्रियें शीघ्र आसक्त होती हैं,—ऐसे गीत वाद्य आदि कार्य्योंसे धन-प्राप्तिकी चेष्टा न करनी चाहिये अथवा शास्त्रविरुद्ध अयाज्य याजनादिसे सम्पत्ति रहते वा जीविकाका अत्यन्त कष्ट होनेपर भी जहां तहांसे धन-संग्रहकी चेष्टा न करे॥१५॥ इच्छा करके किसी भी इन्द्रिय विषयमें आसक्त न हो, किसी विषयमें अत्यन्त प्रसन्न होनेपर मनबलके सहारे इन्द्रियको निवृत्त करे॥१६॥ जो अर्ज्जन निज वेदाभ्यासका विरोधी

तथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥ वयसः कर्म्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च। वेशवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह ॥ १८ ॥ बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च। नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥ यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति। तथा तथा विजानाति विज्ञानञ्चास्य रोचते ॥ २० ॥ ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञञ्च सर्व्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञञ्च यथाशक्तिं न हापयेत् ॥ २१ ॥ एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः। अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥ वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचञ्च सर्व्वदा। वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥ ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतै-

---

हो, उसे छोड़ दे। जिस प्रकारसे बने कुटुम्बको प्रतिपालन करके प्रतिदिन स्वाध्यायसे ही ब्राह्मण कृतार्थ होता है ॥ १७ ॥ जैसी अपनी अवस्था, जैसा कर्म्म, जितना धन, जिस प्रकार वेदाध्ययन और जैसी वंशमर्य्यादा हो, वेशभूषण वचन और बुद्धिको उसहीके अनुरूप करके इस लोकमें विचरे ॥ १८ ॥ शीघ्र बुद्धि बढ़ानेवाले अर्थजनक और हितकर कार्य्योंकी प्रतिदिन पर्य्यालोचना करनी योग्य है ॥ १९ ॥ पुरुष जिन शास्त्रोंमें मन लगाता है, उन्हींको भली भांति जान सकता है, उसहीके सहारे शास्त्रान्तर विषयोंमें भी उसे ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ २० ॥ ऋषियज्ञ (वेदाध्ययन,) देवयज्ञ (होम,) भूतयज्ञ (भूतबलि,) मनुष्ययज्ञ (अतिथि सत्कार) और पितृयज्ञ,—इन पञ्चयज्ञोंको सदा करे। शक्ति रहते इनका करना न छोड़े ॥ २१ ॥ बाहिरी भीतरी यज्ञानुष्ठान शास्त्रोंके जाननेवाले बाहिरी चेष्टाओंसे रहित होके सदा पाचों ज्ञानेन्द्रियोंको संयम करके यह पञ्च महायज्ञ पूरा करें ॥ २२ ॥ कोई कोई ज्ञानी रहस्य वचन और प्राणवायुमें यज्ञ करनेका अक्षय फल जानके सदा वाक्यमें प्राणवायु और प्राणवायुमें वाक्य आहुति प्रदान करते हैं

मखैः सदा। ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥ अग्नि-होत्रञ्च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा। दर्शेन चार्द्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥ शस्यान्ते नवशस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः। पशुना त्वयन-स्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥ नानिष्ट्वा नवशस्येष्ट्या पशुना चाग्नि-मान् द्विजः। नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥ नवेनान-र्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः। प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः ॥ २८ ॥ आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा। नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितो-ऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥ पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैड़ालव्रतिकान् शठान्। हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥ वेदविद्याव्रतस्नातान्

॥ २३ ॥ दूसरे कितने ही ब्रह्मको जाननेवाले ब्राह्मण सदा ब्रह्मज्ञानसे ही इन सब यज्ञोंको किया करते हैं, वे उपनिषद् नेत्र जसे देखते हैं, कि ज्ञान ही सब यज्ञोंका मूल है ॥ २४ ॥ उदित होम करनेवाले,—दिन और रातिके प्रथम तथा शेषमें सर्व्वदा अग्निहोत्र यज्ञ करें। कृष्णपक्ष पूरा होनेपर दर्श और पूर्णिमामें पौर्णमास नाम यज्ञ करें ॥ २५ ॥ नया अन्न तैयार होनेपर ब्राह्मण आग्रयण यज्ञ करें, ऋतु पूर्ण होनेपर चातुर्मास्य यज्ञ, अयनके पहिले पशुयज्ञ और वर्ष पूरा होनेपर सोमरससे होनेवाली अग्निष्टोमादि यज्ञ करे ॥ २६ ॥ जो साग्निक द्विज दीर्घजीवी होनेकी इच्छा करे, वह नवान्न यज्ञ और पशुयज्ञ विना किये नया अन्न तथा मांस भोजन न करे ॥ २७ ॥ साग्निक ब्राह्मण यदि नवान्न और मांससे अग्निकी पूजा न करे तो अग्नि उस नया अन्न तथा नवीन मांसलोभी ब्राह्मणके प्राण भक्षण करनेकी इच्छा करती हैं ॥ २८ ॥ आसन, भोजन, शयन, जल और फलमूलसे यथाशक्ति सत्कृत न होनेसे कोई अतिथि उसके घरमें वास नहीं करता ॥ २९ ॥ वेदविरुद्ध मार्गपर चलनेवाले वर्णान्तर वृत्ति-जीवी, विड़ालव्रती, श्रद्धाहीन, वेदविरुद्ध तर्क करनेवाले और वकव्रती

श्रोत्रियान् गृहमेधिनः। पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥ शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना। संविभागश्च भूतेभ्यः कर्त्तव्यो-ऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥ राजतो धनमन्विच्छेत् संसीदन् स्नातकः क्षुधा। याज्यान्तेवासिनोर्व्वापि नत्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥ न सीदेत् स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथञ्चन। न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥ क्लृप्तकेश-नखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः। स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्म-हितेषु च ॥ ३५ ॥ वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकञ्च कमण्डलुम्। यज्ञोपवीतं वेदञ्च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥ नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन।

लोगोंको कभी वचनसेभी सत्कार न करे ॥ ३० ॥ विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, गृहस्थोंको हव्य-कव्यसे पूजा करे, परन्तु जो इससे विपरीत हैं, उन्हें परित्याग करे ॥ ३१ ॥ जो लोग स्वयं पाक नहीं करते,—वैसे ब्रह्मचारी आदिको गृहस्थ शक्तिके अनुसार अन्न आदि देवे और जिससे अपने स्वजनोंको क्लेश न हो, इसलिये उनके खानेको रखकर सब प्राणियोंको खानेकी वस्तु बांट देवे ॥ ३२ ॥ वेदस्नातक, विद्या वा व्रतस्नातक गृहस्थ भूखसे पीड़ित होनेपर क्षत्रिय राजासे धन मांगे अथवा यजमान वा शिष्यके पास धन जांचे; परन्तु दूसरोंसे न मांगे ॥ ३३ ॥ शक्ति रहते स्नातक विप्र किसी प्रकार भूखसे कातर न हो, अथवा वित्त रहते पुराना तथा मलिन वस्त्रादि न पहने ॥ ३४ ॥ स्नातक गृहस्थ सिर न मुंड़ावे, परन्तु केश, नख, दाढ़ी, मूंछ कर्त्तन करावे, तप क्लेशको सहनेवाला हो, सफेद वस्त्र पहने; भीतर बाहरसे पवित्र हो; प्रतिदिन रहे स्वाध्यायमें उद्योगी सदा अपने हितमें लगा रहे ॥ ३५ ॥ स्नातक ब्राह्मण बांसकी बनी लाठी और शौचादिके लिये जलसे भरा कमण्डलु संग लेवे और सदा यज्ञोपवीत, कुशमुष्टि, सुन्दर सुवर्णमय दो कुण्डल धारण करे ॥ ३६ ॥ उदय और अस्त होते हुए सूर्यको कभी

नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ ३७ ॥ न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति । न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥ मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्व्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥ नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने । समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥ रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः । प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥ तां विवर्ज्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् । प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्द्धते ॥ ४२ ॥ नाश्नीयाद्भार्य्यया सार्द्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् । क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥ नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् । न पश्येत् प्रसवन्तीञ्च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥ नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् । न मूत्रं पथि

न देखे ; राहुग्रस्त सूर्य्य, जलमें सूर्य्यकी परछाईं और आकाश मण्डलके बीचमें गये हुए सूर्य्यको भी न देखे ॥ ३७ ॥ बछड़ा बांधनेकी रस्सीको न लांघे, जल बरसनेके समय दौड़कर न चले और जलमें अपना प्रतिबिम्ब (परछांईं) न देखे। यह शास्त्रविधि है ॥ ३८ ॥ मट्टीके स्तूप, गऊ, देवस्थान, ब्राह्मण, घृत, मधु, चौराहे और प्रज्ञातमहात्म्य वृक्षोंको दहिनी ओर रखके चले ॥ ३९ ॥ कामोन्मत्त होनेपर भी रजोदर्शनके वर्ज्जित तीन दिनोंमें स्त्री-गमन न करे अथवा उसके साथ एक शय्यामें न सोवे ॥ ४० ॥ जो पुरुष रजस्वला स्त्रीगमन करता है, उसके बल, बुद्धि, तेज, नेत्र और आयु सभी नष्ट होजाते हैं ॥ ४१ ॥ जो मनुष्य रजस्वला स्त्रीको नहीं छूता, उसके बुद्धि बल, वीर्य्य, नेत्र और परमायुकी वृद्धि होती है ॥ ४२ ॥ भोजन करती हुई भार्य्याको न देखे, छींकती हुई केश पट्टियां दुरुस्त करती तथा सुखसे अर्थात् स्वभावयुक्त भार्य्याको न देखे ॥ ४३ ॥ दोनों नेत्रोंमें काजल लगाती हुई, वस्त्र रहित होके तेल मलती हुई अथवा सन्तान जनती हुई भार्य्याको तेजस्कामी ब्राह्मण न देखे ॥ ४४ ॥

कुर्व्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥ न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्व्वते। न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥ न ससत्त्वेषु गर्त्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः। न नदीतीरमासाद्य न च पर्व्वतमस्तके ॥ ४७ ॥ वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः। न कदाचन कुर्व्वीत विण्मूत्रस्य विसर्ज्जनम् ॥ ४८ ॥ तिरस्कृत्योच्चरेत् काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना। नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥ मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्य्यादुदङ्मुखः। दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा ॥ ५० ॥ छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः। यथासुखमुखः कुर्य्यात् प्राणबाधभयेषु च ॥ ५१ ॥ प्रत्यग्निं प्रतिसूर्य्यञ्च प्रतिसोमोदकद्विजान्। प्रतिगां प्रतिवातञ्च

एकवस्त्र पहनके अन्न भोजन न करे, वस्त्र रहित होकर स्नान न करे और रस्तेमें भस्मके ऊपर अथवा गऊ चरानेके स्थानमें मलमूत्र न त्यागे ॥ ४५ ॥ हलसे जोती हुई भूमि, जल, चिता, पर्व्वत, पुराने देवमन्दिर और बिलमें कभी मलमूत्र न त्यागे ॥ ४६ ॥ प्राणियोंसे युक्त बिल अथवा चलते चलते वा खड़े रहके तथा नदीके तटपर वा पहाड़के शिखरपर मलमूत्र न त्यागे ॥ ४७ ॥ वायु, अग्नि, ब्राह्मण सूर्य्य, जल और गऊ इन सबके सामने देखते हुए कभी मल मूत्र त्याग न करे ॥ ४८ ॥ काठ, ढेला, पत्ते वा तृण आदिसे भूमि ढाककर शरीरपर वस्त्र ओढ़कर सिर नीचाकर चुपचाप होकर मल मूत्र परित्याग करे ॥ ४९ ॥ दिनमें उत्तरकी ओर मुंह करके और रातको दक्षिण मुख तथा दोनो सन्ध्यामें दिनकी भांति उत्तर मुख होकर मल मूत्र त्याग करे ॥ ५० ॥ रातमें हो, चाहे दिनमें हो, बादल आदिकी छायासे प्रकाश मन्द होने तथा दिशा विदिशाका ज्ञान न होने, शोषित होने तथा भयका कोई कारण होनेपर इच्छापूर्व्वक जिस तरफ होसके मल मूत्र परित्याग किया जाता है ॥ ५१ ॥ अग्नि, चन्द्रमा, जल ब्राह्मण, गऊ और वायुके सामने मल मूत्र त्यागनेसे बुद्धि

प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥ नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् । नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥ अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् । न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥ नाश्नीयात् सन्धिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् । न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोपहरेत् स्रजम् ॥५५॥ नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् । अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥ नैकः स्वप्यात् शून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् । नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्नचावृतः ॥ ५७ ॥ अग्न्यागारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानाञ्च सन्निधौ । स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥५८॥ न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् । न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥५९॥ नाधार्म्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।

नष्ट होती है ॥ ५२ ॥ मुंहसे फूंककर अग्निमें अपवित्र वस्तु न गिरावे और अग्निको पैरसे न तपावे ॥ ५३ ॥ सोये हुए लोगोंके नीचे अग्नि न रक्खे, अग्निको लांघे नहीं, पैरकी तरफ अग्नि न रखे और जिससे मनमें दुःख हो, वैसा कोई कार्य न करे ॥ ५४ ॥ दोनों वक्त मिलते हुए भोजन न करे घूमे नहीं और शयन न करे। भूमिमें रेखा न खींचे, पहिरी हुए माला को स्वयं न उतारे ॥ ५५ ॥ जलमें मल-मूत्र और कफ न छोड़े, मल मूत्र और लिपटे हुए वस्त्रादि उसमें न धोवे और लहू तथा विष उसमें न फेंके ॥ ५६ ॥ सूने घरमें अकेला न सोवे, श्रेष्ठ पुरुषको सोतेसे न जगावे, रजस्वला स्त्रीसे बोले नहीं और बिना निमन्त्रणके किसी यज्ञस्थानमें न जाय ॥ ५७ ॥ अग्निस्थान, गोशाला, अनेक ब्राह्मणोंके समीप और वेद पढ़नेके समय अंगोछेसे दहिना हाथ बाहर रक्खे ॥ ५८ ॥ गऊके बच्चेको जल वा दूध पीनेसे न रोके, अथवा जल वा दूध पीते हुए देखकर किसीको कुछ न दे; और आकाशमें इन्द्रधनुष देखकर ज्ञानवान पुरुष किसीको दिखावे नहीं ॥ ५९ ॥ जिस गांवमें अधिक अधर्मी बसते हों

नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्व्वते वसेत् ॥ ६० ॥ न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्म्मिकजनावृते । न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥ न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् । नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥ न कुर्व्वीत वृथाचेष्टां न वार्य्यञ्जलिना पिबेत् । नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान् न जातु स्यात् कुतूहली ॥ ६३ ॥ न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् । नास्फोटयेन्नच क्ष्वेडेन्नच रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥ न पादौ धावयेत् कांस्ये कदाचिदपि भाजने । न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥ उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् । उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥ नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्य्यैर्नचक्षुद्व्याधिपीड़ितैः । न

वहां न रहे, बहुत दिनके व्याधियुक्त स्थानमें न बसे, दूरके मार्गमें अकेला न जाय और बहुत दिनोंतक पहाड़पर न रहे ॥ ६० ॥ शूद्र और अधर्म्मियोंके देश, वेदसे बाहिर पाखण्डियोंसे आक्रान्त देशों तथा चाण्डालादि अन्त्यज जतियोंके उपद्रव युक्त देशोंमें वास न करे ॥ ६१ ॥ जिन वस्तुओंके चिकनाई प्रभृति सारभाग निकाल लिये गये हों, उसे न खाय बहुत सबेरे तथा अति सांझको भोजन न करे और दिनको खाके तृप्त होनेपर रातको न खाय ॥ ६२ ॥ जिससे दृष्ट अदृष्ट कोई फल न हो, ऐसी वृथा चेष्टा न करे, अञ्जलिसे जल न पीवे और जङ्घापर रखके कोई वस्तु न खाय तथा विना प्रयोजनके वृथा कुतूहली न हो ॥ ६३ ॥ शास्त्र विरुद्ध नाचना, गाना, और बाजा बजाना छोड़ दे भुजाके बाहिर भीतर वा हस्ततलमें ताली न बजावे, दांतसे दांत न खटखटावे, और अनुराग पूर्व्वक गधे आदिकी तरह बोले नहीं ॥ ६४॥ कांसेके पात्रसे कभी पैर न धोवे, टूटे पात्रमें न खाय और जिस बर्त्तनमें खानेसे मन बिगड़ता हो, वैसे वर्त्तनमें भोजन न करे ॥ ६५ ॥ दूसरेका पहना हुआ जूता, वस्त्र, जनेऊ गहना, माला और कमण्डलु अपने काममें न लावे ॥ ६६ ॥ क्रोधी,

भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः॥ ६७॥ विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगै र्लक्षणान्वितैः। वर्णरूपोपसम्पन्नैः प्रतोदेनातुदन् भृशम्॥ ६८॥ बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम्। न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान्॥ ६९॥ न मृल्लोष्टञ्च मृद्नीयान्न छिन्द्यात् करजैस्तृणम्। न कर्म निष्फलं कुर्य्यान्नायत्यामसुखोदयम्॥ ७०॥ लोष्टमर्द्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः। स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च॥ ७१॥ न विगर्ह्य कथां कुर्य्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत्। गवाञ्च यानं पृष्ठेन सर्व्वथैव विगर्हितम्॥ ७२॥ अद्वारेण च नातीयाद्ग्रामं वा वेश्म वावृतम्। रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्ज्जयेत्॥ ७३॥ नाक्षैः क्रीडेत् कदाचित्तु स्वयं

भूखे, रोगी, टूटे शींगवाले, कांने, फटे टुटे खुरवाले और पूंछहीन घोड़े, हाथी आदिपर न चढ़े॥ ६७॥ सीधे, दौड़नेवाले, शुभ लक्षणयुक्त वर्ण वा रूपवाले घोड़े हाथियोंपर चढ़के चले; परन्तु उन्हें बेंतसे मारे नहीं॥ ६८॥ उदय होते सूर्यकी धूप, चिताका धुआं और टूटा आसन सर्व्वथा परित्याग करे, अपने आप नख और रुवोंको न काटे अथवा दांतसे नख न काटे॥ ६९॥ बिना कारणके मट्टी वा ढेला न तोड़े, नखसे तिनका न तोड़े, निष्फल कार्य्य न करे और आगेके वास्ते जिस कार्य्यसे कोई सुख न हो, वैसा काम न करे॥ ७०॥ ढेला फोड़नेवाले, तिनका तोड़नेवाले, दांतसे नख काटनेवाले, खल, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले और पवित्रतारहितपुरुषोंका शीघ्रही विनाश होता है॥ ७१॥ लौकिक वा शास्त्रीय निर्बन्धके सहित पण बांधके कुछ बात न कहे; गलेकी माला वस्त्रके बाहर न पहरे परन्तु उससे ढांप रखे, और गऊकी पीठपर न चढ़े॥ ७२॥ दीवारी आदिसे घिरे हुए गांव वा घरमें दर्वाजेके सिवा दूसरे रस्तेसे न जाय, रात्रिके समय वृक्षके नीचे न रहे वा वृक्षके नीचेसे आवे जावे नहीं॥ ७३॥ कभी जुआ न खेले, पहना हुआ जूता कभी

नोपानहौ हरेत्। शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥ सर्व्वञ्च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ। न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ७५ ॥ आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत। आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥ अचक्षुर्व्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित। न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥ अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिका । न कार्पासास्थि न तुषान् दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ७८ ॥ न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कशैः। न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥ न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्। न चास्योपदिशेद्धर्म्मं न चास्य व्रतमादिशेत ॥ ८० ॥ यो ह्यस्य धर्म्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम्।

हाथमें लेकर न चले, शय्यापर न खाय और हथेलीमें बहुतसा अन्न लेकर धीरे धीरे न खावे तथा आसनपर खानेको चीज रखके न खाय ॥ ७४ ॥ सूर्य अस्त होनेपर तिलसम्बन्ध कोई वस्तु न खाय, नङ्गा होकर न सोवे और जूठे मुंह कहीं न जाय ॥ ७५ ॥ पांव धोकर भोजन करे, परन्तु भींगे हुए पैरसे सोवे नहीं। पैर धोके भोजन करनेसे दीर्घायु मिलती है ॥ ७६ ॥ जो जगह आंखसे न दीखती वा दुर्गम हो वैसे स्थानमें न जाय, मूत्र तथा विष्ठाकी ओर न देखे और नदीमें तैरे नहीं ॥ ७७ ॥ आयुकी इच्छा करनेवाला पुरुष, केश, राख, हड्डी, टूटे हुए मट्टीके वर्त्तन, कपासके बीज और भूसीके ऊपर न चढ़े ॥ ७८ ॥ पतित, जातिसे बाहिर, चाण्डाल, पुक्कस, मूर्ख धन आदिके मदसे मतवारा, धोबी, प्रभृति नीचजाति और अन्त्यावसायी लोगोंके साथ थोड़े समयके वास्ते भी एक छतरीके नीचे वास न करे ॥ ७९ ॥ शूद्रको लौकिक विषयोंमें कुछ उपदेश न दे, होमका बचा हुआ भाग न दे वा कोई धर्म्म उपदेश न करे। सेवकके सिवा किसीको जूठा न दे, और शूद्रको किसी भांतिके व्रत

सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥ न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः। न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥ केशग्रहान् प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत्। शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥ न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः। सूना-चक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥ दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः। दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥ दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः। तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रति-

---

करनेको आज्ञा न करे ॥ ८० ॥ जो ब्राह्मण शूद्रको धर्म्मउपदेश करता वा व्रतानुष्ठान की आज्ञा देता है, वह शूद्रके सहित असंवृत नाम नरकमें डूबता है ॥ ८१ ॥ दोनो हाथोंसे अपना सिर न खुजलावे, जूठे मुंह रहके माथा न छूवे और बिना मस्तक धोये स्नान न करे ॥ ८२ ॥ क्रोधसे किसीकी शिखा (चोटी) न पकड़े वा शिरमें मारे नहीं और माथेमें तेल लगाके स्नान करनेपर फिर किसी अङ्गमें तेल न लगावे ॥ ८३ ॥ क्षत्रियके सिवा दूसरे किसी राजाका दान ले, (कसाई पशु-मांस बेचने-वाले), तेली, कलवार तथा जो लोग वेश्याकी आमदनीसे जीविका चलाते हैं,—उनका प्रतिग्रह (दान) न लेवे ॥ ८४ ॥ दस सूना (मांस बेंचने-वालोंके) बराबर एक तेलीमें दोष हैं, दस तेलीके बराबर एक कलवारमें और दस कलवारोंके दोषोंके बराबर वेश्या आयको खानेवाले एक पुरुषमें दोष है;—वेश्यावृत्तिसे जीविका निभानेवाले दस जनसे क्षत्रियके सिवा अन्य राजोंमें ये सब दोष हैं ॥ ८५ ॥ जो कसाई अपनी जीवि-काके लिये दस हजार सूना चलाया करता है, अक्षत्रिय राजाको उसके

---

* कसाइयोंके पशुवध स्थानको सूना, तेलीके कोल्हूकी घानीको चक्र और ध्वजा उड़कार व्यवसाय करनेसे कलवारको ध्वजवान् कहते हैं।

यह: ॥ ८६ ॥ यो राज्ञ: प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्त्तिन: । स पर्यायेण यातीमान् नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥ तामिस्रमन्धतामिस्रं महा-रौरव-रौरवौ । नरकं कालसूत्रञ्च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥ सञ्जीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम् । संघातञ्च सकाकोलं कुड्मलं पूतिमृत्तिकम् ॥ ८९ ॥ लोहशङ्कुमृजीषञ्च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् । असिपत्रवनञ्चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥ एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिन: । न राज्ञ: प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिण: ॥ ९१ ॥ ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्म्मार्थौ चानुचिन्तयेत् । कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥ उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौच: समाहित: । पूर्व्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३ ॥ ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायु-रवाप्नुयु: । प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिञ्च ब्रह्मवर्च्चसमेव च ॥ ९४ ॥ श्रावण्यां

समान मानो ; इस लिये उससे दान लेना घोर पापकर्म्म है ॥ ८६ ॥ लोभी, शास्त्रमार्गको छोड़नेवाले राजाका जो पुरुष दान लेता है, वह क्रमसे तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, कालसूत्र, महानरक- सञ्जीवन, महावीची, तपन, सम्प्रतापन, संघात, काकोल, कुड्मल, पूतिमृत्तिका, लोहशङ्कु, ऋजीष, पन्थान, शाल्मली, नदी, असिपत्रवन और लौहदारक ;— इन इक्कीस नरकोंमें पड़ता है ॥ ८७ ॥ ९० ॥ ब्रह्मवादी विद्वान् ब्राह्मण जो परलोककी हितकामना करते वे इन नरक व्यापारोंको जानते हैं ;—वे कभी भी ऐसे राजासे दान न लेवें ॥ ९१ ॥ ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठे और धर्म्म अर्थ किस प्रकार शरीरक क्लेशसे प्राप्त होगा, इसे विचार ले और वेद तत्त्वार्थभी निरूपण करे ॥९२॥ तिसके अनन्तर शय्यासे उठकर मल मूत्र त्यागे और पवित्र होकर एकाग्रचित्तसे प्रात:सन्ध्या गायत्री जप करे तथा दूसरी सन्ध्यामें भी गायत्री जपे ॥९३॥ ऋषिलोगोंको बहुत समयतक सन्ध्या करनेसे बड़ी आयु, वद्धि, यश, कीर्त्ति, और ब्रह्मतेज प्राप्त होता है ॥ ९४ ॥

प्रोष्ठपद्यां वापुप्रपाकृत्य यथाविधि । युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्द्धपञ्चमान् ॥ ९५ ॥ पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः । माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥ यथाशास्त्रन्तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः । विरमेत् पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥ अत ऊर्द्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् । वेदाङ्गानि च सर्व्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥ ९८ ॥ नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ । न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ९९ ॥ यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् । ब्रह्मच्छन्दस्कृतञ्चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥ १०० ॥

सावन महीनेकी पौर्णमासी अथवा भादों मासकी पूर्णिमासे आरम्भ करके गृह्य अनुसार उपाकर्म्म समाप्त करके साढ़ेचार मास वेद पढ़े ॥९५*॥ अनन्तर इस वेदको पढ़नेके समय साढ़े चार महीनेके बाद पौष महीनेके पुष्य नक्षत्रमें गांवके बाहर जाके वेदका उत्सर्ग कर्म्म अर्थात् विसर्जन होमादि करे अथवा माघ मासकी शुक्ल पक्षके पहिले दिन पूर्वाह्नमें यह उत्सर्ग कर्म्म करे। जिस पुरुषने भादों महीनेकी पूर्णिमामें उपाकर्म्म किया हो, वही माघी शुक्ल प्रतिपदामें उत्सर्ग करे ॥ ९६ ॥ गांवके बाहर इसही प्रकार शास्त्रविधिसे उत्सर्ग करके पक्षिणी रात्रिमें वेद न पढ़े अथवा इस उत्सर्गके दिन-रात वेद न पढ़े ॥ ९७ ॥ इस उत्सर्ग कर्म्मके अनन्तर हरेक शुक्लपक्षमें एकाग्रभावसे वेदपाठ करे और कृष्णपक्षमें सब वेदाङ्ग आचार्य्यकी उपासनाके लिये पाठ करे ॥ ९८ ॥ अस्पष्ट भावसे वेदपाठ न करे ; शूद्र और लोगोंके समूहके पास वेद न पढ़े और रात्रिके शेषमें उठकर वेद पढ़नेपर फिर न सोवे ॥ ९९ ॥ ऊपर कही हुई विधिके अनुसार

---

* आचार्य्यकी उपासनाके लिये जो होमादि किया जाता है, उसे उपाकर्म्म कहते हैं ।

इमान् नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्ज्जयेत्। अध्यापनञ्च कुर्व्वाणः शिष्याणां विधिपूर्व्वकम् ॥ १०१ ॥ कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांशुसमूहने। एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥१०२॥ विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानाञ्च संप्लवे। आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥ एतांस्त्वभ्युदितान् विद्याद् यदा प्रादुष्कृताग्निषु। तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥ निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषाञ्चोपसर्ज्जने। एतानाकालिकान् विद्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥ प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने।

द्विज गायत्री आदि छन्दयुक्त वेदमन्त्रमें सामर्थ्य रहते मन्त्रात्मक वेदोंको यथाविहित रीतिसे पाठ करे ॥१००॥ शिक्षार्थी शिष्य और वेद पढ़ानेवाला गुरु अनध्यायोंमें नव प्रकारसे वेदका पढ़ना छोड़ दें ॥ १०१ ॥ वर्षा ऋतुमें, रात्रिके समय, जोरसे हवा चलनेपर और दिनमें वायु होने धूलि उड़नेपर उस समयको अध्ययन विधि जाननेवाले पण्डित अनध्याय कहते हैं ॥१०२॥ बिजली गर्ज्जनके सहित वृष्टि और इधर उधर उल्कापात होनेपर उस दिनसे दूसरे दिनके उसही समयतक अनध्याय जानो ॥ १०३ ॥ वर्षा, सन्ध्यामें होमकी अग्नि जलानेके समय इसही प्रकार बिजली आदि उत्पात होनेपर अनध्याय जानो। ऋतु के बिना होमाग्निके समय बादल होनेपर अनध्याय जानो ॥ १०४ ॥ वर्षाके समय आकाशसे अस्वाभाविक शब्द होने भूमिकम्प होने, चन्द्रसूर्य्यादि ज्योतिष्कमण्डलीका उपसर्ग होनेपर आकालिक अनध्याय जानो ॥ १०५ ॥ सन्ध्याकालमें होमकी अग्नि जलानेके समय बिजली और गर्ज्जन शब्द हो तो सज्योति अनध्याय जानो *। इसके साथ वृष्टि होनेपर दिन-रात्रिका

---

* सबेरेसे जबतक सूर्य्यका प्रकाश रहे तब अनध्याय और रात्रि होने पर जबतक नक्षत्रोंका प्रकाश रहे तबतक अनध्याय।

सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषरात्रौ यथा दिवा ॥ १०६ ॥ नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च । धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥ अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ । अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥ उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने । उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥ प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् । त्र्यहं न कीर्त्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ११० ॥ यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति । विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्त्तयेत ॥ १११ ॥ शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् । नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥ नीहारे वाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः । अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥ अमावास्या

अनध्याय जानो ॥ १०६ ॥ धर्मके जाननेवाले पुरुषोंके लिये अनेक लोगों से भरे गांव, नगर और सदा दुर्गन्धमय स्थानोंमें नित्य अनध्याय जानना ॥१०७॥ मुर्दायुक्त स्थानमें अधर्म्मियोंके पास, रोनेकी ध्वनि होनेपर तथा बहुतसे लोगोंके सम्मिलित होनेपर वहां अनध्याय जानो ॥ १०८ ॥ जलके बीच, आधी रात, विष्ठामूत्र परित्याग करते समय, जूठेमुख अथवा श्राद्धमें भोजन करके मनसे भी वेदको न विचारे ॥ १०९ ॥ विद्वान् ब्राह्मण प्रेतश्राद्धमें निमन्त्रण स्वीकार करके उस दिनसे तीन दिनतक वेद न पढ़े । राजाके पुत्र जन्मने अथवा राहुसे चन्द्र सूर्य ग्रस्त होनेपर तीन दिनतक अनध्याय जानो ॥ ११० ॥ अथवा जबतक एकोद्दिष्ट श्राद्धका गन्ध वा अनुलेप शरीरमें रहे तबतक वेद न पढ़े ॥ १११ ॥ सोतेहुए, पैर फैलाकर, दोनो जङ्घा बांधके, मांस खाकर और जन्म मरणका अशौच अन्न भोजन करके वेद न पढ़े ॥ ११२ ॥ आंधी, तूफान आने, वाण चलनेका शब्द होने, अमावस्या, चतुर्दशी, पौर्णमासी अष्टमी और दोनों सन्ध्याके समय अनध्याय जानो ॥ ११३ ॥ अमावस्या गुरुको नष्ट करती है, चतुर्दशी

गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी। ब्रह्माष्टका-पौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिव-र्जयेत् ॥११४॥ पांशुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा। श्व-खरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्द्विजः ॥११५॥ नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा। वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥११६॥ प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवेत्। तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥११७॥ चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते। आकालिकमनध्यायं विद्यात् सर्वाद्भुतेषु च ॥११८॥ उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम्। अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥ नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्। न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥१२०॥

शिष्यका नाश करती है अष्टमी और पौर्णमासीमें पढ़नेसे वेद भूल जाता है। इसही कारण इन तिथियोंमें पढ़ना पढ़ाना सर्वथा वर्जित है ॥११४॥ धूलि बरसने, दिशाओंके जलने, सियार, कुत्ते, ऊंट और गधोंके चिल्लाने अथवा सियारोंके सहित एक पंक्तिमें बैठने पर ब्राह्मण वेद पाठ न करे। ११५ ॥ श्मशानके निकट, गांवके पास वा गांवकी अन्तमें, गोशालाओं, मैथुनवस्त्रपहने हुए और श्राद्धकी वस्तु दानलेकर वेद अध्ययन न करे ॥ ११६ ॥ श्राद्धमें केवल ब्रीहि चावलादि का प्रतिग्रहही अनध्याय का कारण नहीं है, गज आदि प्राणी अथवा वस्त्रादि जो कुछ वस्तु हों — श्राद्धमें दान लेनेसेही अनध्याय जानो। शास्त्रमें ब्राह्मणको पायस्य कहा है, अर्थात् ब्राह्मणका हाथही दूधरूपी है। हाथमें लेनेसेही भोजनकरना सिद्धहुआ ॥ ११७ ॥ चोरोंके उपद्रवसे ग्राम चञ्चल होने, घर जलनेके भयसे व्याकुल होने और अद्भुत अद्भुत घटनाओंके होनेपर अकालिक अनध्याय जानो ॥ ११८ ॥ उपाकर्म और उत्सर्गनाम कर्मोंके समाप्त होनेपर तीनरात अनध्याय जानो और अगहन महीनेकी पौर्णमासीके अनन्तर जो कृष्णाष्टमी अष्टका कहाती हैं, उनमें दिनरात अनध्याय

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे। न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके ॥ १२१ ॥ अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम्। रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥ सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन। वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥ ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः। सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात् तस्याशुचि-र्ध्वनिः ॥ १२४ ॥ एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम्। क्रमशः पूर्व्व-मभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥ पशुमण्डूक-मार्ज्जार-श्व-सर्प-नकुला-खुभिः। अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥ द्वावेव वर्ज्जये-

---

और ऋतु शेष होनेके दिन भी दिनरात अनध्याय जानो ॥ ११९ ॥ घोड़ा, वृक्ष, हाथी, नौका, गधा, ऊंट और गाड़ीपर चढ़के तथा ऊसर तृणाच्छित ऊपर देशमें खड़े रहकर वेदाध्ययन न करे ॥ १२० ॥ कलह, दण्डयुद्ध, सेनाके समीप; युद्धक्षेत्र, भोजन करके तथा खाया हुआ अन्न जीर्ण न होने पर, वमन और अम्लयुक्त डकार होनेपर वेद न पढ़े ॥ १२७ ॥ अभ्यागत अतिथिकी बिना अनुमति लिये अथवा बहुत वेगसे वायुके चलने, शरीरसे रुधिर बहने अथवा शस्त्रसे घायल होनेपर वेदपाठ न करे ॥ १२२ ॥ साम वेदकी अध्ययन ध्वनि रहते कदापि ऋक और यजुर्वेद न पाठ करे अथवा एक वेद समाप्त होनेपर आरण्यकता उपनिषद पढ़के उस दिन रातिके बीच अन्य वेद न पढ़े ॥ १२३ ॥ ऋग्वेद देव दैत्य अर्थात् देव स्तुतिकी प्रधानता है; यजुर्वेदमें मनुष्योंके मुख्य विषय हैं; साम वेदमें मुख्य करके पितरोंके विषय हैं;—इस लिये सामवेदकी ध्वनि यजु-वा ऋग्वेदके सामने अशुचिके समान मालूम होती है ॥ १२४ ॥ विद्वान लोग तीनों वेदोंके तीन अधिष्ठाता जानके सब वेदोंका सार प्रणव; व्याहृति और गायत्रीको पहिले उच्चारण करके पीछे क्रमसे वेद पढ़े। १२५ ॥ गज आदि पशु; मेढ़क; बिड़ाल; कुत्ता; सर्प; नेवल अथवा चूहे

न्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः । स्वाध्यायभूमिञ्चाशुद्धामात्मानञ्चाशुचिं द्विजः ॥ १२७ ॥ अमावास्यामष्टमीञ्च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारी भवे-न्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ १२८ ॥ न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरे न महानिशि । न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥ देव-तानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्य्ययोस्तथा । नाक्रामेत् कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥१३०॥ मध्यन्दिनेऽर्द्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् । सन्ध्ययो-रुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥ उद्वर्त्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च । श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत् तु कामतः ॥ १३२ ॥ वैरिणं

यदि वेद पढ़नेके समय गुरुशिष्यके बीचमेंसे चले जावें तो एक दिनरात अनध्याय जानो ॥ १२६ ॥ स्वाध्यायकी भूमि अशुद्ध होना और स्वयं अपवित्र रहना, ये दोनो अनध्यायमें सदा कारण हैं और इन दोनो अनध्यायोंको द्विज यत्नपूर्व्वक परित्याग करे ॥ १२७ ॥ अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशीमें स्त्रीके ऋतुस्नात होनेपर भी द्विज ब्रह्मचारी भावसे रहे स्त्रीसङ्ग न करे ॥ १२८ ॥ भोजन करके, पीड़ित होनेपर और आधी रातके समय स्नान न करना चाहिये बहुत वस्त्र पहनकर स्नान करना उचित नहीं है तथा जो तालाब भलीभांति जाना न हो उसमें स्नान करना योग्य नहीं है ॥१२९॥ देवताओंकी प्रतिमा, पित्रादि गुरुजन, राजा, स्नातक गृहस्थ, आचार्य्य, उपनेता और कपिला गऊकी छाया इच्छानुसार कभी अतिक्रम न करे ॥ १३० ॥ दिनकी दोपहरको, आधी रातको, श्राद्धमें मांस खाके और सवेरे तथा सन्ध्याको चौराहोंपर बहुत देर न करना चाहिये ॥ १३१ ॥ उबटन अर्थात् हलदी तेल लगाने-पर जो सब मैल जमीनपर पड़ता है, स्नानका जल, विष्ठा, मूत्र, रक्त, श्लेष्मा, निष्ठीवन अर्थात् चर्व्वण करके परित्याग किये हुए पान आदि और वमन,—इनपर इच्छापूर्व्वक स्थित न होवे ॥ १३२ ॥ शत्रु अथवा

नोपसेवेत सहायश्चैव वैरिणः । अधार्म्मिकं तस्करञ्च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥ न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥ क्षत्रियञ्चैव सर्पञ्च ब्राह्मणञ्च बहुश्रुतम् । नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥ एतत् त्रयं हि पुरुषं निर्द्दहेदवमानितम् । तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥ नात्मानमवमन्येत पूर्व्वाभिरसमृद्धिभिः । आ मृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥ सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्म्मः सनातनः ॥ १३८ ॥ भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् । शुष्कवैरं विवादञ्च न कुर्य्यात् केनचित् सह ॥ १३९ ॥ नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यन्दिने स्थिते । नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः

शत्रुके सहाय, अधर्म्मी, चोर और पराई स्त्रियोंकी सेवा न करे ॥ १३३ ॥ परस्त्रीगमनसे जो आयु नष्ट होती है, इस संसारमें दूसरे कोई कार्य्यसे उस प्रकार आयुका नाश नहीं होता ॥ १३४ ॥ बहुत बढ़नेपर भी क्षत्रिय सांप और वेदज्ञ ब्राह्मणको असमर्थ समझकर उसका अपमान न करे ॥ १३५ ॥ ये तीनों अपमान करनेवालेका नाश कर देते हैं, इसलिये बुद्धिमान् पुरुष इनका कदापि अपमान न करे ॥ १३६ ॥ अपने पास मूलधन न होने अथवा धन प्राप्तिके यत्न निष्फल होनेपर भी कभी अपनी श्री अवज्ञा न करे ; परन्तु मृत्युकाल पर्य्यन्त अपनी श्री बढ़ानेकी चेष्टा करे, कदापि दुर्लभ मनसे ओलाभ न करे ॥ १३७ ॥ सत्य और प्रियवाणी कहे, लोगोंके मर्म्मभेदी अप्रिय वचन सत्य होनेपर भी कदापि न बोले, लोगोंको अप्रसन्न करनेके लिये मिथ्या वचन भी कहना उचित नहीं है, यही सनातन धर्म्म है ॥ १३८ ॥ अश्रेष्ठ स्थानमें भी उत्तम वचन कहे अथवा सबके विषयमें उत्तम पुण्यजनक, श्रेष्ठ तथा अच्छे माङ्गलिक वचन कहे । किसीसे विना प्रयोजन शत्रुता वा विवाद न करे ॥ १३९ ॥ बहुत सबेरे,

सह् ॥ १४० ॥ हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान् । रूप-द्रव्यविहीनांश्चजातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥ न स्पृशेत् पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् । नचापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान् दिवि ॥ १४२ ॥ स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् । गात्राणि चैव सर्व्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥ अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेद-निमित्ततः । रोमाणि च रहस्यानि सर्व्वाण्येव विवर्ज्जयेत् ॥ १४४ ॥ मङ्गला-चारयुक्तः स्यात् प्रयतात्मा जितेन्द्रियः । जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमत-न्द्रितः ॥ १४५ ॥ मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यञ्च प्रयतात्मनाम् । जपतां जुह्वताञ्चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥ वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमत-न्द्रितः । तं ह्यस्याहुः परं धर्म्ममुपधर्म्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥ वेदाभ्यासेन

सन्ध्याको और दोपहरके समय बिना जाने मनुष्यके साथ कहीं न जावे, अकेले कहीं न जाय और नीच शूद्रादि मूर्ख लोगोंके साथ भी कहीं न जावे ॥ १४० ॥ अङ्गहीन, अधिक अङ्गवाले, विद्या रहित; कुरूप, निर्द्धन अथवा नीच जातिके पुरुषोंको हीनता कहके उनकी निन्दा न करे। जूठे शरीर वा हाथसे गऊ, ब्राह्मण और अग्निको न छूवे और दुःखित शरीर तथा अपवित्र रहनेपर आकाशके तारे आदि न देखे ॥ १४२ ॥ अशुद्ध होनेपर गऊको छूके विधिपूर्व्वक आचमन करे ॥ १४३ ॥ बिना पीड़ित हुए निष्प्रयोजन कदापि इन्द्रियोंको स्पर्श न करे और गोपनीय रवोंको भी न छूवे। सदा मङ्गलाचारयुक्त हो, बाहिर और भीतरसे पवित्र रहे, जितेन्द्रिय हो, आलस छोड़के सदा गायत्री आदि जपे और होम करे ॥ १४४ ॥ मङ्गलाचारयुक्त, सदा संयतात्मा और जप होम करनेवाले पुरुषोंका विनिपात नहीं होता ॥ १४५ ॥ अवसर पानेपर आलस छोड़के सदा प्रणव गायत्री आदि वेदाभ्यास करे, ब्राह्मणोंके लिये यही परम धर्म्म है,—और सब उपधर्म्म मात्र है ॥ १४७ ॥ सदा वेदाभ्यास,

सततं शौचेन तपसैव च । अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥ पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यस्यते पुनः । ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥ सावित्रान् शान्तिहोमांश्च कुर्यात् पर्वसु नित्यशः । पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥ दूरादावसथा-न्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम् । उच्छिष्टान्नं निषेकञ्च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥ मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् । पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानाञ्च पूजनम् ॥१५२॥ दैवतान्यभिगच्छेत् तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् । ईश्वरञ्चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥ अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्च वासनं स्वकम् । कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

भीतर बाहिरकी पवित्रता, तपस्या और सब जीवोंमें मित्रताभाव, इन सब कार्य्योंसे द्विज पूर्व्व जातिको जाननेवाला होता है ॥ १४८ ॥ पूर्व्व जातिको जाननेसे द्विजमें वैराग्यभाव उदय होकर संसारबन्धन छूटता है तब वह मोक्षके लिये ब्रह्म प्राप्तिकी चेष्टा करता है और वेदाभ्यासके बलसे ब्रह्मलाभ करके अनन्त ब्रह्मानन्द उपभोग किया करता है ॥ १४९ ॥ पूर्णिमा, अमावस्या आदि तथा पर्व्वके दिनोंमें होम और शान्ति हवन करे, अगहनकी पूर्णमासीसे तीन कृष्णाष्टमी और उसके बाद कृष्णनवमीमें अन्वष्टका श्राद्धसे परलोकवासी पितरोंकी पूजा करे ॥ १५० ॥ अग्निगृहसे दूर मल-मूत्र त्यागे और पैर आदि धोवे, अग्निगृहसे दूर जूठा अन्न फेंके तथा वीर्य्यपात करे ॥ ५१ ॥ मल त्यागना, शरीरको भूषित करना, स्नान, दतून, अञ्जन लगाना और देवताओंकी पूजा —यह सब पूर्वाह्णमें अर्थात् रात्रिके शेष और दिनके पूर्व्वभागमें करना उचित है ॥ १५२ ॥ अमावस्या आदि पर्व्वके दिनोंमें देवताओंकी प्रतिमा, धार्म्मिक ब्राह्मण, रक्षा करनेवाला राजा और पिता-माता आदि गुरुजनोंका दर्शन तथा नमस्कार करनेको लिये जावे ॥ १५३ ॥ घरमें आये हुए गुरुजनोंको प्रणाम करे

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्म्मसु। धर्म्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥१५५॥ आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥१५६॥ दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥१५७॥ सर्व्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः। श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥१५८॥ यद्यत् परवशं कर्म्म तत् तद्यत्नेन वर्ज्जयेत्। यद्यदात्मवशन्तु स्यात् तत् तत् सेवेत यत्नतः॥१५९॥ सर्व्वं परवशं दुःखं सर्व्वमात्मवशं सुखम्। एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥१६०॥ यत् कर्म्म कुर्व्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः। तत् प्रयत्नेन कुर्व्वीत विपरीतन्तु

और उन्हें बैठनेके लिये अपना आसन देवे। उनके सामने हाथ जोड़के बैठे तथा उनके पीछे पीछे कुछ दूरतक जावे॥१५४॥ वेद और स्मृतिमें कहे निज वर्णाश्रम विहित, सब धर्म्मोंका मूल स्वरूप साधुओं से आचरित आचारको यत्नसहित आलस्य छोड़के प्रतिपालन करे॥१५५॥ सदाचारी होनेसे इच्छानुसार सन्तान सन्तति और अक्षयधन प्राप्त होता है, दीर्घायु होती और जन्मसे उपजा हुआ कोई अलक्षण हो, तो वह भी नष्ट हो जाता है॥१५६॥ दुराचारी पुरुष जनसमाजमें निन्दित, सदा दुखभोगी, रोगी और अल्पायु होता है॥१५७॥ कुलरेखा आदि सब शुभ लक्षणोंसे रहित होनेपर भी जो सदाचारवान् श्रद्धावान् और दूसरोंकी मर्य्यादा रक्षा करता है, वह एक सौ वर्षतक जीता है॥१५८॥ जो कुछ परवश है, उसे यत्नके सहित परित्याग करे और जो कुछ अपने वशमें हो उसे यत्नपूर्व्वक करे॥१५९॥ पराधीनताही दुख और स्वाधीनता सुख है; सुख दुखका यही संक्षेप लक्षण जानो॥१६०॥ जिन कामोंके करनेसे अन्तरात्मा सन्तुष्ट होता है, यत्नके साथ उसेही करना चाहिये और जिन कार्य्योंके करनेसे मनमें ग्लानि होती हो, उसे

वर्ज्जयेत् ॥ १६१ ॥ आचार्य्यञ्च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् । न हिंस्याद्
ब्राह्मणान् गाश्च सर्व्वांश्चैव तपस्विनः ॥ १६२ ॥ नास्तिक्यं वेदनिन्दाञ्च देवता-
नाञ्च कुत्सनम् । द्वेषं दम्भञ्च मानञ्च क्रोधं तैक्ष्ण्यञ्च वर्ज्जयेत् ॥ १६३ ॥
परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैव निपातयेत् । अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा
शिष्ट्यर्थं ताड़येत तु तौ ॥ १६४ ॥ ब्राह्मणायावगुर्य्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्त्तते ॥ १६५ ॥ ताड़यित्वा तृणेनापि
संरम्भान्मतिपूर्व्वकम् । एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥१६६॥
अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः । दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञ-
तया नरः ॥ १६७ ॥ शोणितं यावतः पांसून् संगृह्णाति महीतलात् । तावतो

सब तरहसे परित्याग करना योग्य है ॥ १६१ ॥ जनेऊ देकर जो वेद
पढ़ावे; जो वेदकी व्याख्या करे, और पिता-माता, गुरु, ब्राह्मण, गऊ तथा
सब प्रकारके तपस्वियोंकी कभी हिंसा न करे ॥ १६२ ॥ नास्तिक, वेद-
निन्दक, देवताओंकी निन्दा और द्वेष, अभिमान, क्रोध तथा कठोरता
एकबारगी छोड़ देवे ॥ १६३ ॥ पुत्र और शिष्यके सिवा दूसरे किसीको
भी प्रहार करनेके वास्ते दण्ड न उठावे; अथवा क्रोध करके किसी
दूसरेके ऊपर दण्ड न चलावे परन्तु पुत्र और शिष्यको शासन करनेके लिये
ताड़ना करना उचित है ॥ १६४ ॥ यदि द्विजाति कामनासे ब्राह्मणके
ऊपर दण्ड उठावे तो उस पापसे एक सौ वर्षतक उसे नरकमें भ्रमण करना
होता है ॥ १६५ ॥ क्रोधके वशमें होकर जो पुरुष तृणसे भी ब्राह्मणको
मारता है, उस पापसे इक्कीस वर्षतक उसे पापयोनिमें जन्म लेना होता
है ॥ १६६ ॥ युद्ध न करनेवाले ब्राह्मणके शरीरसे जो पुरुष बिना कारण
लहू गिराता है, वह उसीही मूर्खतासे परलोकमें बहुत दुख पाता है ॥
१६७ ॥ पृथ्वीमें पड़े हुए ब्राह्मणके रुधिरसे धूलिके जितने परमाणु
भींगते हैं, रुधिर बहानेवाले ब्रह्महत्यारेको उतनेही वर्षतक सियार और

ऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥ १६८ ॥ न कदाचिद्द्विजे तस्मा-द्विद्वानवगुरेदपि। न ताडयेत् तृणेनापि न गात्रात् स्रावयेदसृक् ॥ १६९ ॥ अधार्म्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्। हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥ न सीदन्नपि धर्म्मेण मनोऽधर्म्मे निवेशयेत्। अधार्म्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्य्ययम् ॥ १७१ ॥ नाधर्म्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१७२॥ यदि नात्मनि पुत्त्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु। न त्वेव तु कृतोऽधर्म्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥ अधर्म्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥ सत्यधर्म्मार्य्यवृत्तेषु शौचे

कुत्ता आदि खाता होता है ॥१६८॥ इसलिये कदापि विद्वान् पुरुष ब्राह्मणके ऊपर दण्ड वा तृणसे भी प्रहार न करे अथवा उसके शरीरसे रुधिर न बहावे ॥ १६९ ॥ जो अधर्म्मी हो, जो बुरी रीतिसे धन पैदा करता और जो सदा दूसरोंकी हिंसामें तृप्त रहता है, इस संसारमें वह कभी सुख पानेका अधिकारी नहीं होता ॥ १७० ॥ पापी अधर्म्मि-योंकी शीघ्रही दुर्गति होती है, इसे निश्चय जानके और धर्म्ममार्गमें रहके कदापि धन न रहनेपरभी दुखी न हो और अधर्म्ममें मन न लगावे ॥ १७१ ॥ जैसे भूमिमें बीज बोने पर उससे उसी समय फल उत्पन्न नहीं होता, वैसेही इस संसारमें अधर्म्माचरणका फल भी सदा नहीं मिलता परन्तु अधर्म्म करते करते कालक्रमसे ऐसी घटना होती है कि अधर्म्मका मूल (जड़) सहित नाश हो जाता है ॥ १७२ ॥ यदि अधर्म्मका फल अधर्म्म करनेवालेको न मिले तो उसका पुत्र अथवा नाती अवश्यही उस अधर्म्मका फलभोगी होगा। परन्तु अधर्म्म निष्फल होनेवाला नहीं है ॥ १७३ ॥ अधर्म्मसे पहिले लोग बढ़ते हैं, अनेक प्रकारकी इच्छा पूरी होती और शत्रुओंको जीतते हैं; परन्तु शेषमें अधर्म्मीको एकबारही मूल

नैवारमेत् सदा । शिष्यांश्च शिष्याद्धर्म्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥ परि-त्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्म्मवर्जितौ । धर्म्मञ्चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्ट-मेव च ॥ १७६ ॥ न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः । न स्याद्वाक्-चपलश्चैव न परद्रोहकर्म्मधीः ॥ १७७ ॥ येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः । तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७८ ॥ ऋत्विक् पुरोहिताचार्य्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः । बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धि-बान्धवैः ॥ १७९ ॥ मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्य्यया । दुहित्रा

सहित नाश होता है ॥ १७४ ॥ सत्यधर्म्म सदाचार और पवित्रतामें सदा रत रहे, धर्म्मपूर्व्वक शिष्योंको शासन करे और वचन, बाहु और उदरके सम्बन्धमें सावधान रहे ॥ १७५ ॥ धर्म्मविरुद्ध अर्थ और कामना छोड़ दे, जिस धर्म्मकार्य्यके करनेसे परिणाममें दुःख होता है अथवा जैसे धर्म्म करनेसे लोगोंमें क्रोधभाजन होना होता है, वैसा धर्म्माचरण न करे ॥ हाथ, पाव, नेत्र और वचनकी चञ्चलता छोड़ दे अर्थात् जैसी वस्तुओंके लेने जैसा चलने देखने और वचन कहनेमें वृथा चपलता प्रकाशित हो, वसा न करे। सदा सरल व्यवहार करे और परायेकी बुराई करनेमें कभी बुद्धि न लगावे ॥ १७६-१७७ ॥ परस्पर विरुद्ध श्रुति स्मृतिमें एक दूसरेसे विरोधयुक्त धर्म्ममें सन्देह होनेपर इस प्रकार मीमांसा करे, कि जिस मार्गको अवलम्बन करके पितर लोग गये हैं, पितामहगण जिस मार्गके अवलम्बी है, उस ही मार्गसे चलना चाहिये; वह मार्गही उत्तम है,—इस मार्गसे गमन करनेसे किसीका क्रोधभाजन नहीं होना होता ॥ १७८ ॥ यज्ञ आदि कार्य्यमें होता, ऋत्विक, शान्ति स्वस्त्ययन आदि करनेवाला पुरोहित, आचार्य्य, मामा, अतिथि, आश्रित उपजीवी, बालक, बूढ़े, आतुर, वैद्य, स्वजन, सम्बन्धी और कुटम्ब, पिता, माता, बहिन, पुत्रवधु, भाई, पुत्र, स्त्री, कन्या आत्मवर्गके साथ कभी

दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥ एतैर्विवादान् सन्त्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते । एभिर्जितैश्च जयति सर्वान् लोकानिमान् गृही ॥१८१॥ आचार्य्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः । अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ १८२ ॥ यामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः । सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥ आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः । भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्य्या पुत्रः स्वका तनुः ॥ १८४ ॥ छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् । तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥ प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत । प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥ न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं

विवाद न करे ॥ १७९ १८० ॥ गृहस्थ पुरुष इनके सङ्ग विवाद न करनेसे सब पापोंसे छुट जाते और इन्हें प्रसन्न कर सकनेसे वह नीचे कहे हुए सब लोकोंको जय करते हैं ॥ १८१ ॥ वेद पढ़ानेवाले आचार्य्यके प्रसन्न रहनेसे ब्रह्मलोक मिलता है पिताके प्रसन्न रहनेसे प्रजापतिलोक, अतिथिकी प्रसन्नतासे इन्द्रलोक और यज्ञहोता ऋत्विक प्रसन्न रहनेसे देवलोक प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥ भगिनी और पुत्रवधुओंके प्रभावसे अप्सरालोक बान्धवोंके प्रभावसे वैश्वदेव लोक सम्बन्धियोंके प्रभावसे वरुणलोक और माता तथा मामाके प्रभावसे पृथिवी लोक मिलता है ॥१८३ बालक, बूढ़े, दरिद्र और आतुरोंकी प्रसन्नतासे अन्तरिक्ष लोक मिलता है। जेठे भाईको पिताके समान और अपने स्त्री पुत्रोंको निज शरीरसे अभिन्न जाने ॥ १८४ ॥ सेवकोंको अपनी दुहिताकी भांति समझे, और पुत्रीको भांति समझे और पुत्रोंको परमस्नेहकी पात्री जाने। इसलिये इनसे क्रोधित होनेपर सदा सहे,—किसी भांति इनसे विवाद न करे ॥ १८५ ॥ दान (प्रतिग्रह) करनेमें समर्थ होनेपर भी दान लेनेमें आसक्त न हो, क्योंकि दान लेनेसे ब्राह्मणका ब्रह्मतेज शीघ्रही नष्ट हो जाता है ॥

धर्म्यं प्रतिग्रहे। प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्य्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥ हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान् घृतम्। प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥ हिरण्यमायुरन्नञ्च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम्। अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८९ ॥ अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः। अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥ तस्मादविद्वान् बिभियाद्यस्मात् तस्मात् प्रतिग्रहात्। स्वल्पकेनाप्यविद्वान् हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥ न वार्य्यपि प्रयच्छेत् तु वैड़ालव्रतिके द्विजे। न वकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥ त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं

---

१८६ ॥ इत्यादि प्रतिग्रह विषयमें शास्त्रविधिको विशेष रूपसे बिना जाने बुद्धिमान पुरुष भूखा होनेपरभी दान न लेवे ॥ १८७ ॥ जैसे अग्निके सहारे काष्ठ भस्म हो जाता है, वैसेही मूर्ख पुरुष,—सुवर्ण, भूमि, घोड़ा गऊ, अन्न वस्त्र, तिल और घृत दान ले तो वह सारा दान निष्फल हो जाता है ॥ १८८ ॥ मूर्खके सुवर्ण और अन्न प्रतिग्रह करनेसे आयु, भूमि और गऊ लेनेसे शरीर, घोड़ा प्रतिग्रह करनेसे नेत्र, वस्त्र प्रतिग्रह करनेसे त्वचा, घृत प्रतिग्रह करनेसे तेज और तिल प्रतिग्रह करनेसे सन्तति दग्ध हो जाती है ॥ १८९ ॥ जिस ब्राह्मणमें तपस्या नहीं है, जिसने वेद नहीं पढ़ा और दानलेनेमें उसकी खूब इच्छा है,—वहइस प्रकारसे दाताके सहित नरकमें डूबता है, जैसे पत्थरकी शिलाके सहारे जलके पार जानेवाला उस शिलासमेत डूब जाता है ॥ १९० ॥ इसी कारण जहां तहांसे दान लेनेमें मूर्खोंको डरना चाहिये। जैसे गऊ कीचड़में डूबती है; वैसे ही मूर्ख पुरुष थोड़ी वस्तु भी दान लेनेसे नरकमें डूबता है ॥ १९१ ॥ जो ब्राह्मण विड़ाल तपस्वी, वकव्रती और वेद न जाननेवाला हो, उसे जल भी देना बुद्धिमानको उचित नहीं है ॥ १९२ ॥ विधिपूर्वक पैदा किया हुआ धन भी इन तीनों प्रकारके लोगोंको देना दाता और प्रति-

धनम्। दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च॥१९३॥ यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्। तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ॥१९४॥ धर्म्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः। वैड़ालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्व्वाभिसन्धकः॥१९५॥ अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः। शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः॥१९६॥ ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्ज्जारलिङ्गिनः। ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्म्मणा॥१९७॥ न धर्म्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्। व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्व्वन् स्त्रीशूद्र-दम्भनम्॥१९८॥ प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः। छद्मना-

---

गृहीता दोनोंके वास्ते परलोकमें अनर्थ उत्पन्न करता है॥१९३॥ जैसे पत्थरकी नौकासे जलके पार होनेवाला उसके सहित डूब जाता है; वैसे ही मूर्ख दाता और प्रतिगृहीता दोनोंही नरकोंमें डूबा करते हैं॥१९४॥ सदा लोभी धर्म्मध्वजी कपटवेषधारी, लोगोंको ठगनेवाला परहिंसामें रत, पराये गुणको सहनेमें असमर्थ होकर सबको ही तुच्छ तथा हलका बनानेकी इच्छा करे, उसे विड़ालव्रती कहते हैं। जैसे विड़ाल मूषा आदिको मारनेके लिये ध्याननिष्ठ होता और विनीतभावसे निवास करता है, उसका भी धर्म्मभाव इसही प्रकार जानो॥१९५॥ अपना विनती भाव दिखानेके लिये जो सदा नीचे दृष्टि रखे, शान्त रहे, तथा जिसका अन्तःकरण स्वार्थसाधन और निठुराईसे भरा हो, उस शठ तथा मिथ्याविनीत द्विजको बकव्रतधारी कहते हैं॥१९६॥ जो ब्राह्मण बकव्रती और विड़ालतपस्वी हैं, वे उसही पापसे अन्धतामिस्र नाम नरकमें पड़ते हैं॥१९७॥ जब पाप करके प्रायश्चित्त करे, तो पाप छिपाकर स्त्री शूद्रोंको मोहित करनेके वास्ते ऐसी बात भी न कहे, कि मैं पुण्यकी इच्छासे इस कार्य्यको करता हूं; यह प्रायश्चित्तके हेतु नहीं किया जाता है॥१९८॥ कपटभावसे जो व्रत किया जाता है, उसके

चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १९९ ॥ अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्ति-मुपजीवति । स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्य्यग्योनौ च जायते ॥ २०० ॥ पर-कीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन । निपानकर्त्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥ यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च । अदत्तान्युप-भुञ्जान एनसः स्यात् तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥ नदीषु देवखातेषु तड़ागेषु सरःसु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्त-प्रस्रवणेषु च ॥२०३॥ यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः । यमान् पतत्यकुर्व्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ २०४ ॥

राक्षस लोग फलभागी होते हैं। विड़ालव्रती और वकव्रती ब्राह्मण पर-लोकमें ब्रह्मवादियोंके बीच निन्दित हुआ करते हैं ॥ १९९ ॥ जिसका जो वर्णाश्रम विहित चिह्न नहीं है, यदि वह उन चिन्होंके द्वारा अपनी जीविका निभावे, तो वह वर्णाश्रम वालोंके पापोंको ग्रहण करता है, और उस पापसे उसे तिर्य्यगयोनि प्राप्त होती है ॥ २०० ॥ जिसने साधा-रणके वास्ते तालाब न बनाके केवल अपने ही लिये बनाया हो; उसमें कभी स्नान न करे ; उसमें नहानेसे तालाब बनानेवालेके पापोंका फल भागी होना पड़ता है ॥ २०१ ॥ प्रति दिन नदी, देवताओंके निमित्त बने हुए तालाब बावड़ी और झरनोंमें स्नान करे ॥ २०२ ॥ दूसरेकी सवारी, शय्या, आसन, कूआं बगीचा और गृहको बिना अनुमतिके उपभोग न करे, नहीं तो व्रव्यस्वामीके पापके चौथे अंशका फलभागी होना होता है ॥ १०३ ॥ ब्रह्मचर्य्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्यवचन, निष्पाप अन्तःकरण, हिंसात्याग, चोरी न करना और मधुर वचन कहनेको यम कहते हैं। स्नान, मौनावलम्बन उपवास, यज्ञ करने और वेद पढ़नेको धर्म्मनियम कहते हैं। सदा यमकीही सेवा करे केवल नियमके ही आसरे न रहे। यमको छोड़कर केवल नियमा-चरण करनेसे पतित होना पड़ता है, इस लिये यम और नियम

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा । स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥ अश्लीकमेतत् साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः । प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात् तत् परिवर्ज्जयेत् ॥ २०६ ॥ मत्तक्रुद्धातुराणाञ्च न भुञ्जीत कदाचन । केशकीटावपन्नञ्च पदा स्पृष्टञ्च कामतः ॥ २०७ ॥ भ्रूणघ्ना-वेक्षितञ्चैव संस्पृष्टञ्चाप्युदक्यया । पतत्त्रिणावलीढञ्च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥ गवा चान्नमुपघ्रातं घुष्टान्नञ्च विशेषतः । गणान्नं गणिकान्नञ्च विदुषा च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥ स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्द्धुषिकस्य च । दीक्षितस्य कदर्य्यस्य बद्धस्य निगड़स्य च ॥ २१० ॥ अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च । शुक्तं पर्य्युषितञ्चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥

दोनोंकी ही सेवा करना योग्य है। यम प्रतिषेध और नियम अनुष्ठेय है ॥ २०४ ॥ वेद न जाननेवाला ब्राह्मण जिस यज्ञको आरम्भ करता है, जिस यज्ञमें बहुतसे याजक ब्राह्मण होम करते हैं, जिस यज्ञमें स्त्रियां और हिजड़े होते ब्राह्मण वहां कभी भोजन न करे ॥ २०५ ॥ जिस यज्ञमें ऐसे ब्राह्मण होम करते हैं, वह यज्ञ साधुओंकी श्री नष्ट करनेवाला और देवताओंका विरोधी है; इस लिये ऐसे यज्ञको करना योग्य नहीं है ॥ २०६ ॥ मतवारे क्रोधी और रोगियोंका अन्न कभी न खावे; केश-कीटयुक्त जानके, पैरसे छुए हुए अन्नको कदापि भोजन न करे ॥२०७॥ भ्रूणहत्यारे, रजस्वला स्त्री, पक्षीके चोंच और कुत्तोंका छुआ अन्न न खावे ॥ २०८ ॥ जिस अन्नको गऊ सूंघे, जो भूखे आगन्तुकोंके लिये तैयार हुआ हो, पण्डितोंसे निन्दित उस अन्नको कदापि न खावे ॥ २०९ ॥ चोर, गवैये, बाजा बजानेवाले तक्षणवृत्तिवाले, ब्याज लेनेवाले, जो बिना अग्निषोमीय यज्ञके दीक्षित हों, कृपण और निगड़बद्ध लोगोंका अन्न न लेवे ॥ २१० ॥ महापापी हिजड़े, व्यभिचारिणी, और कपट-धर्मियोंका अन्न न ले, स्वादरहित, शुष्क, बासी, शूद्रका तथा जूठा अन्न

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः। उग्रान्नं सूतिकान्नञ्च पर्य्याचान्तमनिर्द्दशम्॥ २१२॥ अनर्च्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः। द्विषदन्नं नगर्य्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम्॥ २१३॥ पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा। शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च॥ २१४॥ कर्म्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च। सुवर्णकर्त्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिण-स्तथा॥ २१५॥ श्ववतां शौण्डिकानाञ्च चेलनिर्णेजकस्य च। रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे॥ २१६॥ मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानाञ्च सर्व्वशः। अनिर्द्दशञ्च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च॥ २१७॥ राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं

न लेवें॥ २११॥ वैद्य, व्याध, क्रूरपुरुष, जूठा खानेवाले और निठुरकर्म्म करनेवालेका अन्न न खाय। सूतिकाके लिये बना हुआ पर्य्याचान्त * और दस दिन बिना बीते सूतिकान्न भोजन न करे॥ २१२॥ अवज्ञापूर्व्वक दिया हुआ, पति पुत्ररहित निःसम्पर्कीय स्त्रियोंका, द्वेष करनेवाले शत्रुओं, नगरके पतितों और जिस अन्नके ऊपर छींका हो, उन सब अन्नों तथा वृथा मांस कदापि न खावे॥ २१३॥ परोक्षमें दूस-रोंका अपवाद करनेवाले, झूठी साक्षी देनेवाले, धनकेवास्ते यज्ञ-फल बेंचनेवाले, नट, दर्जी, और उपकारककी बुराई करनेवालोंका अन्न न खावे॥ २१४॥ लुहार, भील, रङ्ग बेचनेवाले, सुनार, वेणुविदारक, लोहा बेचनेवाले, कुत्ता पालनेवाले, (डोम) कलवार, धोबी, रङ्गरेज, निठुर और जिसकी स्त्री छिपके उपपति करती हो, उन सब लोगोंका अन्न न खावे॥ २१५—२१६॥ जो निज स्त्रीके उपपतिको जानके भी सहता है, जो सब प्रकारसे स्त्रीकी बुद्धिसे चलता है, उसके मृतक श्राद्धका

---

* एक प्रान्तमें बैठे हुए ब्राह्मणोंकी उपेक्षा न करके पहिलेसे भोजन करके आचमन करनेपर अन्यान्य ब्राह्मणोंके अन्नको पर्य्याचान्त कहते हैं।

ब्रह्मवर्च्चसम्। आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्म्मावकर्त्तिनः॥ २१८॥ कारु-कान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च। गणान्नं गणिकान्नञ्च लोकेभ्यः परिकृन्तति॥ २१९॥ पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्। विष्ठा वार्द्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम्॥ २२०॥ य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्त्तिताः। तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः॥ २२१॥ भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम्। मत्या भुक्त्वा चरेत् कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च॥२२२॥ नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः। आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम्॥ २२३॥ श्रोत्रियस्य कद-

---

अन्न और जिस अन्नके खानेसे तृप्ति न हो, वैसा अन्न कदापि न खावे ॥२१७ राजाका अन्न खानेसे तेज नष्ट होता, शूद्रका अन्न खानेसे ब्रह्मतेज घटता, सुनारका अन्न खानेसे आयु नष्ट होती और चमारका अन्न खानेसे प्रतिष्ठा लोप होती है ॥ २१८ ॥ शिल्पीका अन्न खानेसे सन्तान नष्ट होती, धोबी, मिलितजन-समूह और वेश्याका अन्न खानेसे कर्म्मार्ज्जित स्वर्गादि लोकोंसे भी भ्रष्ट होना होता है ॥ २१९ ॥ वैद्यका अन्न पीवके समान, व्यभिचारिणी स्त्रीका अन्न खाना शुक्र भोजनके सदृश है, ब्याज लेनेवा-लेका अन्न विष्ठा तुल्य और लोहा बेचनेवालेका अन्न श्लेष्मा (कफ) भोज-नके समान घृणित जानो ॥ २२० ॥ ऊपरमें जिनका अन्न अभोज्य कहके वर्णित हुआ है, पण्डित लोग उनके अन्नको चमड़े, हड्डी, और रोमतुल्य कहते हैं ॥ २२१ ॥ इनमेंसे जो किसीका अन्न बिना जाने भोजन करले, तो तीन रात्रि उपवास करे और जानके खानेसे कृच्छ्रव्रत करना होता है और वीर्य्य, मूत्र तथा विष्ठा खानेपर भी यही प्रायश्चित्त करना होता है ॥ २२२ ॥ शास्त्र जाननेवाला ब्राह्मण श्राद्धादि पञ्चयज्ञहीन शूद्रका अन्न न खाय, परन्तु अन्नका अभाव होनेपर एक रातके निर्व्वाह योग्य कच्चा अन्न शूद्रसे ले सकता है ॥ २२३ ॥ वेद जाननेवाला सूम और ब्याज

र्य्यस्य वदान्यस्य च वार्द्धुषेः। मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥ तान् प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम्। श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥ श्रद्धयेष्टञ्च पूर्त्तञ्च नित्यं कुर्य्यादतन्द्रितः। श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥ दानधर्म्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्त्तिकम्। परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥ यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया। उत्पत्स्यते हि तत् पात्रं यत् तारयति सर्व्वतः ॥ २२८ ॥ वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः। तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥ भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घ-

---

लेनेवाला, इन दोनोंके गुणदोषोंको विचार कर देवताओंने स्थिर किया है, कि इन दोनोंका अन्न समान है ॥ २२४ ॥ परन्तु ब्रह्माने देवताओंके निकट आके कहा, कि तुमलोग इन दोनोंके अन्नको समान मत समझो क्योंकि दाता व्याज लेनेवालेका अन्न श्रद्धापूर्व्वक दिया जाता है और वेदज्ञ कृपणका अश्रद्धासे दिया जाता है,—इस लिये दूषित और अग्राह्य है ॥ २१५ ॥ सदा आलस्य रहित होकर इष्ट और पूर्त्तकर्म्म करना उचित है। न्यायसे प्राप्त हुए धनसे श्रद्धापूर्व्वक इन दोनों प्रकारके कार्य्योंको करनेसे वह अक्षय फलका कारण हुआ करता है। वेदीयुक्त यज्ञकर्म्मको इष्ट और तालाब बनाना आदिको पूर्त्त कहते हैं ॥ २२६ ॥ विद्या और तपस्यायुक्त ब्राह्मण मिलनेसे प्रसन्नभावसे निज शक्ति अनुसार इष्टपूर्त्तादि तथा दान धर्म्म करे ॥ २२७ ॥ असूया रहित होके मांगनेवालेको शक्तिके अनुसार दान करे। दान करते करते उस पुण्यबलसे ऐसा दानपात्र आजाता है, जो सब प्रकारसे दाताको परित्राण करनेमें समर्थ होता है ॥ २२८ ॥ जलदान करनेवाला तृप्ति, अन्नदाता अक्षयसुख, तिलदाता इच्छानुसार सन्तान सन्तति और दीपदान करनेवालोंको उत्तम नेत्र प्राप्त होते हैं ॥ २२९ ॥ भूमिदाता भूमि पाता, सुवर्णदाताको दीर्घायु मिलती,

आयुर्हिरण्यदः। गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥ वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः। अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य पिष्टपम् ॥ २३१ ॥ यानशय्याप्रदो भार्य्यामैश्वर्य्यमभयप्रदः। धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥२३२॥ सर्व्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते। वार्य्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥ येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति। तत्तत् तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥ योऽर्च्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्च्चितमेव च। तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकन्तु विपर्य्यये ॥ २३५ ॥ न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम्। नार्त्तोऽप्यपवदेद्विप्रान् न दत्त्वा परिकीर्त्तयेत् ॥ २३६ ॥ यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति

घर देनेवालेको श्रेष्ठगृह तथा चांदी देनेवालेको उत्तम सौन्दर्य्य प्राप्त होता है ॥२३० ॥ वस्त्र देनेवाला चन्द्रलोकवासियोंके सङ्ग निवास करनेमें समर्थ होता, घोड़ा देनेवाला अश्विलोकमें जाता, बैल देनेवालेको बहुत सम्पत्ति मिलती और गऊ देनेवालेको सूर्य्यलोक मिलता है ॥ २३१ ॥ रथ आदि सवारी और शय्या देनेवालेको इच्छानुसार भार्य्या मिलती है, अभयदाताको अतुल ऐश्वर्य्य, धनदाताको चिरस्थायी सुख और वेददाताको ब्रह्मके समान गति प्राप्त होती है ॥ २३२ ॥ अन्न, जल, गऊ, भूमि, वस्त्र, तिल, स्वर्ण और घृतदान आदिसे वेद शिक्षा दानही श्रेष्ठ है ॥ २३३ ॥ जिस जिस भावसे जो सब दान किया जाता है प्रतिपूजित होकर उसही उस भावसे वह सब दान जन्मान्तरमें मिलता है ॥ २३४ ॥ जो सम्मानित होकर दान लेता और जो मान पूर्व्वक देता है, वे दोनोही स्वर्गमें जाते हैं ; परन्तु इसके विपरीत होनेसे नरकमें जाना पड़ता है ॥ २३५ ॥ तपस्या करके कभी न भूले अथवा अभिमान न करे, यज्ञ करके कभी झूठ न कहे, ब्राह्मणसे बहुत उत्पीड़ित होनेपर भी उसकी निन्दा न करे और दान करके कभी दूसरोंसे कहे नहीं ॥२३६॥ यज्ञ करके

विस्मयात्। आयुर्विप्रापवादेन दानञ्च परिकीर्त्तनात् ॥ २३७ ॥ धर्म्मं शनैः सञ्चिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः। परलोकसहायार्थं सर्व्वभूतान्यपीड़यन् ॥ २३८ ॥ नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्म्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥ एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते। एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥ मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ। विमुखा बान्धवा यान्ति धर्म्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥ तस्माद्धर्म्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः। धर्म्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥ धर्म्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम्। परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २४३ ॥ उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत् सह। निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥ उत्तमानुत्तमान्

झूठ बोलनेसे यज्ञफल नष्ट होता है, तपस्यामें डरनेसे तपस्या नष्ट होती, ब्राह्मणकी निन्दासे आयुक्षय होती और दान करके उसे कहनेसे दानका फल नष्ट होता है ॥ २३७ ॥ जैसे दीमक धीरे धीरे वल्मीक तैयार कर लेते हैं, वैसेही परलोकमें सहायकी वास्ते थोड़ा थोड़ा धर्म्म सञ्चय करे ॥२३८॥ परलोकमें सहायके लिये पिता, माता स्त्री, पुत्र और स्वजनलोग कोई भी उपस्थित नहीं रहते केवल अकेला धर्म्मही वहां सहाय होता है ॥ जीव अकेलाही जन्मता और मरता है तथा अकेलेही अपने पाप-पुण्यको भोग करता है ॥ २४० ॥ काष्ठ और मट्टीकी भांति मृत शरीरको छोड़के बान्धव लोग चले जाते हैं, केवल धर्म्मही जीवका अनुगमन किया करता है। इस लिये परलोकके सहायके लिये प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा धर्म्म सञ्चय करे ; धर्म्मकी सहायतासे दुस्तर नरकोंसे निस्तार होता है ॥ २४१ ॥ २४२ ॥ जिस धर्म्मात्मा पुरुषके पाप तपबलसे नष्ट हुए हैं, वह मरनेपर धर्म्मके सहारे प्रकाशमान शरीरसे शीघ्रही परलोकमें पहुंचता है ॥ २४३ ॥ अपने कुलकी बढ़ाईके वास्ते विद्या और आचारादि युक्त उत्तम कुलोंमें

गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन्। ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥ दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्। अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्गं तथाव्रतः ॥२४६॥ एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतञ्च यत्। सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥ आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्। मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥ नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च। न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥ शय्यां गृहान् कुशान् गन्धानपः पुष्पं मणीन् दधि। धाना मत्स्यान् पयो मांसं शाकञ्चैव न निर्णुदेत् ॥ २५० ॥ गुरून् भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन् देवतातिथीन्। सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्

सर्वदा कन्यादानादि करे और अधम कुलोंसे सम्बन्ध न करे ॥ २४४ ॥ हीन कुलोंको छोड़के उत्तम कुलोंके साथ सम्बन्ध करनेसे ब्राह्मणकी श्रेष्ठता होती है और इसके विपरीत करनेपर क्रमसे ब्राह्मण हीनतायुक्त होकर शूद्रतुल्य निकृष्ट होजाता है ॥ २४५ ॥ सत्कर्ममें दृढ़, विनीत, दान्त स्वर्गलोक जीतते हैं जो क्रूर लोगोंसे संसर्ग नहीं रखते तथा हिंसारहित व्रत करनेवाले साधु दम और दानसे स्वर्गलोक जय करते हैं ॥ २४६ ॥ काठ, जल, मूल फल और अन्न, जो बिना मांगेही स्वयं उपस्थित हो वह तथा मधु और अभयदान, सबसे प्रतिग्रह किया जाता है ॥ २४७ ॥ जो इच्छापूर्व्वक लाया और बिना मांगेही सामने रखा गया, पहिले जिसकी कुछ बातही न थी—ऐसी भीख जो कुछ क्यों न हो पापियोंसे ली जाती है, ऐसा ब्रह्माने स्वीकार किया है ॥ २४८ ॥ जो पुरुष पूर्व्वोक्त भिक्षाको प्रत्याख्यान करता है उसके पितर पन्द्रह वर्षतक उसका दानीय भोजन नहीं करते और अग्नि उसके वास्ते देवलोकमें हवि नहीं लेती ॥ २४९ ॥ शय्या, गृह, कुश, कपूरादि सुगन्धित वस्तु, दही, फूल, मणि, धान, मछली, दूध, मांस और शाक बिना मांगेही उपस्थित हों तो उसे

स्वयं ततः ॥ २५१ ॥ गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन्। आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृह्णीयात् साधुतः सदा ॥ २५२ ॥ आर्द्धिकः कुलमित्रञ्च गोपालो दासनापितौ। एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥ यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशञ्च चिकीर्षितम्। यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥ योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते। स पाप-कृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥ वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्-मूला वाग्विनिःसृताः। तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥ महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि। पुत्रे सर्वं समासज्य वसे-

---

न्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥

न लौट्यावे ॥ २५० ॥ पिता मातादि गुरुजनों और भार्या पुत्रादि पालनीय लोगोंके भरण पोषणके लिये अथवा देवता और अतिथिपूजनके वास्ते सब स्थानोंसे प्रतिग्रह किया जासकता है; परन्तु अपने उदरतृप्तिके लिये नहीं ॥ २५१ ॥ पिता-माताके मरने अथवा जीवित अवस्थामें जो वे लोग पृथक भावसे वास करें तो अपनी जीविकाके लिये सदा उत्तम लोगोंसे दान लेना उचित है ॥ २५२ ॥ जो जिसका कृषिकार्य्य करता, जो वंशक्रमसे मित्र हो, जो जिसका गोपालक हो, जो जिसकी सेवकाई करता हो, जो जिसका क्षौरकर्म्म करता हो, जिसके समीप आत्म सम-र्पण वा निवेदन किये हो,—उसका भी अन्न भोजन किया जाता है ॥ २५३ ॥ जिसका जैसा स्वभाव, कर्म्म और इच्छा हो और जैसी सेवा कर सके, वह माननीय लोगोंके समीप उसही भांति अपना निवेदन करे ॥ २५४ ॥ जो पुरुष अपने स्वभावको छिपाके साधुपुरुषोंके निकट अपनेको अन्य प्रकारसे प्रगट करता है, वह पापियोंमें अग्रगण्य यथार्थ चोर है, क्योंकि उसने आत्माको छिपाया वा चोरी करता है ॥ २५५ ॥ सब पदार्थ वचनमें नियत हैं, सारे पदार्थ वाक्यमूलक हैं, वचनसेही सब पदार्थ बाहिर होते हैं, जिस पुरुषने झूठ बोलके उस वचनको चुराया वह सर्व्वस्व चोरी किया

न्माध्यस्थ्यमाश्रितः ॥ २५७ ॥ एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः। एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥ २५८ ॥ एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती। स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥ अनेन विप्रो वृत्तेन वर्त्तयन् वेदशास्त्रवित्। व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

करता है ॥ २५६ ॥ स्वाध्यायसे ऋषियों, पुत्र उत्पन्न करके पितरों और यज्ञसे विधिपूर्व्वक देवताओंके ऋणसे छूटकर परिवारादि प्रतिपालनका सब भार योग्य पुत्रके हाथमें सौंपकर पुत्र स्त्रीधन प्रभृतिमें आसक्तिरहित होकर मध्यस्थभावसे घरमेंही रहे ॥ २५७ ॥ निर्ज्जन स्थानमें अकेले निवास करते हुए सदा अपना हित विचारे इसही प्रकार विचार वा ध्यान करनेसे परम कल्याण प्राप्त हुआ करता है॥ २५८ ॥ यह गृहस्थ ब्राह्मणके शाश्वतवृत्ति विधानकी बात कही गई और सतोगुण वर्द्धक स्नातक व्रतकी भी शुभ विधि कहीं गई ॥२५९॥ जो वेदज्ञ ब्राह्मण इस प्रकार शास्त्रमें कही हुई वृत्तिसे जीविका निभाता है, वह सर्व्वदा पाप रहित होकर ब्रह्मलोकमें आदर पाता है ॥ २६० ॥

चौथा अध्याय समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः।
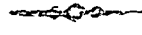
श्रुत्वैतानृषयो धर्म्मान् स्नातकस्य यथोदितान्। इदमूचुर्महात्मानमनल-प्रभवं भृगुम्॥१॥ एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्म्ममनुतिष्ठताम्। कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो॥२॥ स तानुवाच धर्म्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः। श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्रान् जिघांसति॥३॥ अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्ज्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति॥४॥ लशुनं गृञ्जनञ्चैव पलाण्डुं कवकानि च। अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥५॥ लोहितान् वृक्षनिर्य्यासान् व्रश्चनप्रभवांस्तथा। शेलुं गव्यञ्च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्ज्जयेत्॥६॥ वृथाकृसरसंयावं

अथ पञ्चम अध्याय।

ऋषि लोगोंने स्नातक गृहस्थोंके इस प्रकार पूर्व्वकथित धर्म्म सुनके अग्निसे उत्पन्न महात्मा भृगुसे पूछा, प्रभु! वेदज्ञ ब्राह्मणोंपर मृत्यु किस कारणसे अपना प्रभाव विस्तार करती है, वे क्यों वेदमें कही हुई परमायु प्राप्तिके पहिले असमयमें ही कालके गालमें पड़ते हैं? ॥१।२॥ धर्म्मात्मा मनुपुत्र भृगु महर्षियोंसे कहने लगे कि जिन दोषोंसे मृत्यु ब्राह्मणोंका प्राणहरण करती है, उसे सुनिये॥३॥ वेदाभ्यास न करने, सदाचार छोड़ने, कर्त्तव्य कार्य्योंमें आलसी होने और दूषित अन्न खानेसे मृत्यु ब्राह्मणोंको मारती है॥४॥ लहसुन, गाजर, पलाण्डु, कुम्हड़ा तथा विष्ठासे उत्पन्न शाक आदि द्विजातियोंके अभक्ष्य हैं॥५॥ वृक्षका निर्य्यास जो कठोरताको प्राप्त हुआ है, वृक्ष काटनेपर जो निर्य्यास बाहिर होता है, चालता और गऊका पेयूष यत्नपूर्व्वक छोड़ देवे॥६॥

पायसापूपमेव च। अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७॥ अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा। आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः॥ ८॥ आरण्यानाञ्च सर्व्वेषां मृगाणां माहिषं विना। स्त्रीक्षीरञ्चैव वर्ज्यानि सर्व्वशुक्तानि चैव हि॥ ९॥ दधि भक्ष्यञ्च शुक्तेषु सर्व्वञ्च दधिसम्भवम्। यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्प-मूल-फलैः शुभैः॥ १०॥ क्रव्यादान् शकुनीन् सर्व्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः। अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभञ्च विवर्ज्जयेत्॥ ११॥ कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राङ्गं ग्रामकुक्कुटम्। सारसं रज्जुवालञ्च दात्यूहं शुकसारिके॥ १२॥ प्रतुदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान्। निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च॥ १३॥

कृशर, संयाव और अपूप, पशुमांस नैवेद्य आदि देवान्न और घृत आदि होमकी वस्तुओंको देवोद्देशके हेतु न बननेपर भोजन न करे॥ ७॥ जिन गरू आदि पशुओंका दूध पीया जाता है—प्रसवके बाद बिना दस दिन बीते न पीवे और ऊंटका दूध, एक खुरवाले अर्थात् घोड़ी आदिका, रजस्वला गऊका अथवा जिस गऊका बच्चा स्थानान्तरमें मर गया हो, उसका दूध न पीवे॥८॥ भैंसको छोड़कर जङ्गली पशुओंका दूध स्त्रीका स्तन और शुक्त (कांजी) कदापि न पीवे॥ ९॥ कांजीके बीच दही, दहीका मट्ठा, मक्खन और उत्तम फूल फल मूल तथा जलके साथ मिलाकर जो कांजी बनती है, उसे पीना चाहिये॥ १०॥ गिद्ध आदि जो सब पक्षी कच्चा मांस खाते हैं, पारावत, पलुवे पक्षियां, गधे आदि एक खुरवाले पशुओं और जो यज्ञाङ्गोंमें निर्दिष्ट नहीं हुए तथा टिट्टिभ पक्षी भक्षण न करे॥ ११॥ कलविङ्क, पनडुब्बी, हंस, चकवा, पलुए मुग, सारस, रज्जुवाल, दात्यूह और शुकसारिका भक्षण न करे॥ १२॥ दार्व्वाघाटादि तथा शारादि पक्षियों तथा कायष्टि, बाज और बक्तर आदि पक्षियोंका मांस न खाय। कसाईके स्थानमें विक्रीके वास्ते रखा हुआ मांस तथा सूखा

बकञ्चैव बलाकञ्च काकोलं खञ्जरीटकम् । मत्स्यादान् विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्व्वशः ॥ १४ ॥ यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते । मत्स्यादः सर्व्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्ज्जयेत् ॥ १५ ॥ पाठीनरोहिताबाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः । राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्व्वशः ॥ १६ ॥ न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् । भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्व्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥ श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा । भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥ छत्राकं विड्वराहञ्च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डुं गृञ्जनञ्चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः ॥ १९ ॥ अमत्यैतानि षड्जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥ संवत्सरस्यैकमपि चरेत् कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।

मांस न खाये ॥ १३ ॥ बगुला, बगुली, काकोल, खञ्जन पक्षियोंऔर मछली तथा विष्ठा खानेवाले सूकर आदि तथा सब तरहकी मछलियोंको न खाय ॥ १४ ॥ जो जिसका मांस खाता है, उसे उसका मांसाहारी कहते हैं, परन्तु मछलियां, सबका मांस खाती हैं, इस लिये मछली न खावे ॥ १५ ॥ पाठीन, रोहू, राजीव, शकुल और छहीवाली मछलियोंका मांस देवताओंको समर्पण करके खाना उचित है ॥ १६ ॥ सर्पादि जो अकेले चरते हैं, जो पशु पक्षी अभक्ष्य करके विशेषरूपसे निर्दिष्ट नहीं हैं, परन्तु उनके नाम और जाति भली भांति मालूम न हो तथा बन्दर आदि पांचनखवाले अभक्ष्य हैं ॥ १७ ॥ पंचनखोंके बीच सजारू, शल्यक, गोसाप गैंड़ा, कछुवा और खरगोश भक्ष्य हैं और एक प्रान्तके दांतवालोंमेंसे ऊंटका मांस यज्ञमें खाया जाता है ॥ १८ ॥ कुम्हड़ा, पलुआ सूअर, लहसन, पलुआ मुर्गा और गाजर खानेसे द्विजाति पतित होते हैं ॥ १९ ॥ ऊपर कहीं हुई छहों वस्तुओंको बिना जाने खाके सप्ताह भर सान्तपन व्रत वा यति चान्द्रायण व्रत करे, इसके सिवा छत्रोंके

अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥ यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः । भृत्यानाञ्चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत् पुरा ॥ २२ ॥ बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् । पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥ यत्किञ्चित् स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् । तत् पर्य्युषितमप्याद्यं हविःशेषञ्च यद्भवेत् ॥ २४ ॥ चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः । यवगोधूमजं सर्व्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥ एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः । मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्ज्जने ॥ २६ ॥ प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानाञ्च काम्यया । यथाविधि

नियासादि अभक्ष्य वस्तुओंको खाकर दिन रातिभर उपवास करे ॥ २० ॥ यदि बिना जाने कोई चीज खावे, तो ऐसे सन्देहस्थलमें ब्राह्मण सम्वत्सरके बीच कमसे कम एक प्राजापात्य व्रत करे । परन्तु जानके निन्दित अन्न खानेसे दोषके अनुसार विशेष विशेष प्रायश्चित्त करे ॥ २१ ॥ यज्ञ अथवा पालन करने योग्य लोगोंके पालन पोषणके वास्ते ब्राह्मण लोग श्रेष्ठ मृग और पशुपक्षियोंको मार सकते हैं, पहले समयमें अगस्त्य मुनिने ऐसा ही किया था ॥ २२ ॥ पहिले समयमें ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रियोंके यज्ञमें भक्ष पशुपक्षियोंके मांससे पुरोडास बनता था ॥ २३ ॥ अनिन्दित खानेकी चीजें बासी होनेपर भी उसमें घी तेल वा दही मिलाकर खा सकते हैं । होमसे बचे हुए चरु आदि बासी होनेपर बिना घी डाले भी खाये जाते हैं ॥ २४ ॥ यव गेहूंकी बनी हुई चीजें और दूधकी सब वस्तुएं यदि कई दिनकी भी बासी हों तौभी बिना घृत आदि चिकनाईके मिलाये ही द्विजाती लोग खा सकते हैं ॥ २५ ॥ द्विजातियोंके भक्ष्य अभक्ष्य सब कहे; अब मांसका भक्षण और त्याग कहता हूं ॥ २६ ॥ यज्ञ होमसे बचा हुआ सब मांस खाया जाता और बहुतसे ब्राह्मणोंके कहनेसे भी मांस भक्षण किया जा सकता है । शास्त्रविधिसे श्राद्ध आदिमें वा

नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥ प्राणस्यान्नमिदं सर्व्वं प्रजापतिरकल्पयत्। स्थावरं जङ्गमञ्चैव सर्व्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥ चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः । अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणाञ्चैव भीरवः ॥२९॥ नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि । धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥३०॥ यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः । अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥ क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा । देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा खादन् मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥ नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः । जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥३३॥ न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः । यादृशं भवति

मांस अवश्य भक्ष्य है और रोग होने तथा भोजन न मिलनेसे प्राणसङ्कट होनेपर मांस खाया जा सकता है ॥ २७ ॥ पृथ्वीपर जो कुछ वस्तुएं हैं, उन्हें ब्रह्माने जीवोंके लिये अन्नरूपसे उत्पन्न किया है; इस वास्ते स्थावर जङ्गम दोनों ही जीवोंके भोजनीय हैं ॥ २८ ॥ अचर तृण आदि स्थावर चरणशील पशुपक्षियोंके भक्ष्य हैं, दांतवाले प्राणी बे-दांतवालोंको खाते हैं; बिना हाथवाली मछली आदि हाथवाले मनुष्योंके भक्ष्य हैं और डरपोक जीव सदाही वीर लोगोंके भक्ष्य हैं ॥ २९ ॥ आहार समझकर भक्ष्य जीवोंको खानेसे भोजन करनेवालेको कुछ पाप नहीं होता क्योंकि एक विधाताने ही किसी जीवको भक्ष्य और किसीको भोक्तारूपसे उत्पन्न किया है ॥३०॥ तब यज्ञमें मांस भक्षण देवविधि है और शरीर पुष्टिके लिये मांस खाना राक्षसोचित कर्म्म है ॥ ३१ ॥ पशुमांस खरीदके, भीख मांगके शिकार करके अथवा दूसरेसे दान लेके देवता तथा पितरोंको समर्पण करके खानेसे दोषभागी नहीं होना होता ॥ ३२ ॥ बिना आपत्कालके, विधि जाननेवाला द्विज कदापि अवैध मांस भोजन न करे; अवैध मांस खानेसे परकालमें पशुओंके द्वारा अवश्य भावसे भक्षित

प्रेत्य वृथामांसानि खादकः ॥ ३४ ॥ नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः । स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥ असंस्कृतान् पशून् मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन । मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥ कुर्य्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्य्यात् पिष्टपशुं तथा । नत्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत् कदाचन ॥ ३७ ॥ यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् । वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥ यज्ञार्थ पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा । यज्ञोऽस्यभूत्यसर्व्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३९॥ ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्य्यञ्चः पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितीः पुनः ॥४०॥ मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्म्मणि ।

होना पड़ता है ॥ ३३ ॥ वृथा मांस खानेवाले परलोकमें जैसा पाप भोगते हैं, अर्थके वास्ते हरिन मारनेसे व्याधोंको वैसा पाप नहीं होता ॥ ३४ ॥ परन्तु जो मनुष्य देवकार्य्य तथा पितृकर्म्ममें शास्त्रविधिसे नियुक्त होकर मांस भोजन नहीं करता वह इक्कीस बार पशुयोनिमें जन्मता है ॥ ३५ ॥ बिना मन्त्रसे शुद्ध किये ब्राह्मण कभी पशुमांस न खावे; परन्तु अनादि बहुमाननीय विधिअनुसार मन्त्रसे शुद्ध करके शुद्ध मांस भक्षण करे ॥ ३६ ॥ मांस खानेकी बहुत इच्छा हो तो घृतयुक्त पिष्टकमयी पशु प्रतिकृति करके खावे परन्तु बिना देवकार्य्यके कभी वृथा पशु मारनेकी इच्छा न करे ॥ ३७ ॥ पशुओंके देहमें जितने रोम हैं; वृथा पशु मारनेवालेका उतने जन्म जन्मान्तरमें हत्याजनित विनाश होता है ॥ ३८ ॥ ब्रह्माने यज्ञकार्य्यके लिये पशुओंको बनाया और सारे जगत्के वास्ते यज्ञविहित है; इस लिये यज्ञमें जो पशु मारे जाते हैं, उससे अधर्म्म वा पाप नहीं होता ॥ ३९ ॥ यव आदि धान्य, औषधियां, पशु, वनस्पति तिर्य्यक् जाति और पक्षियां यज्ञके वास्ते मरते हैं ॥ ४० ॥ मधुपर्क ज्योतिष्टोमादि यज्ञों तथा पितृ और देवकार्य्यके लिये पशुहिंसा करे ।

अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥ एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः । आत्मानञ्च पशूंश्चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥ गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान् द्विजः । नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥ या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे । अहिंसा-मेव तां विद्याद्वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥ योऽहिंसकानि भूतानि हिन-स्त्यात्मसुखेच्छया । स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥ ४५ ॥ यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति । स सर्व्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्त-मश्नुते ॥ ४६ ॥ यद्ध्यायति यत् कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च । तदवाप्नो-त्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥ ४७ ॥ नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्-पद्यते क्वचित् । नच प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्ज्जयेत् ॥ ४८ ॥ समुत्-

---

अन्य किसी कार्य्यमें पशुओंको न मारे ; मनुने स्वयं ऐसा कहा है ॥ ४१ ॥ इन मधुपर्कादि कार्य्योंके वास्ते पशु मारकर वेदतत्वके जाननेवाले द्विज अपनी तथा पशुओंकी सद्गति करते हैं ॥ ४२ ॥ गुरुगृह, गृहस्थ अथवा वनवासके समय विपद पड़नेपर भी वेद-विरुद्ध हिंसा करना आत्मज्ञ पुरुषोंको कदापि उचित नहीं है ॥ ४३ ॥ इस जगतमें वेदविहित पशुहिंसाका जो नियम है, उसे अहिंसा समझो ; क्योंकि वेदसे धर्म्म स्वयं प्रकाशित हुआ है ॥ ४४ ॥ जो पुरुष अपने सुखकी इच्छा करके हिंसारहित निरीह जीवोंको मारता है वह जीते हुए तथा मारनेके अनन्तर कहीं भी सुख नहीं पा सकता ॥ ४५ ॥ जो पुरुष प्राणियोंको वध बन्धनादि क्लेश देनेकी इच्छा नहीं करता, सबके हितकी इच्छा करनेवाला वह पुरुष अत्यन्त सुख भोगता है ॥ ४६ ॥ जो किसीकी भी हिंसा नहीं करते वे जो कुछ ध्यान, धर्म्म करते तथा जिस विषयमें एकाग्र होते ; वह सब सहजहीमें सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥ बिना प्राणिहिंसाके कदापि मांस नहीं मिलता ; प्राणियोंको मारना किसी

पत्तिञ्च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्। प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत सर्व्वमांसस्य भक्षणात ॥ ४९ ॥ न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत। स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥ अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥ स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति। अनभ्यर्च्य पितॄन् देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥ वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥ फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानाञ्च भोजनैः। न तत् फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्ज्जनात् ॥ ५४ ॥ मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥ न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा

भांति स्वर्गजनक नहीं है; इस लिये मांस न खावे ॥ ४८ ॥ मांसकी उत्पत्ति, वध बन्धनकी पीड़ा, इन सबकी विशेष पर्य्यालोचना करके वैध अवैध सब प्रकारके मांस खानेसे निवृत्त होना उचित है ॥ ४९ ॥ जो लोग शास्त्रकी विधि छोड़के पिशाचकी भांति मांस नहीं खाते, वे लोकसमाजमें प्रिय और व्याधिरहित होते हैं ॥ ५० ॥ पशु मारनेकी अनुमति देनेवाला, मारे हुए पशुमांसको विभाग करनेवाला, स्वयं पशु मारनेवाला, मांस खरीदने तथा वेचनेवाला मांस परोसनेवाला तथा मांस खानेवाले; ये सभी घातक हैं ॥ ५१ ॥ जो पुरुष पितर और देवताओंकी पूजा न करके दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाता है, वह पाप करनेवाला है ॥ ५२ जो एक सौ अश्वमेध यज्ञ करता और जो पुरुष मांस भोजन नहीं करता, उन दोनोंका पुण्यफल समान है ॥ ५३ ॥ पूरी रीतिसे मांस छोड़नेसे जैसा फलप्राप्त होता है, पवित्र फल मूल अथवा नीवारादि मुनिजनसेवित अन्न भोजन करनेसे वैसा फल नहीं प्राप्त होता ॥ ५४ ॥ इस लोकमें मैं जिसका मांस खाता हूं, परलोकमें वह मुझे भक्षण करेगा ॥

भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥ प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च। चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्व्वशः ॥ ५७ ॥ दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूड़े च संस्थिते। अशुद्धा बान्धवाः सर्व्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥ दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। अर्व्वाक सञ्चयनादस्थ्नां त्र्यह-मेकाहमेव च ॥ ५९ ॥ सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते। समानोदक-भावस्तु जन्म-नाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥ यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। जनेऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम् ॥६१॥ सर्व्वेषां शावमाशौचं माता-

---

५५ ॥ वैध मद मांस खाने और मैथुनमें दोष नहीं है, क्योंकि इसमें जीवोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है; परन्तु इन विषयोंमें निवृत्ति होना महापुण्यजनक है ॥ ५६ ॥ ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंकी प्रेत शुद्धि और द्रव्यशुद्धि जिस प्रकार वर्णित है उसे पूरी रीतिसे कहता हूं, सुनो ॥ ५७ ॥ बालकके दांत जमने तथा दांत उत्पन्न होनेके बाद चूड़ा-करण वा उपनयनके समय उस बालककी मृत्यु हो, तो सपिण्ड-समानोदक यथासम्भव सबको सूतक होता है और बालक जन्मनेपर भी उसी प्रकार अशुद्धि होती हैं ॥ ५८ ॥ सपिण्डकी मृत्यु होनेपर ब्राह्मणको दस रात्रि सूतक लगता है अथवा चार तीन वा एक दिनरात्र अशौच विहित है। ब्राह्मणके वेदज्ञान और अग्निचर्य्याको विचारके अशौचमें घटती बढ़ती होती है। सब गुण विरहित ब्राह्मणको दस रात्रि अशौचविहित है ॥ ५९ ऊपरसे गिने चाहे नीचेसे गिने सपिण्डता सात पुरुषोंमें निवृत्त होती है; परन्तु जलसम्बन्ध वा समानोदक भाव बराबर रहता है; केवल नाम और गोत्र अपरिज्ञात होनेसे ही शान्त होना कहाता है ॥ ६० ॥ जिस प्रकार मरनेका सूतक सपिण्ड लोगोंमें कहा है,—जो लोग सब प्रकारसे पवित्रताकी इच्छा करते हैं, उनके लिये जन्मनेका अशौच भी इस ही प्रकार जानो ॥ ६१ ॥ मृताशौचमें असपृश्यरूप अशौच सबका

पित्रोस्तु सूतकम्। सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः॥ ६२॥ निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुध्यति। वैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम्॥ ६३॥ अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः। शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः॥ ६४॥ गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्। प्रेताहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति॥ ६५॥ रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति। रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला॥ ६६॥ नृणामकृतचूड़ानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता। निर्वृत्तचूड़कानान्तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते॥ ६७॥ ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा

ही समान है; परन्तु जन्मनेका अशौच केवल माता पिताको ही अस्पृश्यत्वरूप अशौच माताको दशरात्रितक हुआ करता है, परन्तु पिता नहानेसे ही छूने योग्य होता है॥ ६२॥ पुरुष कामवशसे वीर्य्यपात करनेपर नहानेसे शुद्ध होता है, परन्तु केवल बीजसम्बन्ध रहनेसे तीन दिन अशौच जानो॥ ६३॥ ब्राह्मणके गुणवान होनेपर भी यदि सपिण्डका शव स्पर्श हो तो वह तीन गुणित तीन दिन अर्थात् नव दिन और एक दिन, इस दस दिन रात्रिमें शुद्ध होता है; किन्तु समानोदकवालोंका मुर्दा छूनेसे तीन रात्रिका अशौच जानो॥ ६४॥ शिष्य गुरुकी अन्त्येष्टि-क्रिया करनेसे सपिण्डकी भांति दस दिनरात्रि दिनमें शुद्ध होता है॥ ६५॥ तीन महीनेसे छ महीनेतक स्त्रियोंके गर्भस्राव माससंख्या क्रमसे अशौचका दिन निर्णय होता है। ऋतुमती स्त्रीका रज बन्द होनेपर पांचवें दिन देवकार्य्यमें अधिकार होता है, परन्तु तीन रात्रि बीतनेपर चौथे दिनमें ही स्वामीके स्पर्शयोग्य होती है॥ ६६॥ चूड़ाकरण रहित बालकके मरनेपर सपिण्ड लोग एक दिन रातमें शुद्ध होते हैं। चूड़ाकरण होनेपर उपनयनसे पहिले मरनेपर तीन रात्रिका अशौच जानो॥ ६७॥ दो वर्षसे कम उमरवाले बालकके मरनेपर बान्धव लोग उसे गांवके बाहिर ले

बहिः। अलङ्कृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनादृते ॥ ६८ ॥ नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया। अरण्ये काष्ठवत् त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च ॥ ६९ ॥ नात्रिवर्षस्य कर्त्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया। जातदन्तस्य वा कुर्य्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥ ७० ॥ सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्। जन्मन्येकोदकानान्तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥ स्त्रीणामसंस्कृतानान्तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः। यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥ अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम्। मांसाशनञ्च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥ सन्निधावेव वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्त्तितः। असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिबान्धवैः ॥ ७४ ॥ विगतन्तु

जाके माला चन्दन आदिसे अलंकृत कर साफ भूमिमें गाड़ रखें ॥ ६८ ॥ ऐसे बालकके वास्ते अग्निकार्य्य वा जलदान आदि नहीं है। इसे जङ्गलमें काष्ठकी भांति त्याग दे और शास्त्रविधि न करके तीन रात्रितक अशौच माने ॥ ६९ ॥ जिस बालककी उमर तीन वर्षसे कम हो सपिण्ड लोग उसका अग्निसंस्कार वा जल दान आदि कार्य्य न करें, परन्तु उसके दांत जमने तथा नामकरणयुक्त होनेपर जलदानसे प्रेतलोग प्रसन्न होते हैं, परन्तु जल न देनेसे भी दोष नहीं है ॥ ७० ॥ सहपाठी ब्रह्मचारीकी मृत्यु होने और अपरिणीत वाग्दत्ता स्त्रीके मरनेपर उत्तम बान्धवोंको तीन रात्रि अशौच होता हैं और पितृपक्षवाले भी इस ही भांति शुद्ध हुआ करते हैं ॥ ७१।७२ ॥ मरनेका अशौच होनेपर अकृत्रिम नमकके साथ अन्नभोजन करना होता है, तीन दिनतक शरीर मार्ज्जन न करके नदी आदिमें स्नान करे मद्य मांस न खाय और अकेला भूमिपर सोवे ॥ ७३ ॥ निकटमें मरनेपर मृत अशौचकी यही विधि कही गई परन्तु विदेशमें बान्धवोंके मरनेपर भी सपिण्ड आदि बान्धवोंको नीचे लिखी अशौच विधि जानो ॥ ७४ ॥ विदेशमें मरे बान्धवका समाचार

विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्। यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचि-र्भवेत् ॥ ७५॥ अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्। संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुध्यति ॥ ७६ ॥ निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च। सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥ बाले देशा-न्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते। सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशु-ध्यति ॥ ७८ ॥ अन्तर्दशाहे स्यातां चेत् पुनर्मरणजन्मनी तावत् स्याद-शुचिर्विप्रो यावत् तत् स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥ त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्य्ये संस्थिते सति। तस्य पुत्रे च पत्न्याञ्च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥ श्रोत्रिये तूपसम्पन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्। मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्य-

---

यदि दस रात्रिके बीच मिले तो उस दशाहमें जितने दिन बाकी हों, उतने ही दिनतक अशौच मानना होगा। विदेशमें सपिण्ड जन्मनेपर भी यही व्यवस्था जानो ॥ ७५ ॥ यदि दस दिन बीतनेपर मरनेका सम्बाद मिले तो सुननेपर त्रिरात्रि अशौच होता है। सम्वत्सर बीतनेपर मृत्युसम्बाद मिले तो स्नान करनेसे ही शुद्ध होता है ॥ ७६ ॥ दस दिन बीतनेपर ज्ञाति मरण वा पुत्र जन्मनेकी बात सुने तो अपने शरीरकी असपर्शनीयतारूपी अशौच पहने हुए वस्त्रोंके सहित स्नान करनेसे ही शुद्ध हो सकता है ॥ ७७ ॥ देशान्तरमें स्थित वेदांतवाले बालक वा विदेशमें किसी समानोदक बान्धवके मरनेपर स्नान करनेसे उसी समय शुद्धि होती है ॥ ७८ ॥ दस दिन अशौचके बीच फिर यदि कोई जन्म वा मरणका अशौच हो, तो पहिले अशौचके साथ ही साथ दूसरा अशौच भी शेष हुआ करता है ॥ ७९ ॥ आचार्य्यके मरनेपर शिष्यको तीन रात्रिका अशौच और आचार्य्यकी स्त्री वा पुत्र मरनेपर एक दिन रात्रिका अशौच जानो ॥८०॥ एक गृहवासी वेदशास्त्रपाठीके मरनेपर तीन रात्रि अशौच माना जाता है॥ मामा,

त्विंग्वान्धवेषु च ॥ ८१ ॥ प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः । अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥ शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः । वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥ ८३ ॥ न वर्द्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः । न च तत् कर्म्म कुर्व्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥ दिवाकीर्त्तिमुदक्याञ्च पतितं सूतिकां तथा । शवं तत्स्पृष्टिनञ्चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥ ८५ ॥ आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने । सौरान् मन्त्रान् यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥ ८६ ॥ नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति । आचम्यैव तु निःस्नेहं

पुरोहित, शिष्य और पितृव्यादि बान्धवोंके मरनेपर पक्षिणी अशौचकी विधि है ॥ ८१ ॥ जिसके अधिकारमें वास किया जाता है उस अभिषिक्त क्षत्रिय राजाके दिनमें मरनेपर दिनभर और रात्रिमें मरनेसे रात्रिभर अशौच रहता है । एक गृहमें वसनेवाले वेदानभिज्ञ ब्राह्मणके मरनेसे एक दिन तथा साङ्ग वेद पढ़ानेवालेके मरनेपर एक दिन अशौच होता है ॥ ८२ ॥ उपनीत सपिण्डके मरने अथवा पूरे गर्भसे जन्मनेपर इत्त स्वाध्याय रहित ब्राह्मणोंकी दस दिन, क्षत्रियोंकी बारह, वैश्योंकी पन्द्रह और शूद्रोंकी एक महीनेमें शुद्धि होती है ॥ ८३ ॥ अशौचकी दिन-संख्या बढ़ाना उचित नहीं है ; श्रौत-स्मार्त अग्निकार्य्यमें व्याघात न करे, होम आदि कार्य्य करनेके समय सपिण्ड होनेपर भी उसे अशुद्धि नहीं होती ॥८४॥ चाण्डाल, ऋतुमती स्त्री ब्रह्महत्यारा, दस दिनतक नव प्रसूता सूतिका, मुर्दा और मुर्दा छूनेवाला, इन्हें छूके स्नान करनेसे शुद्ध होता है ॥ ८५ ॥ आचमनके बाद एकाग्र चित्त होकर जब मन्त्र पढ़े वा देवताका ध्यान करे उस समय यदि चाण्डाल आदि अशुभदर्शन हो तो उत्साहके साथ यथाशक्ति वेदोक्त सौर मन्त्र जपे ॥ ८६ ॥ मरे मनुष्यकी गीली हड्डी छूके स्नान करके शुद्ध होता परन्तु सूखी हड्डी छूनेसे आचमन करके

गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥८७॥ आदिष्टी नोदकं कुर्य्यादा व्रतस्य समापनात्। समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥ ८८ ॥ वृथासङ्करजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्। आत्मनस्त्यागिनाञ्चैव निवर्त्ततोदकक्रिया ॥ ८९ ॥ पाषण्डमाश्रितानाञ्च चरन्तीनाञ्च कामतः। गर्भभर्तृद्रुहाञ्चैव सुरापीणाञ्च योषिताम् ॥ ९० ॥ आचार्य्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्। निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान् न व्रतेन वियुजते ॥ ९१ ॥ दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत्। पश्चिमोत्तरपूर्व्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥ न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम्। ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि

तथा सूर्य्य दर्शन और गऊ स्पर्श करनेसे शुद्धि होती है ॥ ८७ ॥ माता-पिता और आचार्य्यके सिवाय दूसरे सपिण्डके मरनेपर ब्रह्मचारीको चाहिये कि जब तक ब्रह्मचर्य्य व्रत समाप्त न हो, तबतक अशौच रहके पूरक पिण्डदान तथा षोड़श श्राद्ध आदि प्रेतकार्य्य न करे; परन्तु व्रत समाप्त होनेपर प्रेतकार्य्य पूरा करके तीन रात्रि अशौच रहनेसे शुद्ध होगा ॥ ८८ ॥ वृथाजात (पञ्च महायज्ञादिसे रहित होनेसे जिसका जन्म वृथा हुआ) सङ्करजात जो (मिश्रित वर्णके संयोगसे पैदा हुए हैं,) वेद विरुद्ध लाल वस्त्रादि पहरनेवाले कपटी, प्रवज्याश्रमी और उदबन्धनादिसे मरनेवाले,—इन्हें जल दान न करे ॥ ८९ ॥ जो स्त्रियां वेदके बाहिर पाखण्डियोंको आश्रित हैं, स्वेच्छापूर्व्वक अनेक पुरुषोंसे गमन करनेवाली, गर्भ गिरानेवाली और पतिको मारनेवाली तथा जो स्त्रिय मद्य पीती हैं, उनकी उर्द्धदेहिक क्रिया नहीं है ॥ ९० ॥ अपने आचार्य्य, उपध्याय, पिता माता और गुरुकी अन्त्येष्ठि क्रिया करनेसे ब्रह्मचारीका व्रत लोप नहीं होता ॥ ९१ ॥ शूद्रका मृत शरीर पुरके दक्षिण द्वारसे वैश्यका पश्चिम, क्षत्रियका उत्तर और ब्राह्मणका प्राव पूर्व्वद्वारसे श्मशानमें ले जावे ॥ ९२ ॥ राजकार्य्य समाप्त करनेके समय राजा ब्रह्मचर्य्यके समय

ते सदा ॥ ९३ ॥ राज्ञो महात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनञ्चात्र कारणम् ॥ ९४ ॥ डिम्बाहवहतानाञ्च विद्युता पार्थिवेन च । गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥ सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च । अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥ लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते । शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७ ॥ उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्म्महतस्य च । सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥ विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् । वैश्यः प्रतोदं रश्मीन् वा यष्टिं

ब्रह्मचारी और यज्ञके समय यज्ञ करनेवालेको अशौच नहीं लगता। क्योंकि उस समय वे इन्द्रत्वपदपर बैठते तथा सदा ब्रह्मभाव युक्त रहते हैं ॥ ९३ ॥ महा महात्मयुक्त राजासनपर बैठे हुए राजाके वास्ते सद्य अशौच विहित है, क्योंकि प्रजाकी भली भांति रक्षा करनेके हेतुभूत उसका वह आसनही अशौच भावका कारण है ॥ ९४ ॥ राजा रहित युद्धमें मरने, वज वा राज दण्डसे प्राण नष्ट होने वा गऊ ब्राह्मणके हितके वास्ते प्राण त्यागनेपर स्वजनोंको सद्य अशौच और राजा जिसके अशौच भावकी इच्छा करे उसे भी सद्य अशौच होता है ॥ ९५ ॥ राजा चन्द्र, अग्नि, सूर्य्य, वायु, इन्द्र, कुवेर वरुण और यम,—इन आठों लोकपालोंकी मूर्त्ति धारण करता है ॥ ९६ ॥ लोकपालगण राजाके शरीरमें स्थित हैं, इस लिये उसे अशौच (सूतक) नहीं हो सकता। क्योंकि नित्य शुद्ध लोकपालोंके प्रभावसेही मर्त्यलोकमें शौच अशौच प्रवर्त्तित हुआ करता है ॥ ९७ ॥ जो क्षत्रिय निज धर्म्मके अनुसार युद्ध क्षेत्रमें सन्मुख शस्त्रसे मरता है, वह ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंका फल पाता और उसका अशौच भी उसी समय समाप्त हुआ करता है,—यह शास्त्रविधि है ॥ ९८ ॥ ब्राह्मण अशौचके अन्तमें श्राद्धआदि करके जलस्पर्श करनेसे शुद्ध होता

शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥ एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः। असपिण्डेषु सर्व्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥ असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत्। विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥ यद्यन्नमत्ति तेषान्तु दशाहेनैव शुध्यति। अनदन्नन्नमह्नैव न चेत् तस्मिन् गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥ अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा। स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ १०३ ॥ न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्। अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥ ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्य्युपाञ्जनम्। वायुः कर्म्मार्क-

---

है, क्षत्रिय वाहन तथा शस्त्रादि छूने, वैश्य पशुताड़न दण्ड वा लगाम छूने और शूद्र अशौचके शेषमें लाठी स्पर्श करनेसे शुद्ध होता है ॥ ९९ ॥ हे द्विजश्रेष्ठलोग! सपिण्डके मरनेपर जिस प्रकार अशौच होता है, वह तुम लोगोंसे कहा, अब असपिण्डके मरनेपर जिस प्रकार अशौच होता है, उसे सुनो ॥ १०० ॥ असपिण्डके मरनेपर बन्धुकी भांति उसका दाह आदि कर्म्म करके ब्राह्मण तीन रात्रि अशौच रहके शुद्ध होता है ॥ १०१ ॥ परन्तु यदि मुर्दालानेपर ब्राह्मण मरे हुए असपिण्डके जाति वाले सपिण्डका अन्न खावेवे, तो उसे दस रात्रिका सूतक लगेगा और यदि मुर्दाजलानेके वाद उक्त असपिण्डका अन्न न ले और उसके घरमें न रहे तो एक दिनरातमें शुद्ध होता है ॥ १०२ ॥ स्वजन हो, चाहे अन्य कोई होवे, प्रीतिसे इच्छापूर्व्वक शवका अनुगमन करनेसे वस्त्र समेत स्नानकर अग्नि स्पर्श करने तथा घृत भोजन करनेसे शुद्ध होगा ॥ १०३ ॥ सजातियोंके रहते शूद्रोंसे द्विजातियोंका मुर्दा न उठावे, मृतदेह शूद्रके छूनेसे दूषित होनेपर वह मृत आत्माके स्वर्गका विरोधी होता है ॥ १०४ ॥ ज्ञान, तपस्या, अग्नि, आहार, मट्टी, मन, जल, उपाञ्जन अर्थात् गोमय आदिसे लेपन वायु, कर्म्म, सूर्य्य और काल ये सब देहधारियोंकी शुद्धिके

कालो च शुद्धेः कर्त्तृणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥ सर्व्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् । योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ १०६ ॥ क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्य्यकारिणः । प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥ मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति । रजसा स्त्री मनोदुष्टा सन्न्यासेन द्विजोत्तमः ॥ १०८ ॥ अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति । विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ १०९ ॥ एष शौचस्य वः प्रोक्तः शरीरस्य विनिर्णयः । नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥ ११० ॥ तैजसानां मणीनाञ्च सर्व्वस्याश्ममयस्य च ।

हैं ॥ १०५ ॥ देह और मन शुद्ध करनेवाले सब वस्तुओंके बीच अर्थ शौच अर्थात् धन अर्ज्जन करनेमें अन्याय वा निज धर्म्म त्याग न करनेको ऋषिलोग परम शौच कहते हैं । जो पुरुष धनोपार्ज्जनमें शुद्ध है, वही यथार्थमें पवित्र है, अर्थशुद्धि न रहनेपर केवल मट्टी वा जलसे शरीर शुद्ध करनेपर पवित्रता नहीं होती ॥ १०६ ॥ विद्वान लोग क्षमासे भी शुद्ध होते हैं, अकार्य्य करनेवाले दानसे, गुप्त पापी जपसे और वेद जाननेवाले ब्राह्मण तपस्याके सहारे पापसे शुद्ध होते हैं ॥१०७॥ धोने योग्य वाहिरी वस्तुएं तथा शरीर मट्टी वा जलसे शुद्ध होता है ; मल वाहक नदी सोतके वेगसे और दुष्ट चित्तवाली वा पर पुरुषसे मैथुनकी इच्छा करनेवाली स्त्री रजस्वला होनेसे शुद्ध होती और त्याग तथा प्रव्रज्यासे उत्तम द्विज शुद्ध होते हैं ॥१०८॥ जलसे शरीर शुद्ध होता, सत्य-बलसे मन शुद्ध रहता, विद्या और तपस्यासे जीवात्माको शुद्धि होती तथा ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध हुआ करती है ॥ १०९ ॥ यह शारीरक शौचका निर्णय तुम लोगोंसे कहा, अब अनेक तरहकी वस्तुओंके शुद्धिकी रीति सुनो ॥ ११० ॥ रूपा और सोना आदि सब धातु तथा मरकत मणि आदि पत्थरकी वस्तुएं राख, मट्टी और जलसे शुद्ध होजाती हैं,—पण्डितोंने

भस्मनाद्भिर्म्हदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥१११॥ निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भि-रेव विशुध्यति । अब्जमश्ममयञ्चैव राजतञ्चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥ अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमरूप्यञ्च निर्बभौ । तस्मात् तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥११३ ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च । शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं चारा-म्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥ द्रवाणाञ्चैव सर्व्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् । प्रोक्षणं संहतानाञ्च दारवाणाञ्च तक्षणम् ॥ ११५ ॥ मार्ज्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्म्मणि । चमसानां ग्रहाणाञ्च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥ चरूणां सुक्‌सुवाणाञ्च शुद्धिरुष्णेन वारिणा । स्फ्यशूर्पशकटानाञ्च मूषलोलू-खलस्य च ॥ ११७ ॥ अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् । प्रक्षा॰

रेखा ही स्थिर किया है ॥ १११ ॥ जूठा लगा हुआ स्वर्णपात्र जलसे शुद्ध होता है, शङ्ख मोती आदि जलकी वस्तु पत्थर तथा चांदीके पात्रमें यदि रेखा न पड़ी हों, तो वे जलसे धोनेसे शुद्ध होते हैं ॥ ११२ ॥ जल और अग्निके मेलसे सोना तथा रूपा उत्पन्न हुआ है, इसी लिये निज उत्पत्ति स्थान जल और अग्निसे सोना रूपा शुद्ध होता है ॥ ११३ ॥ तांबे, लोहे, कांसे, पीतल, रांगे और सीसेके पात्र राख, खटाई तथा जलसे शुद्ध हुआ करते हैं ॥ ११४ ॥ प्रसृति प्रमाण घी, तेल, कौवा तथा कीट आदिसे दूषित होनेपर वह प्रादेश प्रमाण कुशकी दो पत्ति-योंसे छिड़कनेसे शुद्ध होता है। शय्या आदिकी भांति सूतकी बनी वस्तुएं जलमें धोनेसे और काठकी चीजें छीलनेसे ही शुद्ध होती हैं ॥ ११५ ॥ यज्ञके जलपात्र सोमलताके पात्र तथा अन्य पात्र—इन्हें पहले हाथसे मांजकर पीछे जलमें धोनेसे ही शुद्ध होते हैं ॥ ११६ ॥ चरुस्थाली, स्रुक, स्रुवा, स्फ्य, सूप, शकट, मूषल और उखली आदि यज्ञकी चीजें घी, तेल लगाने तथा गर्म्म जलसे धोने पर शुद्ध होती हैं ॥ ११७ ॥ बहुतसा धान्य और अनेक वस्त्र किसी प्रकार अशुद्ध होनेसे जलके सहारे शुद्ध

अनेन त्वभ्यासामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥ चैलवच्चर्म्मणां शुद्धिर्वैद-लानां तथैव च । शाक-मूल-फलानाञ्च धान्यवत् शुद्धिरिष्यते ॥ ११६ ॥ कौषेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः । श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौर-सर्षपैः ॥ १२० ॥ क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च । शुद्धिर्विजानता कार्य्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥ प्रोक्षणात् तृणकाष्ठञ्च पलालञ्चैव शुध्यति । मार्ज्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥ मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥ सम्मार्ज्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च । गवाञ्च परिवासेन भूमिः शुध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥ पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम् । दूषितं

हो जाते हैं ॥ ११८ ॥ पाटुका पशुओंके चमड़े और वेत, वांस तथा तृणके बने हुए आसनोंकी शुद्धि वस्त्रकी तरह होगी और शाक, मूल, फल ये धान्यकी भांति शुद्ध हुआ करते हैं ॥ ११६ ॥ रेशमी और ऊनी वस्त्र खार तथा मट्टीसे शुद्ध होते हैं, नेपाली, कम्बल, नींवके चूर्णसे अंशु पट (वल्कल विशेष) वेलफलके निर्यासे, क्षौमवस्त्र सफेद सरसोंके चूर्णसे शुद्ध होते हैं ॥ १२० ॥ शंख, पशुओंके सींग, पशुओंकी हड्डी और दांतकी बनी चीजें क्षौमवस्त्रकी भांति गोमूत्र जलयुक्त सफेद सरसोंके चूर्णसे शुद्ध होंगी ॥ १२१ ॥ तृण, पाकके काष्ठ, पोवाल ये जलमें धोनेसे शुद्ध होते हैं; साफ करने तथा लीपनेसे घर शुद्ध होता और मट्टीके पात्र फिर पकानेसे शुद्ध होते हैं ॥ १२२ ॥ मट्टीका पात्र यदि मल, मूत्र, मद्य, श्लेष्मा तथा पीप रुधिरसे युक्त हो तो वह फिर पकानेपर भी नहीं शुद्ध होता ॥ १२३ ॥ झाड़ू देने, गोमयसे लीपने, गोमूत्र और जल छिड़कने छीलके साफ करने तथा एक दिनरात गऊके बसनेसे भूमि शुद्ध होती ॥ १२४ ॥ खानेकी चीजें पक्षियोंसे जूठी होने, गऊके संघने, वस्त्रके अंचल वा पैरसे छूई जाने, छींक पड़ने और केश कीटादिसे

केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥ यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः । तावन्मृद्वारि चादेयं सर्व्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥ त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् । अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥ आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् । अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥ नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् । ब्रह्मचारिगतं भैक्षं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥ नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने । प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥ श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् । क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥ ऊर्द्ध्वं नाभेर्यानि खानि

दूषित होनेपर मट्टी डालनेसे शुद्ध हुआ करती हैं ॥ १२५ ॥ विष्ठा मूत्रादिसे लिये वस्तुओंमें जबतक गन्ध और लेप रहे तबतक मट्टी जलसे शुद्ध करले ॥ १२६ ॥ पहिले अदृष्ट अर्थात् जिन चीजोंका स्पर्शजनित दोष न जाना गया हो, दूसरे जो जलसे धोई गई हों तीसरे शिष्ट लोग जिन्हें पवित्र कहते हों ब्राह्मणोंके वास्ते देवताओंने इन तीनोंको पवित्र कहा है ॥ १२७ ॥ जितने जलसे गऊकी प्यास बुझ सके, उतना जल यदि शुद्ध भूमिमें उत्तम गन्ध और रसयुक्त हो और उसमें अपवित्र चीजें न हों, तो उसे पवित्र जानो ॥ १२८ ॥ कारुकरका हाथ जबतक कारु कार्य्यमें लगा रहता है, तबतक शुद्ध, जो वस्तु बेंचनेको बाजार रक्खी हो वह अनेक लोगोंके छूनेपर भी शुद्ध है, ब्रह्मचारीकी भिक्षा सदा शुद्ध है ॥ १२९ ॥ स्त्रियोंका मुख सदा पवित्र, कौवा आदिके चोंचसे जो फल भूमिपर गिरता है उसे शुद्ध जानो, दूध दूहनेके समय गऊके बछड़ेका मुख पवित्र है और मृग मारनेके समय कुत्तेका मुख पवित्र जानो ॥ १३० ॥ जो पशु पक्षी कुत्तोंके द्वारा मारे गये हों, उनके मांसको मनुशुद्ध कहते हैं, सजीवी अन्य पशुपक्षियोंके द्वारा लाया हुआ मांस भी शुद्ध है

तानि मेध्यानि सर्व्वशः। यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥१३२॥ मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥ विण्मूत्रोत्सर्गशुध्यर्थं मृद्वार्य्यादेयमर्थवत्। दैहिकानां मलानाञ्च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ १३४ ॥ वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्र-विड्घ्राणकर्णविट। श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥१३५॥ एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश। उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धि-समीप्सता ॥ १३६ ॥ एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्। त्रिगुणं

और चाण्डाल व्याध जो मांस मारके लाते हैं वह भी शुद्ध मांस है ॥ १३१ ॥ नाभीके ऊपर जो-जो इन्द्रिय छिद्र हैं, वे सदा पवित्र हैं; उन्हें छूनेसे अशुद्धि नहीं होती। परन्तु नाभीके नीचेवाले इन्द्रियछिद्र अपवित्र हैं उन्हें छूनेसे अशुद्धि होती है और शरीरका जो मैल गिरता है वह भी अपवित्र है ॥ १३२ ॥ अपवित्र वस्तुओंको स्पर्श करनेवाली मक्खियां, मुहसे निकले हुए छोटे जलकण, पतितकी परछाईं, और गऊ, घोड़े, सूर्यकी किरण, धूलि, भूमि, वायु और अग्नि—इन्हें न छूने योग्य वस्तुओंको स्पर्श करने पर भी पवित्र जानो ॥ १३३ ॥ जिन छिद्रोंसे मलमूत्र बाहिर ह हैं उन्हें मट्टी तथा जलसे शुद्ध करे और नीचे लिखे बारह दैहिक र वालि नी उसी प्रकार शुद्धि करनी होती है। उनमेंसे पहिलेके छहोंको ऋ कार्य र जलसे शुद्ध करे और पीछेके छहोंको केवल जलसे शुद्धि करे ॥ १ सबै पिर वर्बी, वीर्य, रक्त, मस्तिष्क, मूत्र, विष्ठा, नाककी मैल, कानकी मैल वष नेत्रके जल, नेत्रकी मैल, और पसीना, इन बारहोंको शारीरिक मल जानो ॥ १३५ ॥ जो शुद्धिकी इच्छा करे, वह विष्ठा, मूत्र त्याग करनेपर लिङ्गमें एकबेर, गुदामें तीन, बाँये हाथमें दस और दोनो हाथोंमें सात बार जलके साथ मट्टी लगावे ॥ १३६ ॥ यह पवित्राके नियम गृहस्थोंके वास्ते हैं, ब्रह्मचारीके लिये दुगने

स्यादनस्थानां यतीनान्तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥ कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत्। वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्व्वदा ॥ १३८ ॥ त्रिराचामेदपः पूर्व्वं द्विः प्रमृज्यात् ततो मुखम्। शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत् सकृत् ॥ १३९ ॥ शूद्राणां मासिकं कार्य्यं वपनं न्यायवर्त्तिनाम्। वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टञ्च भोजनम् ॥१४०॥ नोच्छिष्टं कुर्व्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः। न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥ स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्। भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥ उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन। अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥ वान्तो

प्रस्थके निमित्त तिगुनी और यतीके लिये चौगुने प्रमाणसे जानो ॥ १३७ ॥ विष्ठा मूत्र त्यागनेके बाद शुद्ध होके आचमन कर इन्द्रिय छिद्रोंको स्पर्श करे; वेद पढ़के तथा अन्न भोजन करके भी इसी भांति आचमन करे ॥ १३८ ॥ इस आचमनके समय तीनवार जलपान तथा दोवार मुखमार्ज्जन करना होता है; शारीरिक शुद्धिकी इच्छा करके स्त्री और शूद्रभी एकवेर जलपान अर्थात् ओंठसे जलस्पर्श करके आचमन करें ॥ १३९ ॥ निजधर्म्ममें रत शास्त्रवर्त्ती शूद्र महीने महीने केश मुण्डन करावे; जन्म और मृत्युके समय वैश्यकी भांति अशौच करें और ब्राह्मणका जूठा खाय ॥ १४० ॥ मुखसे जो पसीना वा जल वस्तु शरीरपर गिरती है। उससे अङ्ग जूठा नहीं होता, मूछके रोम मुखमें प्रविष्ट होनेसे अशुद्ध नहीं होते और दांतमें लगे हुए अन्नके छिद्र भी मुखको अशुद्ध नहीं कर सकते ॥ १४१ दूसरेको आचमनके लिये जल देते समय यदि उस जलकी बूंद जल देनेवालेके पैरपर गिरे तो उससे अशुद्धि नहीं हो सकती; वह शुद्ध भूमिके जलकी भांति पवित्र है ॥ १४२ ॥ द्रव्य हैं, सबको मुखके चलते यदि कोई जूठा पुरुष छू जाय, तो वह द्रव्य

विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् । आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४ ॥ सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च । पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत् प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥ एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च । उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्म्मान् निबोधत ॥ १४६ ॥ बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता । न स्वातन्त्र्येण कर्त्तव्यं किञ्चित् कार्य्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ । बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने । पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥ पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः । एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्य्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥ सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्य्येषु दक्षया । सुसंस्कृतोपस्क-

---

शरीरपर बिना रखेही वह पुरुष आचमन करके शुद्ध होता है ॥ १४३ ॥ अनेकबार भेद वा वमन होनेपर स्नान करके घृतभोजन करे, यदि अन्न भोजनके बाद वमन हो, तो आचमनसे और ऋतुमती स्त्रीसङ्ग करनेसे स्नान करके शुद्ध होवे ॥ १४४ ॥ सोके, छींकके, खाकर झूठा फेंकके, झूठ कहके जलपीर और वेद पढ़नेके समय अत्यन्त पवित्र रहनेपर भी आचमन करना चाहिये ॥ १४५ ॥ जन्म-मरणके अशौचका विधान और सब वस्तुओंकी शुद्धिकी विधि तुमलोगोंसे कही गई, अब स्त्रियोंका धर्म्म सुनो ॥ ४६ ॥ स्त्रियां बालिका हों, चाहे युवती हों वाव बूढ़ीहीहों— गृहमें रहके भी उन्हें कुछ कार्य्य स्वतन्त्र भावसे करना उचित नहीं है ॥ १४७ ॥ स्त्रियें बाल्यकालमें पिताके, युवा अवस्थामें पतिके और पतिके मरनेके अनन्तर पुत्रके वशमें रहें—परन्तु कभी स्वाधीन भावसे निवास न करें ॥ १४८ ॥ स्त्रियां पिता, भर्त्ता तथा पुत्रसे स्वतन्त्र होकर रहनेकी चेष्टा न करें,—इनसे पृथक् होनेसे पिता और पतिके कुलको कलङ्कित किया करती हैं ॥ १४९ ॥ स्त्रियां सदा प्रसन्न मनसे समय बितावें, गृह कार्य्योंमें दक्ष होंव, घरकी सामग्रियोंको साफ स्वच्छ रख और

रथा व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥ यस्मै दद्यात् पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः। तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितञ्च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥ मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः। प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२॥ अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत् पतिः। सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥ विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः। उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः ॥ १५४ ॥ नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्। पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥ पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा। पतिलोकमभीप्सन्ती

व्यय विषयमें अमुक्तहस्त होवें ॥ १५० ॥ पिताने जिसे दान किया अथवा पिताकी अनुमतिसे भ्राताने जिसे दान किया हो उस स्वामीकी जीवित अवस्थामें सेवा टहल करें और उसके मरनेपर उसे उल्लङ्घन न करे अर्थात् व्यभिचारादि स्त्रियोंको करना योग्य नहीं है ॥ १५१ ॥ स्त्रियोंके विवाहकालमें जो पुण्याहवाचन आदि स्वस्त्ययन और प्रजापति देवताके उद्देश्यसे होम किया जाता है; वह केवल दोनोंके मङ्गलकेही वास्ते होता है; परन्तु विवाहमें जो वाग्दान किया जाता है उससेही स्त्रीपर स्वामीका सम्पूर्ण स्वामित्व होता है ॥ १५२ ॥ विवाह करनेवाला पति ऋतुकाल तथा अन्य समयमें स्त्रीके वास्ते सदा सुखदाता होता है; केवल इसलोकमेंही नहीं किन्तु परलोकमें भी स्वामी स्त्रीका सुखदाता होता है ॥ १५३ ॥ शील रहित, दूसरेकी स्त्रीमें रत, विद्या आदि गुणोंसे हीन होनेपरभी पतिकी उपेक्षा न करके साध्वी स्त्री देवताकी भांति उसकी सेवा करे ॥ १५४ ॥ स्त्रियोंके सम्बन्धमें स्वामी विना पृथक् यज्ञ नहीं है; स्वामीकी आज्ञा विना व्रत और उपवास भी नहीं है;— केवल पतिसेवासेही स्त्रियां स्वर्गमें जाती हैं ॥ १५५ ॥ स्वामी जीवित हो वा मरा हो, साध्वी स्त्री पतिलोककी इच्छा करके कभी उसका अप्रिय

नाचरेत् किञ्चिदप्रियम् ॥ १५६ ॥ कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। नतु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥ आसीता मरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी। यो धर्म्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥ अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्। दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥ १५९ ॥ मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता। स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥ अपत्य-लोभाद्या तु स्त्री भर्त्तारमतिवर्त्तते। सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥ नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे। न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्त्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥ पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं

कार्य्य न करे ॥ १५६ ॥ पतिके मरनेपर स्त्री भले फूल मूल और फलसे जीवन बितावे परन्तु कभी पतिके सिवा दूसरे पुरुषका नाम न ले ॥ १५७ ॥ जितने दिन अपनी मृत्यु न हो तबतक क्लेश सहके तथा नियमचारी होके मधु मांस मैथुन आदि त्यागकर ब्रह्मचर्य्य ब्रतकरके एकमात्र पति परायण हो-कर साध्वी स्त्रियोंका जो अत्युत्तम परमधर्म्म है उसके करनेमें ही एकाग्र होवे ॥१५८॥ कई हजार कौमार ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने विना सन्तान उत्पन्न किये भी निज ब्रह्मचर्य्यके बलसे अक्षय स्वर्ग लोक पाया है, उन ब्रह्मचारि-योंकी भांति अपुत्रा होनेपर भी साध्वी स्त्रियां स्वामीकी मृत्युके अनन्तर केवल ब्रह्मचर्य्यके बलसे स्वर्गलोकमें जाती हैं ॥ १५९।१६० ॥ जो स्त्रियां सन्तान होनेके लोभसे स्वामीको प्रतिवर्त्तन करके व्यभिचारिणी होती हैं वह इस लोकमें निन्दित और परलोकसे भी भ्रष्ट होती हैं ॥ १६१ ॥ स्वामीके सिवा अन्य पुरुषसे उत्पन्न सन्तानसे स्त्रियोंका कोई धर्म्मकार्य्य नहीं हो सकता अथवा सहधर्म्मिणीके सिवा दूसरेकी स्त्रीसे उत्पन्न हुई सन्तानसे पुरुषका भी कोई कार्य्य नहीं होता —शास्त्रकारोंने इस प्रकार उत्पन्न हुए पुत्रको पुत्रही नहीं स्वीकार किया है। किसी शास्त्रमें

या निषेवते। निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्व्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥ व्यभि-चारात् तु भर्त्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्। शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥ पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता। सा भर्त्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥ अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता। इहाग्र्यां कीर्त्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥ एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्व्वमारिणीम्। दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्म्मवित् ॥ १६७ ॥ भार्य्यायै पूर्व्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्म्मणि। पुनर्दारक्रियां कुर्य्यात् पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥ अनेन विधिना नित्य

साध्वी स्त्रीको दूसरा पति करनेका उपदेश नहीं है ॥ १६२ ॥ निज पतिको अपकृष्ट अर्थात् धन, कुल, मान, शील आदिसे हीन कहके जो स्त्रियां उसे त्यागके दूसरे उत्कृष्ट पुरुषकी आश्रित होती हैं, वे इस लोकमें ही निन्दित होती हैं लोग उन्हें परपूर्व्वा कहा करते हैं ॥ १६३ ॥ परपुरुष उपभोग करनेसे स्त्रियें इस लोकमें निन्दनीय होतीं और मरनेपर सियारयोनिमें जन्मतीं और अनेक तरहकी पापरोगोंसे युक्त होकर अत्यन्त दुःख भोगती हैं ॥ १६४ ॥ जो कायमन वचनसे संयत रहकर स्वामीको अतिक्रम नहीं करती उन्हें पतिलोक मिलता है और साधु लोग उन्हें साध्वी कहके प्रशंसा किया करते हैं ॥ १६५ ॥ जो स्त्री इसही प्रकार मन वचन और शरीरसे संयत होकर नारी धर्म्मसे अपना जीवन बिताती है, वह इस लोकमें परमकीर्त्ति पाती और मरनेपर पतिलोकमें जाती है ॥ १६६ ॥ इस ही प्रकार सद्वृत्तशालिनी सवर्णा स्त्री यदि स्वामीके मृत्युके पहिले मरे तो धर्म्मज्ञ द्विजाति स्वामी अग्निहोत्रीय अग्नि और यज्ञपात्रसे उसका दाहादिकर्म्म करे ॥ १६७ ॥ भार्य्याके पहिले मरनेपर इस ही प्रकार उसकी दाहादि अन्त्येष्टि-क्रिया समाप्त करके पुनर्व्वार दारपरिग्रह करके फिर अग्न्याधान

पञ्च यज्ञान् न हापयेत् । द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१६९॥
इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः । वने वसेत् तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥ गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥ सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्व्वञ्चैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥ ३ ॥

कार्य्य करे ॥ १६८ ॥ पूर्व्वोक्त विधिसे सदा पञ्चमहायज्ञ करे और दारपरिग्रह करके परमायुका दूसरा भाग गृहस्थाश्रममें बितावे ॥ १६९ ॥

पञ्चम अध्याय समाप्त ।

षष्ठ अध्याय ।

इस ही प्रकार स्नातक द्विज गृहस्थाश्रम धर्म्मपालन कर जितेन्द्रिय भावसे तपस्वाध्याय आदि नियमयुक्त होकर वानप्रस्थ धर्म्मानुष्ठान करे ॥ १ ॥ जब गृहस्थ देखे कि शरीरका चमड़ा ढीला हुआ, केश पक गये और पुत्रके भी पुत्र उत्पन्न हुआ, तब उसे वनमें वसना उचित है ॥ २ ॥ कृषि आदिसे उत्पन्न खानेकी चीजें, गऊ, घोड़ा, शय्या और वस्त्रादि छोड़के भार्य्याको पुत्रके हाथमें सौंपकर अथवा साथ लेकर वह

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यञ्चाग्निपरिच्छदम्। ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ ४॥ मुन्यन्नैर्विविधैर्म्मध्यैः शाकमूलफलेन वा। एतानेव महायज्ञान् निर्व्वपेद्विधिपूर्व्वकम्॥ ५॥ वसीत चर्म्म चीरं वा सायं स्नायात् प्रगे तथा। जटाश्च बिभ्रयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च॥ ६॥ यद्भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद्बलिं भिक्षाञ्च शक्तितः। अम्मूलफलभिक्षाभिरर्च्चयेदाश्रमागतान्॥ ७॥ स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः। दाता नित्यमनादाता सर्व्वभूतानुकम्पकः॥ ८॥ वैतानिकञ्च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि। दर्शमस्कन्दयन् पर्व्व पौर्णमासञ्च योगतः॥ ९॥ ऋक्षेष्ट्याग्रयणञ्चैव चातुर्म्मास्यानि चाहरेत्। तुरायणञ्च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव

बनमें जावे॥ ३॥ श्रौत अग्नि, अर्थात् स्रुक् स्रुवादि लेकर वह ग्रामसे बनमें जाकर नियतेन्द्रिय भावसे वहां वास करे॥ ४॥ नीवारादि पवित्र अन्न अथवा बनमें उत्पन्न हुए शाक, मूल, फलसे वहां प्रतिदिन विधिपूर्व्वक पञ्चमहायज्ञ करे॥ ५॥ बनमें बसनेके समय हरिनका चमड़ा, तृणवल्कल आदि वस्त्रखण्ड पहने सन्ध्या और सवेरे स्नान करे और सदा जटा दाढ़ी मूंछ नख लोमधारी होवे॥ ६॥ उसकी जो कुछ भोज्य-वस्तु हो, उसीसे पञ्चमहायज्ञान्तर्गत बलि प्रदान करे,—शक्तिके अनुसार भिक्षुकको भिक्षा देवे और आश्रममें आये हुए अतिथियोंको जल मूल फलादिसे सन्तुष्ट करे॥ ७॥ वाणप्रस्थ सदा वेद पढ़नेमें रत रहे,—सर्दी गर्म्मी आदि क्लेशोंको सहे,—परोपकारी, संयतचित्त सदा दाता, प्रतिग्रह रहित और सर्व्वभूतोंमें दयाशील होवे॥ ८। गार्हपत्यकुण्डका अग्निका आवहनीय और दक्षिणाग्निकुण्डमें अवस्थितिको "वितान" कहते हैं, उसमें जो अग्निहोत्र 'होम' है, उसे वैतानिक अग्निहोत्र 'होम' कहते हैं। वाणप्रस्थ विधिपूर्व्वक वतानिक अग्निहोत्र 'होम' करे और पर्व्वयोगमें दर्शपौर्णमास यज्ञ भी न त्यागे॥ ९॥ नक्षत्रयाग,

च ॥ १० ॥ वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः । पुरोडाशांश्चरूं-श्चैव विधिवन्निर्व्वपेत् पृथक् ॥ ११ ॥ देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः । शेषमात्मनि युञ्जीत लवणञ्च स्वयंकृतम् ॥ १२ ॥ स्थलजौदक-शाकानि पुष्प-मूल-फलानि च । मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात् स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥ १३ ॥ वर्ज्जयेन्मधु मांसञ्च भौमानि कवकानि च । भूस्तृणं शिग्रुकञ्चैव श्लेष्मा-तकफलानि च ॥ १४ ॥ त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्व्वसञ्चितम् । जीर्णानि चैव वासांसि शाक-मूल-फलानि च ॥ १५ ॥ न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् । न ग्रामजातान्यार्त्तोऽपि मूलानि च फलानि, च ॥ १६ ॥ अग्नि-पक्काशनो वा स्यात् कालपक्कभुगेव वा । अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलू

नवशस्येष्टि, चातुर्मास्य, उत्तरायण और दक्षिणायन याग भी विधिपूर्व्वक करे ॥ १० ॥ वसन्त और शरद ऋतुमें उत्पन्न हुए पवित्र मुनिजन सेवित शस्यान्न स्वयं लाकर उससे पुरोडास और चरु बनाके विधिपूर्व्वक पृथक् पृथक् यज्ञ करे ॥ ११ ॥ वनमें उत्पन्न हुई उस पवित्र हविसे देवताओंके वास्ते होम करके जो कुछ पुरोडास आदि हवि शेष रहे उसे खाय और अपना बनाया हुआ नमक खावे ॥ १२ ॥ स्थल और जलमें उत्पन्न हुए शाक, पवित्र वृक्षोंके पुष्प मूल तथा फल और उन फलोंसे उत्पन्न स्नेह (तैल रस चिकनाई) भी खावे ॥ १३ ॥ मधु मांस, भूमिमें उत्पन्न छत्राक, मालवदेश प्रसिद्ध भूस्तृण, वाह्लिकदेश प्रसिद्ध शिग्रुक और श्लेष्मातक फल वाणप्रथाश्रमी न खावे ॥ १४ ॥ यदि पूर्व्व सञ्चित मुन्यन्न अथवा शाक, मूल, फल अथवा जीर्णवस्त्र रहे तो इन्हें प्रति आश्विन महीनेमें त्याग करे ॥ १५ ॥ फालसे जोती हुई भूमिमें उत्पन्न शस्यादि यदि कोई त्याग भी गया हो, तौभी वाणप्रस्थी उसे न खाय अथवा भूखसे बहुत पीड़ित होनेपर भी ग्राममें उत्पन्न हुए फल मूलादि न खावे ॥ १६ ॥ अग्निमें पके पक्कसी अन्न खावे अथवा समयसे पके वनके फलादि भोजन करे

खलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥ सद्यःप्रक्षालको वा स्यान्माससञ्चयिकोऽपि वा। षण्मासनिचयो वा स्यात् समानिचय एव वा ॥ १८ ॥ नक्तञ्चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः। चतुर्थकालिको वा स्यात् स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥ चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्ले कृष्णे च वर्त्तयेत्। पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ २० ॥ पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्त्तयेत् सदा। कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥ भूमौ विपरिवर्त्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्। स्थानासनाभ्यां विहरेत् सवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥ ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः। आर्द्रवासास्तु हेमन्ते

अथवा पत्थरसे चूर्ण करके उसेही खावे वा अपने दांतहीसे चूर्ण करके खाय ॥ १७ ॥ एकदिनके योग्य नीवारादि सञ्चय करे अथवा माससञ्चयी वा छःमहीनेके लिये सञ्चय करे तथा अधिकसे अधिक एक वर्षतकके वास्ते शस्य सञ्चय करे ॥ १८ ॥ शक्तिके अनुसार अन्न लाकर सन्ध्याके बाद राति अथवा दिनमें भोजन करे, वा एक दिन उपवास करके दूसरे दिन रात्रिको भोजन करे, अथवा तीनदिन उपवास करके चौथे दिन रात्रिमें खावे ॥ १९ ॥ चन्द्रायण विधिके अनुसार शुक्लपक्षकी तिथि संख्यानुसार एक एक ग्रास कम और कृष्णपक्षमें एक एक ग्रास बढ़ाकर खा सकता है अथवा पक्षके शेषदिन पूर्णिमा वा अमावस्याको यवागू पकाकर खावे ॥ २० ॥ अथवा वाणप्रस्थ धर्म्म विहित केवल फूल मूल और फल खाय वा स्वयं पकके गिरे हुए फलसे जीविका निभावे ॥ २१ ॥ भूमिपर सारा दिन एक पदसे खड़ा रहे, वा कभी आसनपर रहके तथा कभी आसनसे उठकर समय बितावे, सवेरे मध्यान्ह और सन्ध्याके समय स्नान करे ॥ २२ * ॥ ग्रीष्मकालमें चारों ओर अग्निताप और ऊपर सूर्य्यकाताप लेकर पञ्चतपा

---

* तीनबार स्नान करनेको नियमकी अधिकता जानो।

क्रमशो वर्द्धयंस्तपः ॥ २३ ॥ उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन् देवांश्च तर्पयेत। तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥ अग्नीनात्मनि वैतानान् समारोप्य यथाविधि। अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥ अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः। शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥२६॥ तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्। गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥ ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्। प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥ एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्। विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥२९ ॥ ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः। विद्या-तपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

होवे। वर्षाकालमें छतरी आदिसे रहित हो वृष्टिकी धारामें खड़ा रहे और हेमन्तमें भींगावस्त्र पहनकर तपस्याकी वृद्धि करे ॥ २३ ॥ त्रकालिक स्नान करके पितरों और देवताओंका तर्पण करे और उग्र तपस्या करके शरीरको सुखावे ॥ २४ ॥ वैखानस शास्त्र विधिके अनुसार श्रौताग्नि आदि आत्मामें आरोपण करके अग्नि और गृह रहित होकर मौनव्रती हो फल मूल खाके समय वितावे ॥ २५ ॥ सुखकर विषयोंमें यत्नशील न हो और स्त्रीसम्भोगादि न करे, भूमिपर सोवे, वासस्थानमें ममता रहित होवे और वृक्षमूलमें निवास करे ॥ २६ ॥ फल मूल न मिलने पर प्राण धारणके योग्य ब्राह्मणों अथवा बनवासी द्विजातियोंसे भिक्षा मांगके खाय ॥ २७ ॥ यदि वनमें ये भिक्षा न मिलें तो गांवमें जाकर पत्तेके दोने शरावादि वा हाथमें ही भीख लेकर वाणप्रस्थी केवल आठग्रास भोजन करे ॥ २८ ॥ वाणप्रस्थी ब्राह्मण इन सब नियमोंको प्रतिपालन करे और आत्म साधनके लिये उपनिषद आदि विविध श्रुतिका अभ्यास करे ॥ २९ ॥ ब्रह्मदर्शी ऋषि, परिव्राजक ब्राह्मण तथा गृहस्थलोग भी आत्मज्ञान वा तपस्याकी वृद्धि और शरीर शुद्धिके लिये उपनिषद आदि

अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मग:। आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्य्यनिलाशन:॥ ३१॥ आसां महर्षिचर्य्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम्। वीतशोकभयो विप्र ब्रह्मलोके महीयते॥ ३२॥ वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुष:। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥ ३३॥ आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रिय:। भिक्षाबलिपरिश्रान्त: प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते॥३४॥ ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यध:॥ ३५॥ अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्म्मत:। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥ ३६॥ अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य

श्रुतिकीही सेवा किया करते हैं॥३०॥ इसही प्रकार करते हुए यदि अप्रतिविधेय रोगसे आक्रान्त हो, तो जबतक शरीरका पतन न हो तबतक जल, वायु भक्षण करते हुए योगनिष्ठ होकर ईशानकोणकी ओर सीधे मार्गसे चले॥ ३१॥ महर्षियोंके अनुष्ठेय मार्गसे शरीर त्यागनेपर शोक भय रहित विप्र ब्रह्मलोकमें पूजित होता है॥ ३२॥ मृत्यु न होनेपर इसही प्रकार वाणप्रस्थ आश्रममें जीवनका तीसरा भाग बिताकर चतुर्थ भागमें सर्व्वसङ्ग रहित होके सन्न्यासाश्रमका अनुष्ठान करे॥ ३३॥ आश्रमसे आश्रमान्तरमें जाकर अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य और वाणप्रस्थ धर्म्म करके उन आश्रमोंमें अग्निहोत्रादि होम समाप्त कर जितेन्द्रियत्व पाके भिक्षादान वा बलिदान कर्म्मसे श्रान्त हो सन्न्यासाश्रम ग्रहण करनेसे परलोकमें परम अभ्युदय होता है॥ ३४॥ ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण इन तीनोंको चुकाकर मोक्ष साधनके वास्ते सन्न्यासाश्रममें मन लगाना उचित है। परन्तु इन ऋणोंको बिना चुकाये मोक्ष धर्म्मकी सेवा करनेसे नरक प्राप्ति होती है॥ ३५॥ विधिपूर्व्वक वेद पढ़के, धर्म्मपूर्व्वक पुत्र उत्पन्न और शक्तिके अनुसार दान करके तब मोक्षधर्म्ममें मन लगाना उचित है॥ ३६॥ द्विज लोग यदि बिना वेद पढ़े, बिना सन्तान उत्पन्न तथा यज्ञ

तथा सुतान्। अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥ ३७॥ प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्व्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्॥ ३८॥ यो दत्त्वा सर्व्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्। तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ३९॥ यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्। तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥ ४०॥ आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः। समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ ४१॥ एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्। सिद्धिमेकस्य संपश्यन् न जहाति न हीयते॥ ४२॥ अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्। उपेक्षकोऽसङ्कसुको मुनिर्भावसमाहितः॥ ४३॥ कपालं वृक्ष-

---

लिये भी मोक्षकी इच्छा करें तो उनकी अधोगति होती है॥ ३७॥ प्रजापति याग समाप्तकर सर्व्वस्व दक्षिणा देके आत्मामें अग्नि आरोपित कर ब्राह्मण प्रवज्या तथा सन्न्यासाश्रम अवलम्बन करे॥ ३८॥ जो सब भूतोंको अभयदान कर प्रवज्याश्रम अवलम्बन करते हैं, वे ब्रह्मवादी पुरुष तेजोमय लोक पाते हैं॥ ३९॥ जिस द्विजसे किसी प्राणीको कुछ भय नहीं होता, उसे शरीर त्यागनेपर कहींभी भयप्राप्त नहीं होता॥४०॥ गृहसे निकलकर पवित्र दण्डकमण्डलु साथ ले काम्यविषय उपस्थित रहनेपर भी उसमें आसक्तिरहित और मौनावलम्बी होकर परिव्राजक धर्म्माचरण करे॥ ४१॥ सर्व्वसङ्गरहित होनेसे सिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा जानके आत्मसिद्धिके लिये असहाय अवस्थामें अकेलेही विचरण करे। जो आसक्तिरहित होके अकेले ही विचरते हैं, वह किसीको त्याग नहीं करते अथवा किसीसे परित्यक्त नहीं होते अथवा आत्मीय त्याग दुःखादि उन्हें अनुभव करना नहीं होता॥ ४२॥ संन्यासाश्रममें अग्नि, वासहीन व्याधि प्रतिकार इच्छाहीन, स्थिर बुद्धि और सदाब्रह्मभावमें एकाग्रचित्त होकर जङ्गलमें समय बितावे, केवल भिक्षाके वास्ते

मूलानि कुचेलमसहायता। समता चैव सर्व्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ ४४॥ नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्। कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥ ४५॥ दृष्टिपूतं न्यसेत पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत। सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ ४६॥ अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन। न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्व्वीत केनचित्॥ ४७॥ क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। सप्तद्वारावकीर्णाञ्च न वाचमनृतां वदेत्॥ ४८॥ अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः। आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ४९॥ न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्ग-विद्यया। नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्॥ ५०॥ न तापसै-

---

गांवमें जाय॥ ४३॥ मट्टीके शराव आदि भिक्षाके पात्र, बसनेको वृक्षका मूल जीर्णकौपीनादि वस्त्र, अकेला निवास और समदृष्टि मुक्तिका लक्षण है॥ ४४॥ जीवन वा मरण किसीकी कामना न करे, परन्तु जैसे सेवक वेतनके वास्ते नियत समयकी प्रतीक्षा करता है, वैसे ही कर्म्माधीन जीवन काल तथा मरणकालकी प्रतीक्षा करे॥ ४५॥ मार्गको देखके पैर रखे वस्त्रसे छानके जल पीवे सत्य वचन बोले और पवित्र मनसे कार्य्य करे॥ ४६॥ अपमानजनक वचन सह ले परन्तु किसीका अपमान न करे तथा क्षणभंगुर शरीरसे किसीके साथ शत्रुता न करे॥ ४७॥ दूसरेके क्रोध करनेपर उसपर क्रुद्ध न हो, कोई आक्रोशयुक्त बात कहे तौभी उसके सम्बन्धमें कुशलवाक्यही बोले; सात द्वारविषयक वचन मिथ्यामें नियुक्त न करे और सदा ब्रह्मवाणी उच्चारण करे॥ ४८॥ सदा ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर रहे, सब विषयोंसे विरक्त हो, केवल आत्मसहायसे ही मोक्षार्थी होकर इस संसारमें विचरे॥ ४९॥ भूमिकम्प आदि उत्पात वा नेत्र फड़कना आदि घटनाके फल कहने नक्षत्र वा हाथकी रेखा आदिका फलाफल निर्णय अथवा शास्त्रकी आज्ञा दिखाकर किसीसे

ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः। आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसव्रजेत् ॥ ५१ ॥ क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्। विचरेन्नियतो नित्यं सर्व्वभूतान्यपीड़यन् ॥ ५२ ॥ अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च। तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥ अलाबु दारुपात्रञ्च मृण्मयं वैदलं तथा। एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥ एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे। भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥ विधूमे सन्नमुषले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥ अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्। प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥

भीख मांगनेकी इच्छा न करे ॥ ५० ॥ जिस गृहस्थका घर,—वाणप्रस्थों, अन्यान्य ब्राह्मणों कुत्तों और विद्यार्थियोंसे परिपूरित हो, वहां भीख मांगनेकी इच्छासे यती न जावे ॥ ५१ ॥ दाढ़ी मूंछ और केश मुंड़ाकर दण्ड, कमण्डलु तथा भिक्षाका पात्र लेकर किसी प्राणीको दुःख न देते सन्न्यासी सदा विचरे ॥ ५२ ॥ यतीका भिक्षापात्र धातुका होना योग्य नहीं है; पात्रमें छिद्र न रहे। जैसे यज्ञके चमस शुद्ध होते हैं, वैसे ही ये सब पात्र जलसे धोनेपर शुद्ध हुआ करते हैं ॥ ५३ ॥ काठ, मट्टी, लौकी अथवा बांसका पात्र यतियोंके वास्ते स्वयम्भुमनुने निर्दिष्ट किया है ॥ ५४ ॥ यती प्राणधारणके वास्ते एक बेरसे ज्यादे भीख न मांगे क्योंकि भिक्षामें प्रसक्त होनेसे यतीको विषयासक्ति हो सकती है ॥ ५५ ॥ जब गृहस्थके घरमें रसोईका धूआं बन्द हो ओखलीमूसलका कार्य्य पूरे हो जायं, पाककी अग्नि बुझ जाय और गृहस्थादि सबलोगोंके भोजन करके जूठा पात्र फेंकनेपर सन्न्यासी भिक्षाके वास्ते विचरे ॥ ५६ ॥ भीख न मिलनेपर दुःखी तथा मिलनेपर हर्षित न होवे, प्राणयात्राके सिवा अन्य व्यवहारकी वस्तुओंमें यती आसक्त न होवे ॥ ५७ ॥ आदर-

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्व्वशः। अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥ ५८ ॥ अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च। ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्त्तयेत् ॥ ५९ ॥ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥ अवेक्षेत गतीर्नॄणां कर्म्मदोषसमुद्भवाः। निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥ विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगञ्च तथाप्रियैः। जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीड़नम् ॥ ६२ ॥ देहादुत्क्रमणञ्चास्मात् पुनर्गर्भे च सम्भवम्। योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥ अधर्म्मप्रभवञ्चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्। धर्म्मार्थप्रभवञ्चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥ सूक्ष्मताञ्चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः। देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥ दूषितोऽपि चरेद्धर्म्मं यत्र तत्राश्रमे रतः। समः सर्व्वेषु भूतेषु न लिङ्गं

पूर्व्वक भिक्षा पानेकी इच्छा न करे, मुक्त अवस्थामें रहनेपर भी अत्यन्त सत्कार प्राप्तिसे यतीको संसारबन्धन हो सकता है ॥ ५८ ॥ अल्पभोजन और निर्जन स्थानमें निवास करके विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंको धीरे धीरे विषयोंसे निवृत्त करे ॥ ५९ ॥ इन्द्रियोंके निरोध, राग द्वेषादि हीनता और सब प्राणियोंकी अहिंसासे मनुष्योंको मुक्तिप्राप्त हो सकती है ॥ ६० ॥ कर्म्मदोषसे जीवोंकी अनेक प्रकारकी गति, नरकमें पड़ना और यमलोककी पीड़ा सर्व्वदा पर्य्यालोचना करे ॥ ६१ ॥ प्रिय लोगोंका वियोग, अप्रियोंका मिलन, जरा और व्याधिकी पीड़ा, देहसे जीवात्माका बाहिर होना और फिर जन्मना तथा अनेक योनियोंमें बारम्बार आवागमन कर्म्मदोषसे उत्पन्न होते हैं,—इसे विचारता रहे ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ यह निश्चय जानो कि जीवोंको सारे दुःख अधर्म्मसे और अक्षय सुख धर्म्मसे होता है ॥ ६४ ॥ योगसे परमात्माके अन्तर्य्यामित्व सूक्ष्मरूपकी प्राप्ति तथा उत्तम अधम सर्व्वशरीरमें उसका निवास है, इसे विचारे ॥ ६५ ॥

धर्म्मकारणम् ॥ ६६ ॥ फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्। न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥ संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा। शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥ अह्ना रात्र्या च यान् जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः। तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥ ६९ ॥ प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः। व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥ दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥ प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्। प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्याने-

---

चाहे किसी आश्रमवाला क्यों न हो, जिस आश्रमविरुद्ध धर्म्मकार्य्यसे दूषित होनेपर भी सब भूतोंमें समदर्शी होकर निज धर्म्माचरण करे। वर्णाश्रम आदिका चिन्ह कारण धर्म्मका मुख्य कारण नहीं है,—धर्म्म ही प्रधान है; परन्तु चिन्ह भी परित्यज्य नहीं है ॥ ६६ ॥ निर्म्मली वृक्षका फल जलमें डालनेसे पानी साफ होता है, परन्तु उसका नाम लेनेसे पानी साफ नहीं होता, वैसे ही विहितधर्म्म करनेसे ही धर्म्म होता है, केवल वर्णाश्रमके चिन्हसे नहीं होता ॥ ६७ ॥ जीवोंकी रक्षाके लिये दिन और रातिको भूमि देखकर चले जिससे पांवके सहारे छोटे छोटे चीटी आदि जीवोंका प्राण नष्ट न हो जावे ॥ ६८ ॥ यतीको अज्ञानतासे दिन और रातमें जो सब प्राणी विनष्ट होते हैं, उस पापसे मुक्त होनेके लिये स्नान करके छबार प्राणायाम करे ॥ ६९ ॥ सप्तव्याहृति और दस प्रणवयुक्त तीन प्राणायाम पूरक, कुम्भक और रेचकको विधि पूर्व्वक करना ही परम तपस्या है ॥ ७० ॥ जैसे सोना, रूपा आगसे धातुओंके मल आगमें तपानेसे साफ होते हैं, वसे ही प्राणायामसे प्राणवायु निग्रह करनेसे इन्द्रियोंके सब दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ७१ ॥ प्राणायामसे इन्द्रियादि दोष, चित्त बन्धनरूपी सब पाप धारणासे और

नात्मेश्वरान् गुणान् ॥ ७२ ॥ उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः । ध्यान-योगेन सम्पश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥ सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्म्मभिर्न निबध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥ अहिंसयेन्द्रिया-सङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः । तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत् पदम् ॥ ७५ ॥ अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् । चर्म्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥ जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वल-मनित्यञ्च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥ नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा । तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥ प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् । विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सना-

---

प्रत्याहारसे विषयोंमें जानेवाली इन्द्रियोंका विषयोंसे रोकनेकी चेष्टा करे और परब्रह्मके ध्यानमें रत होकर काम क्रोधादि जय करे ॥ ७२ ॥ जीवोंका देव और पशु आदि योनिमें किस कारणसे जन्म होता है, आत्मज्ञान रहित लोगोंके लिये उसका जानना दुर्ज्ञेय है;—ध्यानयोगसे ही केवल उसे जाना जा सकता है। इसलिये ध्यानपरायण होना उचित है ॥ ७३ ॥ ध्यानयोगसे पूर्ण आत्मदर्शन युक्तपुरुष कर्म्मसे संसारबन्धनमें नहीं पड़ते; आत्मदर्शन रहित लोगोंहीको संसारिक गति प्राप्त होती है ॥ ७४ ॥ अहिंसा, इन्द्रियोंको विषयोंमें न फंसने देना, वैदिककर्म्म और उग्रतपस्या से ब्रह्मपद मिलता है ॥ ७५ ॥ यह शरीर हड्डीरूपी खम्भ, स्नायु (नस) रूपी रस्सी, लहू मांससे लिप्त, चमड़ेसे ढका हुआ, मूत्र विष्ठासे पूरित दुर्गन्धमय, जराशोकयुक्त, अनेक व्याधियोंका स्थान, प्राय रजोगुणयुक्त, अनित्य और पञ्चभूतोंका निवास स्थान है,—इसे जानके देहकी माया परित्याग करे। जिससे फिर इस देहरूपी कारागारमें प्रविष्ट होना न पड़े, उसही भांति चेष्टा करे ॥ ७६।७७ ॥ जैसे वृक्ष नदीके तटको अथवा पक्षी वृक्षको छोड़ देते हैं, वैसेही ज्ञानवान् जीव प्राक्तन कर्म्म शेष करके

तमम् ॥ ७९ ॥ यदा भावेन भवति सर्व्वभावेषु निस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥ अनेन विधिना सर्व्वांस्त्यक्त्वा सङ्गान् शनैः शनैः । सर्व्वद्वन्द्वविनिर्म्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥ ध्यानिकं सर्व्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् । न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥ अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च । आध्यात्मिकञ्च सततं वेदान्ताभिहितञ्च यत् ॥ ८३ ॥ इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् । इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥ अनेन क्रमयोगेण परिव्रजति यो द्विजः । स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥ एष धर्म्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम् । वेदसन्न्यासिकानान्तु

जीवन्मुक्त अवस्थामें इस देहरूपी अवलम्ब तथा संसारबन्धनसे मुक्त हुआ करते हैं ॥ ७८ ॥ वह अपनी प्रकृतिसे पुत्रादि प्रियसंयोग और औरप दुष्कृतिसे अप्रिय संयोग जानके प्रियाप्रिय तथा सुखदुख आदि चित्त क्षोभ त्यागनेसे ब्रह्मको पाते हैं ॥ ७९ ॥ उन सब विषयोंसे विरत होनेसे इस संसारमें नित्यसुख सर्व्वत्र मिलता है ॥ ८० ॥ इसही प्रकार आसक्ति, मान, अपमान, सर्दी, गर्म्मी, और सुखदुख आदि द्वन्द्वभावोंसे छूटकर वह ब्रह्ममें निवास करता है ॥ ८१ ॥ जो कुछ कर्म्मफल इसके पहले कहा है, वह सब ध्यानपरायण लोगोंको प्राप्य है ; इसलिये आत्मज्ञान रहित पुरुष कदापि किसी कार्य्यका फल नहीं पा सकता ॥ ८२ ॥ यज्ञ और देवता सम्बन्धी वेदमन्त्र, परमात्मा विषयक तथा उपनिषदोंमें कहो। आवेदमन्त्र सदा जप करना चाहिये। स्वर्ग और मुक्तिकी इच्छाकरनेवाले ज्ञानवान लोगोंके लिये केवल वेदही अवलम्ब हैं ॥ ८३।८४ ॥ इसही भांति विधिपूर्व्वक जो ब्राह्मण प्रवज्याश्रम अवलम्बन करता है, वह इसलोकमें सब पापोंसे रहित होकर परब्रह्मको पाता है ॥ ८५ ॥ संयतात्मा परमहंस प्रभृति यतियोंका विधान तुमलोगोंसे कहा ; अब वेदविहित कर्म्मत्या

कर्म्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥ सर्व्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः। यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥ सर्व्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः। गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि ॥ ८९ ॥ यथा नदीनदाः सर्व्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्व्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥ चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः। दशलक्षणको धर्म्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥ दश लक्षणानि धर्म्मस्य ये विप्राः समधीयते अधीत्य चानुवर्त्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥ दशलक्षणकं धर्म्ममनु-

---

कुटीचर नाम मन्त्रादिश्योंका कर्म्मयोग कहता हूं सुनो ॥ ८६ ॥ ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ, और यती ये चारों आश्रम गृहस्थसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ८७ ॥ ये चारों आश्रम क्रमसे शास्त्रकी विधि अनुसार सेवन किये जानेसे ब्राह्मण परमगति पाता है ॥ ८८ ॥ ब्रह्मचर्य्य आदि चारों आश्रमोंके बीच वेद और स्मृतिकी विधिसे चलनेवाले गृहस्थाश्रमियोंको मनु आदि ऋषियोंने श्रेष्ठ कहा है। क्योंकि वही तीनों आश्रमवालोंका पालन पोषण करता है ॥ ८९ ॥ जैसे सब नदी नद समुद्रमें जाकर स्थित होते हैं, वैसेही अन्य आश्रमवाले गृहस्थाश्रमकी सहायतासे निवास करते हैं ॥९०॥ इन चारों आश्रमवासी द्विजातियोंको नीचे लिखा हुआ दस प्रकारका धर्म्म सदा यत्नपूर्व्वक करना योग्य है ॥ ९१ ॥ सन्तोष, क्षमा, दम, स्तेय, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध, ये दस धर्म्मके लक्षण हैं ॥ ९२ ॥ धर्म्मके इन दस लक्षणोंको जो ब्राह्मण पढ़ता वा करता है, वह परमगति पाता है ॥ ९३ ॥ स्थिर मनसे इन दस प्रकारके धर्म्मोंको करके गुरुमुखसे-विधिपूर्व्वक वेदशास्त्र जानकर और देव पितर ऋषियोंके

तिष्ठन् समाहितः। वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः॥ ९४ ॥ संन्यस्य सर्व्वकर्म्माणि कर्म्मदोषानपानुदन्। नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्य्ये सुखं वसेत्॥ ९५ ॥ एवं संन्यस्य कर्म्माणि स्वकार्य्यपरमोऽस्पृहः। सन्न्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम्॥ ९६ ॥ एष वोऽभिहितो धर्म्मो ब्राह्मणस्य चतुर्व्विधः। पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्म्मं निबोधत॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

राजधर्म्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः। सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥ ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।

ऋणसे छूटके वेद-सन्न्यास ग्रहण करे॥ ९४॥ वेदसन्न्यासी कुटीचर अग्निहोत्रादि गृहस्थोंके सब कर्म्मत्याग कर कर्म्मदोषोंको प्राणायाम आदिके सहारे नष्ट करते हुए यम नियम अवलम्बन कर वेद पढ़े और पुत्रसे प्राप्त वस्त्र भोजन पर निर्भर करके निश्चिन्तभावसे निवास करे॥ ९५॥ इस प्रकार सब कर्म्मफल त्याग करके निज कार्य्यमें रत, निस्पृह और सन्न्यास बलसे पापरहित होकर वह मुक्तिलाभ करता है॥ ९६॥ परलोकमें अक्षयपुण्यदायक ब्राह्मणोंके अनुष्ठेय चारों आश्रमका धर्म्म कहा, अब राजधर्म्मकी कथा सुनो॥ ९७॥

छठवां अध्याय समाप्त।

अथ सातवां अध्याय।

राजाओंके परम सिद्धिदायक कर्म्म, राजधर्म्म और राजाकी उत्पत्तिका अब कहता हूं, सुनो। विधिपूर्व्वक उपनयन संस्कार होनेपर क्षत्रिय

सर्व्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥ अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्व्वतो विद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्व्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥ ३ ॥ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥ यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्म्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्व्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥ तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च। न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥ सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्म्मराट्। स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥ एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्। कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ ९ ॥ कार्य्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिञ्च

राजाको न्यायके अनुसार प्रजाकी रक्षा करना योग्य है ॥ १।२ ॥ जगतमें राजा न होनेसे सब कोई भयसे व्याकुल होते हैं; इसीलिये जगतकी रक्षाके वास्ते परमेश्वरने राजाको उत्पन्न किया है ॥ ३ ॥ इन्द्र, वायु, यम, सूर्य्य, अग्नि चन्द्रमा कुबेर इन आठों दिक्पालोंके सारभूत अंशसे ईश्वरने राजाको बनाया है ॥ ४ ॥ इन्द्रादि देवताओंके अंशकी अधिकता होनेसे राजा सब प्राणियोंको अतिक्रम किया करता है ॥ ५ ॥ जब सूर्य्यकी भांति वह नेत्र और मनको उत्तप्त करता है,—तब पृथ्वीपर कोई भी राजाकी ओर देखनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ६ ॥ राजा प्रभावमें अग्नि, वायु चन्द्रमा, यम, कुवेर वरुण और महेन्द्रके समान है ॥ ७ ॥ राजाके बालक होनेपर भी उसे साधारण मनुष्य जानके अवज्ञा करनी योग्य नहीं है; क्योंकि वह महान् देवता मनुष्यरूपमें निवास करता है ॥ ८ ॥ असावधान होके जो अग्निके समीप जाता है अग्नि उसको ही जलाती है; परन्तु राजाकी कोपाग्निमें पड़नेसे कुटुम्ब, पशु और सम्पत्तिके सहित नष्ट होना होता है ॥ ९ ॥ प्रयोजनके कार्य्यों अपनी

देशकालौ च तत्त्वतः। कुरुते धर्म्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनःपुनः॥ १०॥ यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे। मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्व्व-तेजोमयो हि सः॥ ११॥ तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात स विनश्यत्यसंशयम्। तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः॥ १२॥ तस्माद्धर्म्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः। अनिष्टञ्चाप्यनिष्टेषु तं धर्म्मं न विचालयेत्॥ १३॥ तस्यार्थे सर्व्वभूतानां गोप्तारं धर्म्ममात्मजम्। ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्व्वमीश्वरः॥ १४॥ तस्य सर्व्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च। भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्म्मान्न चलन्ति च॥ १५॥ तं देशकालौ शक्तिञ्च विद्याञ्चावेक्ष्य तत्त्वतः। यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्याय-वर्त्तिषु॥ १६॥ स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः। चतुर्णा-माश्रमाणाञ्च धर्म्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ १७॥ दण्डः शास्ति प्रजाः सर्व्वा

शक्ति और देशकालको भलीभांति विचार कर राजा धर्म्मके वास्ते अनेक प्रकार रूप धारण करता है॥ १०॥ जिसके प्रसन्न रहनेसे लक्ष्मी श्री, जिसके पराक्रम प्रभावसे विजय और जिसके कोपसे मृत्यु होती है;—वह सर्व्वतेजोमय है॥ ११॥ जो पुरुष मोहके वशमें होकर उससे द्वेष किया करता है, निश्चयही उसका विनाश होता है, उसे नष्ट करनेके लिये राजा मन लगाता है; इस लिये शिष्टोंको प्रतिपालन और दुष्टोंको दमन करनेके लिये राजा जो धर्म्मनियम स्थापित करता है, उसे उल्लङ्घन करना उचित नहीं है॥ १२।१३॥ राजाके हितके वास्ते ईश्वरने पहिले समयमें सब प्राणियोंकी रक्षाकरनेवाला धर्म्मरूप आत्मज ब्रह्मतेज मय दण्डको उत्पन्न किया॥ १५॥ दण्डके भयसेही सारासंसार अपने अपने भोगसुखमें प्रतिष्ठित है; कोई अपने धर्म्मसे विचलित नहीं हो सकता॥ १६॥ देशकालशक्ति और विद्याकी पूरी आलोचना करके अन्याय करनेवालों पर राजा यथायोग्य दण्ड प्रयोग करे॥ १७॥ यथार्थमें दण्डही

दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्म्मं विदुर्बुधाः ॥१८॥ समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्व्वा रञ्जयति प्रजाः। असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्व्वतः ॥१९॥ यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः। शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्ब्बलान् बलवत्तराः ॥२०॥ अद्यात् काकः पुरोडाशं लिह्याद्धविस्तथा। स्वाम्यञ्चावस्मिञ्च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्त्तेताधरोत्तरम् ॥२१॥ सर्व्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः। दण्डस्य हि भयात् सर्व्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥२२॥ देवदानवगन्धर्व्वा रक्षांसि पतगोरगाः। तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीड़िताः ॥२३॥ दुष्येयुः सर्व्ववर्णाश्च भिद्य

राजा, दण्डही पुरुष, दण्डही राज्यका नेता और शासनकर्त्ता है। ऋषियोंने दण्डकोही चारों आश्रमोंका धर्म्मप्रतिभू कहा है ॥१७॥ दण्ड सब प्राणियोंको शासन किया करता हैं, दण्डही सबकी रक्षा करता है; सबके सोनेपर भी केवल दण्डही जागता रहता है; पण्डितलोग दण्डकोही धर्म्मका मूल कहते हैं ॥१८॥ वह दण्ड यदि पूरी रीतिसे विचार कर धारण किया जाय तो सब प्रजा सुखी रहती हैं और इसके विपरीत होनेसे सबकाही विनाश होता है ॥१९॥ यदि राजा आलस छोड़के दण्डनीय लोगोंपर दण्ड प्रयोग न करता तो बलवान लोग शूलमें मछली पकानेकी भांति निर्ब्बल लोगोंको अनेक भांतिसे दुःखसे जलाते, मन्त्रयुक्त देवताओंकी हविको कुत्ते चाटते, कौवे यज्ञके चरु खाते और श्रेष्ठ जाति निज अधिकारसे च्युत और नीचोंसे पराजित होती ॥२०॥२१॥ केवल दण्डभयसेही मनुष्य न्याय पथमें निवास करते हैं; क्योंकि निर्दोष लोग जगतमें बहुत दुर्लभ हैं। यह चराचर जो भोग्य भोगनेमें समर्थ होता है, दण्डभयही उसमें कारण है ॥२२॥ देव, दानव, गन्धर्व्व, निशाचर, विहङ्ग और सर्प केवल ऐश्विक दण्डभयसे डरके जगत्‌का उपकार करनेमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥२३॥ अन्यायसे दण्ड चलाने वा एकबारगी दण्ड-

रन् सर्व्वसेतवः। सर्व्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥ यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥ २५ ॥ तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्। समीक्ष्य-कारिणं प्राज्ञं धर्म्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥ त राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते। कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥ दण्डो हि सुमहत् तेजो दुर्द्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्म्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥ ततो दुर्गञ्च राष्ट्रञ्च लोकञ्च सचराचरम्। अन्तरीक्ष-गतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीड़येत् ॥ २९ ॥ सोऽसहायेन मूढ़ेन लुब्धेना-

---

रहित होनेपर ब्राह्मण आदि चारोंवर्ण दोषयुक्त होकर निज मर्य्यादारूपी सेतु अतिक्रम करते और चोर आदिसे प्रजा बहुत दुःखित हुआ करती है ॥ २४ ॥ जहांपर श्यामवर्ण लालनेत्रवाला दण्ड पाप विनष्ट करनेके लिये घूमता है और दण्ड कर्त्ता सब विषयोंमें न्याय पूर्व्वक दण्ड विधान किया करता है, वहां प्रजा कदापि कातर नहीं होती ॥ २५ ॥ मनु आदि ऋषि लोग सत्यवादी, आगा पीछा सोचके काम करनेवाले, भली-भांति वेद और धर्म्म अर्थ कामकी जाननेवाले राजाकोही पूर्ण धर्म्म-प्रणेता कहा करते हैं ॥ २६ ॥ यदि राजा पूरीरीतिसे विचारकर दण्डविधान करता है, तो धर्म्म अर्थ और काम इन त्रिवर्गोंकी वृद्धि होती है। क्षुद्र चित्तवाला भोगाभिलाषी और क्रोध आदिके वशमें रहनेवाला राजा दण्डके सहारे स्वयं नष्ट होता है ॥ २७ ॥ महातेजस्वी दण्ड शास्त्रज्ञान-हीन राजाके द्वारा धारण किये जाने योग्य नहीं है; क्योंकि यह उलटा चलाने पर वंश तथा आत्मीय स्वजनोंके सहित राजाका नाश करता है ॥ २८ ॥ अन्याय पूर्व्वक चलाया हुआ दण्ड—राजदुर्ग,स्थावर अस्थावर सम्पत्ति और प्रजा समेत सम्राज्यको भी क्रमसे प्रपीड़ित करता है और उपयुक्त पात्रोंके विनाश हेतुसे अन्तरिक्षमें रहनेवाले ऋषि

शतबुद्धिना । न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥ शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा । प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥ स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु । सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥ एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः । विस्तीर्य्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥ अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः । संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥ स्वे स्वे धर्म्मे निविष्टानां सर्व्वेषामनुपूर्व्वशः । वर्णानामाश्रमाणाञ्च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥ तेन यद्यत् सभृत्येन कर्त्तव्यं रक्षता प्रजाः ।

तथा देवताओंको भी दुःख प्रदान करता है ॥ २६ ॥ मूर्ख, लोभी, शास्त्रज्ञानहीन मन्त्री, पुरोहित आदि सहाय रहित तथा भोगमें आसक्त राजा कदापि नियमपूर्व्वक दण्डविधान नहीं कर सकता ॥ ३० ॥ पवित्रस्वभाव विशुद्ध आत्मा सत्यप्रतिज्ञ, वेदादि शास्त्रोंको जाननेवाला बुद्धिमान राजा उत्तम मन्त्रियोंके सहित दण्ड विधान करनेमें समर्थ होता है ॥ ३१ ॥ अपने राज्यमें शास्त्रविधिके अनुसार दण्डविधान करना, विदेशीय शत्रुओंको तीक्ष्णदण्डसे दमन करना और अकपटभावसे स्वजनोंके साथ सरल व्यवहार करना और थोड़े अप-राधमें ब्राह्मणोंपर राजाको क्षमावान होना उचित है ॥ ३२ ॥ जो राजा सदाचार और अच्छे रस्तेसे राज्यशासन करता है—यदि उसे उञ्छ-वृत्तिसे भी जीविका निभानी पड़े तो भी जलमें तेलकी बूंद समान उसका यश जगतमें बहुत दूरतक फैलता है ॥ ३३ ॥ परन्तु जिस राजाका आचार व्यवहार इससे विपरीत है, वह उद्दण्ड शत्रुओंके वशमें हो जाता है, और उसका यश इसलोकमें घृतकी बूंद सदृश सङ्कुचित होता है ॥ ३४ ॥ धर्म्म करनेमें तत्पर ब्राह्मण आदि चारों वर्णों और चारों आश्रमोंकी रक्षाके लिये प्रजापतिने राजाको उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥ प्रजाकी रक्षाके-

तत्तदोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्व्वशः ॥ ३६ ॥ ब्राह्मणान् पर्य्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः । त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत् तेषाञ्च शासने ॥ ३७ ॥ वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन् । वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥ तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः । विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥ बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः । वनस्था अपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥ वेणो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः । सुदासो यावनिश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥ पृथस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च । कुबेरश्च धनैश्वर्य्यं

वास्ते उत्तम मन्त्रियोंकी सहाय से राजनीति अनुसार राजाका जो कुछ कार्य्य है, वह सब विधिपूर्व्वक तुमलोगोंसे कहता हूं ॥ ३६ ॥ प्रतिदिन सवेरे शय्यासे उठकर वेदज्ञ तथा नीतिशास्त्र जाननेवाले ब्राह्मणोंकी सेवा करना राजाको उचित है और वे लोग जैसा कहे तैसाही राजाको करना चाहिये ॥ ३७ ॥ जिसका शरीर और मन बहुत पवित्र है वैसे वेद जाननेवाले धर्म्मवृद्ध और अवस्थामें वृद्ध ब्राह्मणोंकी सदा सेवा करनी राजाको उचित है। क्योंकि जो राजा सदा वृद्धोंकी सेवामें रत रहता है, हिंसक राक्षसलोग भी उसके हितकी इच्छा किया करते हैं ॥ ३८ ॥ स्वभाविक उत्तम बुद्धि और शास्त्र अध्ययन आदि गुणसे विनीत होनेपर भी राजा सदा वृद्धोंके निकट विनय सीखे, क्योंकि विनयी राजा कदापि विनष्ट नहीं होता ॥ ३९ ॥ हाथी घोड़े आदि बहुतेरे ऐश्वर्य्यवान राजा विनयी न होनेसे नष्ट होगये और सदा वनमें वसनेवाले बहुतेरे पुरुषोंने विनयगुणसे राज्य प्राप्त किया ॥ ४० ॥ महाराज नहुष, वेणु, यवनराज सुदास सुमुख और निमि विनय रहित होनेसे विनष्ट होगये ॥ ४१ ॥ महाराज पृथ और मनुने विनयबलसे साम्राज्य पाया, कुबेर

ब्राह्मण्यञ्चैव गाधिज: ॥ ४२ ॥ त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याद्दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीञ्चात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकत: ॥ ४३ ॥ इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्। जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजा: ॥ ४४ ॥ दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च। व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्ज्जयेत् ॥ ४५ ॥ कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपति:। वियुज्यतेऽर्थधर्म्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥ मृगयाक्षो दिवास्वप्न: परिवाद: स्त्रियो मद:। तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गण: ॥ ४७ ॥ पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजञ्च

धनेश्वर भये और क्षत्रिय पुत्र विश्वामित्रने ब्राह्मणत्व पाया है ॥ ४२ ॥ तीनों वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंके पास तीनों वेद सीखे और परम्परागत आयव्यय तथा शास्त्रतत्त्वके जाननेवालोंसे दण्डनीति सीखे। तार्किक तथा वेदान्ती ब्राह्मणोंसे तर्कशास्त्र और ब्रह्मविद्या, कृषकों और वणिकोंसे कृषि वाणिज्य तथा पशुपालन आदि सीखना उचित ॥ ४३ ॥ नेत्र आदि इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेके लिये राजाको दृढ़तापूर्व्वक यत्नवान होना उचित है; क्योंकि जितेन्द्रिय राजाही पूरी रीतिसे प्रजाओंको अपने वशमें रख सकता है ॥ ४४ ॥ जुआ खेलना आदि दस कामके व्यसन और चुगली आदि आठ क्रोधके व्यसन हैं; इन अठारहों दुस्तर व्यसनोंको राजा छोड़ दे; क्योंकि यद्यपि ये प्रथम सुखद हैं परन्तु परिणाममें दुःसह कष्टदायक हैं ॥ ४५ ॥ कामज दोषोंमें आसक्त होनेसे राजा निश्चय ही धर्म्म अर्थसे रहित हो जाता है और क्रोधज दोषोंमें आसक्त होनेसे जीवन भी नष्ट हो सकता है ॥ ४८ ॥ मृगया, जूआ खेलना, दिनमें सोना, पराया दोष कहना, स्त्रियोंमें आसक्ति, नशेबाजी, बजाना, नाचना गाना, और वृथा घूमना; ये दसों कामसे उत्पन्न दोष कहाते हैं ॥ ४७ ॥ चुगली, दुःसाहस, द्रोह, ईर्षा, असूया, दूसरेकी वस्तु

पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥ द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्व्वे कवयो विदुः । तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥ पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत् कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥ दण्डस्य पातनञ्चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतत् त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥ सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्व्वत्रैवानुषङ्गिणः । पूर्व्वं पूर्व्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥ व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते । व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥ मौलान् शास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् । सचिवान् सप्त चाष्टौ वा

हरना कठोरवचन बोलना और अत्यन्त ताड़ना ; ये आठों क्रोधसे उत्पन्न दोष हैं ॥ ४८ ॥ पण्डितलोग काम, क्रोध और लोभको इन दोषोंका मूल-कारण कहते हैं ; इसलिये विशेष यत्नके सहित राजाको लोभ छोड़ना उचित है ॥ ४९ ॥ दस प्रकारके कामज दोषोंके बीच मद्यपीना, जूआ खेलना, स्त्रियोंमें आसक्ति और मृगया ; इनचारोंको राजा अत्यन्त कष्टदायक जाने ॥ ५० ॥ आठ प्रकारके क्रोधज व्यसनोंके बीच निठुरता, शाप्यधनमें टगहारी और मारपीट तथा प्रहार करना ; इन तीनोंको राजा अत्यन्त अनर्थकारी जाने ॥ ५१ ॥ मद्य पीना, जूआ खेलना, स्त्रियोंमें आसक्ति, मृगया निठुर होके प्रहार करना, वचनकी कठोरता और पराया धन हरना ; ये सारे राज मण्डलमेंही परिव्याप्त हुआ करते हैं और इनमेंसे निचलोंसे ऊपरवाले अधिक कष्टदायक हैं ॥ ५२ ॥ क्रोधज वा कामज व्यसन मृत्युसे भी भयङ्कर हैं, क्योंकि कामज क्रोधज दोषोंमें आसक्त पापीपुरुष शरीर छूटनेपर नरकगामी होता है ; परन्तु निर्दोष पुरुष शरीर छूटनेपर स्वर्गमें जाता है ॥ ५३ ॥ वंश परम्परासे राज-कर्म्मचारी, वेदादि धर्म्मशास्त्रोंका जाननेवाला, स्वयं शूर तथा युद्धविद्यामें भलीभांति निपुण, सत्कुलमें उत्पन्न भये और परीक्षामें ठीक मन्त्री

प्रकुर्व्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥ अपि यत् सुकरं कर्म्म तदप्येकेन दुष्करम् । विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् । स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥ तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् । समस्तानाञ्च कार्य्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ५७ ॥ सर्व्वेषान्तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता । मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥ नित्यं तस्मिन् समाश्वस्तः सर्व्वकार्य्याणि निःक्षिपेत् । तेन सार्द्धं विनिश्चित्य ततः कर्म्म समारभेत् ॥ ५९ ॥ अन्यानपि प्रकुर्व्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् । सम्यगर्थसमाहर्त्तॄनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥ निर्व्वर्त्तेतास्य यावद्भिरितिकर्त्तव्यता नृभिः । तावतो-

---

प्रत्येक राजाको यहां रखना आवश्यक है ॥ ५४ ॥ जब कि सहजमें होनेवाले कार्य्यभी एक पुरुषसे होना कठिन तब राज्यके कार्य्य अकेले उत्तम रीतिसे सिद्ध होना बहुत कठिन है ॥५५ ॥ सन्धि विग्रह, चार प्रकारकी सेना रखना, राजस्व बढ़ाना प्रजाकी रक्षा करना और अर्ज्जित धन योग्यपात्रोंको देना तथा अच्छे मन्त्रियोंके साथ सलाह करना योग्य है ॥ ५६ ॥ पहले निर्ज्जन स्थानमें मन्त्रियोंमें से प्रत्येकका मत पृथक् पृथक्, पानके पीछे एकत्रित हुए सबलोगोंका मत लेकर कर्त्तव्य कार्य्योंमें नित्य सिद्धान्तके अनुसार जो हितकर मालूम हो उसे ही विचारके राजा करे ॥ ५७ ॥ सन्धि, विग्रह, सवारी, आसन, द्वैध, आश्रय; इन छः विषयोंमें सेवकोंके बीच धर्म्ममें रत पण्डित ब्राह्मणोंके साथ राजाको सलाह करना आवश्यक है ॥ ५८ ॥ राजा सदा इन उत्तम पण्डित ब्राह्मण मन्त्रियोंके ऊपर विश्वासभावसे सब कार्य्यका भार निर्भर करे और उनकी ही सङ्ग युक्ति तथा सिद्धान्त करके सब कार्य्य आरम्भ करना उचित है ॥ ५९ ॥ इसके सिवा बुद्धिमान्, कार्य्यदक्ष, न्याय मार्गसे धन पैदाकरनेवाले, पवित्रस्वभाव तथा धर्म्म आदि परीक्षामें उतरे हुए मन्त्रियोंको

ऽतल्लिप्तान् दक्षान् प्रकुर्व्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥ तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान्। शुचीनाकरकर्म्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥६२॥ दूतञ्चैव प्रकुर्व्वीत सर्व्वशास्त्रविशारदम्। इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥ अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्। वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥ अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया। नृपतौ कोषराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्य्ययौ ॥ ६५ ॥ दूत एव हि सन्धत्ते भिनत्त्येव च संहतान्। दूतस्तत् कुरुते कर्म्म भिद्यन्ते येन मानवाः॥ ६६ ॥ स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः। आकारमिङ्गितं चेष्टां

नियुक्त करना चाहिये ॥ ६० ॥ जिन कई एक लोगोंका यथार्थमें राजकार्य्यके वास्ते प्रयोजन होवे सब आलस रहित, कार्य्य निपुण, चतुर और सुशिक्षित हों;—राजा ऐसेही लोगोंको राजकार्य्यमें नियुक्त करे ॥ ६१ ॥ उक्त कर्म्मचारियोंके बीच महाबली पराक्रमी, महत्‌वंशमें उत्पन्न हुए, चतुर और पवित्र स्वभाववाले पुरुषोंको खनिज सम्पति और धान्य आदि संग्रह करनेके स्थानमें नियुक्त करे। निज गृहके निभृतस्थानमें धर्म्मभीरु लोगोंको नियत करे ॥ ६२ ॥ मुख राग आदि देखनेसेही मनके भावको समझनेमें समर्थ, सत्कुलमें उत्पन्न, इङ्गितज्ञ, सब शास्त्रोंके जाननेवाले, घूस और असत् सलाहसे विरक्त दूत नियुक्त करना राजाको योग्य है ॥ ६३ ॥ सबलोगोंके प्रियकार्य्यमें चतुर, देशकालके जाननेवाले, पवित्रस्वभाव, सुन्दर बोलनेवाले और तीक्ष्ण स्मरणशक्तियुक्त राजदूत प्रशंसाके पात्र हैं ॥ ६४ ॥ कोष, नगर, राजाकी आय, चार प्रकारकी सेनाका शासन सेनापतिके अधीन और सन्धि-विग्रह कार्य्य दूतके अधीन होना योग्य है ॥ ६५ ॥ दूतही केवल शत्रुभावयुक्त राजाओंके बीच सन्धिस्थापित करनेमें समर्थ है; क्योंकि दूतही दूसरेके राज्यमें जाकर ऐसा करता है जिससे कि दोनो राज्योंमें भेद वा मिलन होता

भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥ बुद्ध्वा च सर्व्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्। तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीड़येत ॥ ६८ ॥ जाङ्गलं शस्यसम्पन्न-मार्य्यप्रायमनाविलम्। रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत ॥ ६९ ॥ धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम् ॥ ७० ॥ सर्व्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्। एषां हि बाहु-गुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥ त्रीण्याद्यान्याश्रितास्तेषां मृगगर्ता-श्रयाप्चराः। त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥ ७२ ॥ यथा दुर्गा-श्रितानेतान् नोपहिंसन्ति शत्रवः। तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमा-श्रितम् ॥ ७३ ॥ एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्द्धरः। शतं दश सह-

---

है ॥ ६६ ॥ दूत शत्रु राज्यके कर्त्तव्य विषयमें आकर इङ्गितसे अभिप्राय समझे और लुब्ध, लोभी तथा अपमानित सेवकोंपर दृष्टि रखे ॥ ६७ ॥ शत्रु राजाके मनका अभिप्राय योग्य दूतसे जानके राजा इस प्रकार साव-धानीसे रहै कि जिससे शत्रुके उत्पात अपने ऊपर न पड़े ॥ ६८ ॥ धन धान्ययुक्त, धार्म्मिक, रोग आदिसे रहित, रमणीय, राजभक्त, कृषि और जाङ्गदेशमें राजाको निवास करना चाहिये ॥ ६९ ॥ वहां धन्व दुर्ग, महीदुर्ग, अब्दुर्ग, वार्क्षदुर्ग, नृदुर्ग और गिरिदुर्ग;—इन किलोंके आसरे राजा निवास करे ॥ ७० ॥ छः प्रकारके किलोंके बीच गिरिदुर्गही दुरारोहादि अनेक गुणोंसे युक्त होनेसे सब प्रकारको यत्नपूर्व्वक राजाके आश्रय योग्य है ॥ ७१ ॥ छः प्रकारके किलोंके बीच धन्व दुर्गमें मृग आदि पशु, महीदुर्गमें मूषिक आदि, जलदुर्गमें मकर आदि, वृक्षदुर्गमें बन्दर प्रभृति, चारों भांतिकी सेनासे रक्षित नृदुर्गमें मनुष्य और गिरिदुर्गमें देवतालोग वास करते हैं ॥ ७२ ॥ जैसे खदुर्गमें रहनेपर हरिके व्याधा नहीं मार सकता, उसी प्रकार राजाके भी किलेमें निवास करने पर कोई शत्रु उसका अनिष्ट करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ७३ ॥ राजामात्र

स्त्राणि तस्मा हुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥ तत् स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः। ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः। गुप्तं सर्व्वर्त्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥ तदध्यास्योद्वहेद्भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्। कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥ पुरोहितञ्च कुर्व्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम्। तेऽस्य गृह्याणि कर्म्माणि कुर्य्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥ यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः। धर्म्मार्थञ्चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान् धनानि च ॥ ७९ ॥ सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्। स्याच्चाम्नाय-

---

कोही किला (दुर्ग) होना आवश्यक है। क्योंकि किलेके भीतर रहनेवाला एक योद्धा शत्रुओंके एक सौ लोगोंसे और इसही भांति एक सौ योद्धा दस हजार योद्धाओंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ हैं ॥ ७४ ॥ अस्त्र शस्त्र, अन्न, घोड़ा आदि चढ़नेके वाहन, खजाना, ब्राह्मण अनेक तरहके शिल्पी, भांति भांतिके यन्त्र तृण और जल—इन सब चीजोंसे किलेको परिपूरित रखना आवश्यक है ॥ ७५ ॥ इस किलेके ठीक बीचमें राजा अपने रहनेके वास्ते एक सौधगृह तैयार करावे जिसके बीच रनिवास, शस्त्रागार, अन्नालय, और देवालय आदि पृथक् पृथक् बने रहें तथा जो खाई आदिसे भली भांति रक्षित रहे, सब समय सुलभ पुष्पोंसे शोभायमान तथा जल वा वृक्षोंसे चारों ओर घिरा रहे ॥ ७६ ॥ उक्त गृहमें वास करते हुए राजा शुभलक्षणवाली ऊंचे कुलमें उत्पन्न हुई स्वजातीय, मनोहर और सद्गुणयुक्त स्वरूपवान कन्यासे विवाह करे ॥ ७७ ॥ वशीकरण आदि अथर्व्ववेद विहित कर्म्मोंको सिद्ध करनेवाले कुलपुरोहित और यज्ञादि करनेवाले ऋत्विजोंको राजा नियुक्त करे। वे लोग राजकुलके योग्य वेदोक्त कार्य्योंको करेंगे ॥ ७८ ॥ राजाको अनेक दक्षिणायुक्त अश्वमेध आदि यज्ञ करना चाहिये और धर्म्मार्थ ब्राह्मणोंको शय्या आदि

परो लोके वर्त्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥ अध्यक्षान् विविधान् कुर्य्यात् तत्र तत्र विपश्चितः। तेऽस्य सर्व्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्य्याणि कुर्व्वताम् ॥ ८१ ॥ आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्। नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥ न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति। तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥ न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्। वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥ सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे। प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥ पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च। अल्पं वा बहु वा

अनेक भोग्य वस्तु दान करना उचित है ॥ ७९ ॥ शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार वर्षके शेषमें विश्वासी कर्म्मचारीके द्वारा राजा प्रजासे कर संग्रह करे। वशमें रहनेवाली प्रजाके साथ पिताके समान व्यवहार करे ॥ ८० ॥ राज्यके अनेक प्रकारके कार्य्योंको करनेके लिये जो पृथक पृथक् स्थानमें बहुतसे लोग नियुक्त रहते हैं, उनलोगोंके कार्य्योंको विशेष रीतिसे जाननेके लिये बुद्धिमान, कार्य्यमें कुशल और पण्डित-लोगोंको नियुक्त करना उचित है ॥ ८१ ॥ उपनयनके अनन्तर पढ़नेके वास्ते गुरुगृहमें रहके विद्या पढ़कर जो ब्राह्मण गृहस्थाश्रममें आये हैं, राजा उनका धन धान्यसे सत्कार करे ; क्योंकि ऐसे पात्रोंको धन धान्यादि दान शास्त्रमें अक्षयनिधि करके वर्णित है ॥ ८२ ॥ अन्य सम्पत्तियोंकी भांति ब्राह्मणोंको दी हुई धन धान्यादि रूपी अक्षयनिधि कदापि नष्ट वा शत्रुओं तथा चोरके द्वारा हरण होने योग्य नहीं है ; इस लिये इस अक्षयनिधिकी रक्षामें सब राजाओंको यत्नवान होना आवश्यक है ॥ ८३ ॥ अग्निमें घृतकी आहुति देनेकी अपेक्षा ब्राह्मणके मुख वा हाथमें देनेका फल ज्यादा है, नष्ट नहीं होता। सामान्यको देनेसे सम, विद्वानको द्विगुण तथा वेदपारगको दान देनेसे अनन्त फल होता है ॥८४-८५॥ पात्रको

प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥ ८६ ॥ समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः। न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्म्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥ संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानाञ्चैव पालनम्। शुश्रूषा ब्राह्मणानाञ्च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥ आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः। युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥ न कूटैरायुधैर्हन्याद् युध्यमानो रणे रिपून्। न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥ न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लीवं न कृताञ्जलिम्। न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥ न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्। नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥ नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नाति-

---

कुछ दान करनेसे शास्त्रकी आज्ञानुसार फललाभ हुआ करता है ॥ ८६ ॥ प्रजापालक राजा समान बल, हीनबल और अधिक बलवाले शत्रु, राजाके युद्धके वास्ते आवाहन करने पर "युद्ध ही क्षत्रियोंका धर्म्म है" ऐसा स्मरण करते हुए युद्धसे कदापि निवृत्त न हो ॥ ८७ ॥ ब्राह्मणोंकी सेवा, पूरी रीतिसे प्रजाका पालन, कदापि युद्धसे पीछे न हटना, ये कई एक धर्म्म राजाओंको अवश्य करने योग्य और परम कल्याणकारी हैं ॥ ८८ ॥ युद्ध-भूमिमें एक दूसरेके वधकी इच्छावाले महा पराक्रमी पीछे न हटनेवाले शूरलोग मरनेके अनन्तर निर्विघ्नतासे स्वर्गलोक पाते हैं ॥ ८९ ॥ आपसमें युद्ध करनेके समय कूट अस्त्र, विषमें बुझे बाण, कर्णाकार फलकयुक्त बाण अथवा आग्नेयास्त्रसे शत्रुओंके ऊपर प्रहार करना योग्य नहीं है ॥ ९० ॥ रथहीन होके स्थलपर खड़े हुए, नपुंसक, प्राणभयसे हाथजोड़नेवाले, नङ्गे सिर होके भागनेवाले, युद्धसे निवृत्त होकर आसनपर बैठे हुए और "मैं तुम्हारा हूं" ऐसा कहनेवाले शत्रु कदापि बध करने योग्य नहीं हैं ॥ ९१ ॥ धर्म्महीन, शस्त्र रहित, सोये हुए, नङ्गे, युद्धसे विमुख, केवल देखनेके वास्ते आये हुए और दूसरेसे युद्धमें आसक्त; ये कई एक

परीक्षितम् । न भीतं न पराहत्तं सतां धर्म्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥ यस्तु भीतः पराहत्तः संग्रामे हन्यते परैः । भर्त्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित तत सर्व्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥ यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्ज्जितम् । भर्त्ता तत् सर्व्वमादत्ते पराहत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥ रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः । सर्व्वद्रव्याणि कुप्यञ्च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥ राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः । राज्ञा च सर्व्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७॥ एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्म्मः सनातनः । अस्माद्धर्म्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥ ९८ ॥ अलब्धञ्चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः । रक्षितं

पुरुष भी युद्धमें अवध्य हैं ॥ ९२ ॥ अस्त्र टूट जानेपर, पुत्रशोकसे दुःखी, शस्त्राघातसे विकल शरीरवाले, युद्धभयसे डरे हुए, तथा लड़ाईसे भागे हुए ; ये कई एक राजाके अत्यन्त अवध्य हैं ॥ ९३ ॥ लड़ाईके भयसे डरे हुए और युद्ध छोड़के भागनेवाले योद्धा शत्रुके हाथसे मरनेपर पालनेवालेका सब पाप उनके ऊपर पड़ता है ॥ ९४ ॥ जो योद्धा लड़ाईसे मुंह मोड़कर भागते हुए शत्रुके हाथसे मारेजाते हैं, उनका स्वामी परलोकमें उनके सञ्चित सब पुण्यफलका अधिकारी हुआ करता है ॥ ९५ ॥ धन, धान्य, पुत्र, घोड़ा, रथ, हाथी, स्त्री, गऊ, पशु, सोना रूपा तथा तांवा आदि धातु और घृत आदि वस्तुओंको युद्धको जीतके जिसे जो मिले, वह उसका अधिकारी हुआ करता है ॥ ९६ ॥ जययुक्त वस्तु जो जिसे मिली हो उसमेंसे हाथी घोड़ा आदि युद्धके योग्य वाहन तथा सोने चांदी आदि श्रेष्ठ सम्पति वेदमें कही विधिके अनुसार राजाको समर्पण करे और राजा भी सब धन एकत्र करके यथायोग्य योद्धाओंको बांट देवे ॥ ९७ ॥ यही योद्धाओंका अनिन्दित नित्यधर्म्म कहा गया है, क्षत्रिय राजा वा राजधर्म्मवाले किसी क्षत्रियको इससे विचलित होना योग्य नहीं है ॥ ९८ ॥ अनधिकृत भूमि और रत्न आदि पर अधिकार करनेकी

वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥ ९९॥ एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थ-प्रयोजनम्। अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक् कुर्य्यादतन्द्रितः॥ १००॥ अलब्ध-मिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया। रक्षितं वर्द्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं दानेन निक्षि-पेत॥ १०१॥ नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः। नित्यं संवृतसंवार्य्यो नित्यं छिद्रानुसार्य्यरेः॥ १०२॥ नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्। तस्मात् सर्व्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत्॥ १०३॥ अमाययैव वर्त्तत न

चेष्टा करना, अधिकृत वस्तुओंकी यत्नपूर्व्वक रक्षा करना, जो रक्षित हो उसे और बढ़ानेकी चेष्टा करना और बढ़े हुए धनको सत्पात्रोंको देना,—यही राजाका कर्त्तव्य कार्य्य है॥ ९९॥ इस जगतमें मनुष्योंके जो कुछ मुख्य उद्देश्य अर्थात् स्वर्गादि सुख प्राप्ति है—उक्त चार प्रकारके कार्य्यही उसकी प्राप्तिके एकमात्र उपाय हैं—यह राजाको जानना चाहिये और इसही लिये सदा आलस छोड़के अविरत भावसे उक्त कार्य्योंको करना उसका कर्त्तव्य है॥ १००॥ जो सब देश अपराजित हों चतुरङ्गिनी सेनाके सहारे उसे जय करनेकी चेष्टा करना, विशेष अनुसन्धान करके प्राप्त विषयोंकी रक्षा, रक्षित विषय कृषि वाणिज्य आदिको बढ़ाना और बढ़े हुए धनको उपयुक्त पात्रोंको देना राजाका कर्त्तव्य कार्य्य है॥ १०१॥ सदा सेनाको उत्तम शिक्षा देनी सर्व्वदा पुरुषार्थ दिखाना, विचार और दूतोंके कार्य्योंको गुप्त रखना और सदा शत्रुओंके छिद्रोंको खोजते रहना राजाका मुख्य कार्य्य है॥ १०२॥ जिस राजाकी चारों प्रकारकी सेना उत्तम शिक्षासे युक्त तथा युद्धके वास्ते सदा तैयार रहती है—सब जगत उसके भयसे व्याकुल हुआ करता है; इससेही सब प्राणियोंको वशमें करना योग्य है॥ १०३॥ राजाको योग्य है कि निज मन्त्रियोंके साथ सदा कपट रहित व्यवहार करे—इसके विपरीत होनेसे वह सबके बीच अविश्वासी होगा और यत्नपूर्व्वक निजपक्षकी रक्षा और

कथञ्चन मायया। बुध्येतारिप्रयुक्तांश्च मायां नित्यं स्वसंवृतः॥ १०४॥ नास्य च्छिद्रं परो विद्यात् विद्याच्छिद्रं परस्य तु। गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षे-द्विवरमात्मनः॥ १०५॥ वकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्। वृकवच्चा-वलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥ १०६॥ एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परि-पन्थिनः। तानानयेद्वशं सर्व्वान् सामादिभिरुपक्रमैः॥ १०७॥ यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः। दण्डेनैव प्रसह्यैतान्छनकैर्वशमानयेत॥ १०८॥ सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः। सामदण्डौ प्रशं-सन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये॥ १०९॥ यथोद्धरति निर्द्दाता कक्षं धान्यञ्च

शत्रु पक्षियोंमें भेद कराना तथा दूतोंके द्वारा गुप्तरीतिसे उनका विचार मालूम करना योग्य है॥ १०४॥ यत्नपूर्व्वक अपने छिद्रोंको छिपना और पराये छिद्रोंको दूसरोंके द्वारा जानना राजाका कर्त्तव्य है और जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको छिपा लेता है, वैसेही राजाभी मन्त्री आदि राजाङ्गोंको दान मानसे अपने वशमें करे और दैवी घटनासे प्रकृति भेद होनेपर उसकी शान्तिका उपाय करे॥ १०५॥ वगुलेकी भांति अर्थ चिन्ता करे, सिंहकी भांति पराक्रम दिखावे और व्याघ्रकी तरह शिकार करे तथा दुर्व्वल होनेपर शशककी भांति भाग जाय॥ १०६॥ इसही प्रकार राजाके भलीभांति तयार होकर जयके वास्ते प्रवृत्त होनेपर जो लोग विरुद्धता करें उन्हें साम, दान, भेद और दण्ड, इन चार प्रकारके उपायोंसे अपने वशमें करना योग्य है॥ १०७॥ यदि ऊपर कहे तीन प्रकारके उपायसे शत्रु वशमें न हो, तो बल प्रकाश करके वा युद्धसे राजा उसे अपने वशमें करे॥ १०८॥ साम, दान, भेद और दण्ड इन चारोंके बीच धनक्षयाभाव हेतुसे सामकी तथा धनक्षय होनेपरभी कार्य्य सिद्धिकी अधिकतामें पण्डित लोग दण्डकी प्रशंसा किया करते हैं॥ १०९॥ जैसे किसान खेतीकी रक्षाके वास्ते घासके

रक्षति । तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥ मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया । सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१११॥ शरीरकर्षणात् प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा । तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥ राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् । सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥ द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् । तथा ग्रामशतानाञ्च कुर्य्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥ ग्रामस्याधिपतिं कुर्य्याद्दशग्रामपतिं तथा । विंशतीशं शतेशञ्च सहस्रपतिमेव च ॥११५॥ ग्रामे दोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः

साथ उपजे हुए तृणोंको उखाड़के दूर फेंकता है वैसेही सोदर होनेपरभी दुष्टोंको नष्ट करके शिष्टोंकी रक्षा करना राजाको योग्य है ॥ ११० ॥ जो राजा अपनी बुद्धिहीनतासे कठोरता वा प्रजाके विरुद्ध कार्य्य करता है, वह शीघ्रही राज्यभ्रष्ट होकर वंश सहित नष्ट होजाता है ॥ १११ ॥ जैसे भोजन न मिलनेसे शरीर सूखकर जीवका जीवन नष्ट हुआ करता है, वैसेही साम्राज्यकी पीड़ा बढ़ानेसे राजाका भी जीवन विनष्ट होता है ॥ ११२ ॥ साम्राज्यकी उत्तम रीतिसे रक्षा करनेके वास्ते राजाको नीचे लिखे नियमोंपर ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि राजाके सुरक्षित होनेसेही उसके साथही सुखसम्वृद्धि बढ़ती है ॥ ११३ ॥ राज्यकी सुरक्षाके वास्ते फैलावके अनुसार दो तीन पांच वा एक सौ ग्रामके बीच एक योग्य अधिनायकके अधीनमें एकदल सेनास्थापित करके एक गुल्म अर्थात् अधिष्ठान निर्देश करना योग्य है ॥ ११४ ॥ पहले प्रत्येक गांवमें एक एक अधिपति और फिर क्रमसे प्रताप युक्त देखकर दस गांवके बीच एक, बीस गांवभरमें एक, एक सौ ग्रामके बीच एक तथा फिर एक हजार गांवभरमें एक जन अधिपति राजा नियुक्त करे ॥ ११५ ॥ गांवमें चोरी आदि दोष होनेपर गांवका स्वामी उसका फैसला

शनकैः स्वयम्। शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने॥ ११६॥ विंशतीशस्तु तत् सर्व्वं शतेशाय निवेदयेत्। शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम्॥ ११७॥ यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः। अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्॥ ११८॥ दशी कुलन्तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च। ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम्॥ ११९॥ तेषां ग्राम्याणि कार्य्याणि पृथक्कार्य्याणि चैव हि। राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः॥ १२०॥ नगरे नगरे चैकं कुर्य्यात् सर्व्वार्थचिन्तकम्। उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥ १२१॥ स ताननुपरिक्रामेत् सर्व्वानेव सदा

करनेमें असमर्थ होनेपर दसग्रामके स्वामीके निकट आवेदन करे और वहभी यदि उसका प्रतिकार न कर सके तो बीस गांवके स्वामीके पास निर्णय करावे॥ ११६॥ इसही प्रकार बीस गांववाला एक सौ ग्रामाधीशको और सौ गांववाला एक हजार गांववालेके पास आवेदन करे॥ ११७॥ गांवके लोग जो अन्न पान और लकड़ी आदि प्रतिदिन राजाके वास्ते दें, वह सब ग्रामके स्वामीको मिलेगा। छः बैलसे चलने वाले दो हलसे जोतने योग्य जमीन, दस ग्रामके स्वामीको वृत्ति रूपसे मिलेगी; बीस गांववालेको उसकी पांचगुणी भूमि, एक सौ गांवके स्वामीको एक गांव और एक हजार गांववालेको एक नगर वृत्तिरूपसे मिलना निर्दिष्ट है॥ ११८॥ ११९॥ राजसे नियुक्त एक हितकारी मन्त्री इन ग्रामाधीपोंके ग्राम कार्य्यों तथा दूसरे कार्य्योंको आलस छोड़के देखे॥ १२०॥ प्रत्येक नगरोंके अनुसन्धान लेनेके वास्ते नगरके बीच प्रधान ऊंचे वंशमें उत्पन्न, सब विषयोंके तत्वको जाननेवाला, नक्षत्रोंके बीच शुक्र ग्रहके समान भयङ्कर तेजस्वी अत्यन्त शूर एक अध्यक्ष नियुक्त करना राजाका कर्त्तव्य है॥ १२१॥ पहिले नियुक्त हुए ग्रामधिप लोगोंके कार्य्योंको समय समयपर देखना और दूतोंके द्वारा उनकी चेष्टा मालूम

स्थम् । तेषां वृत्तं परिगायेत् सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरः ॥ १२२ ॥ राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः । भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥ ये कार्य्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः । तेषां सर्व्वस्वमादाय राजा कुर्य्यात् प्रवासनम् ॥ १२४ ॥ राजकर्म्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च । प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानकर्म्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥ पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् । षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥ क्रयविक्रयमध्वानं भक्तञ्च सपरिव्ययम् । योगक्षेमञ्च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान् ॥ १२७ ॥ यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्म्मणाम् । तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान् ॥ १२८ ॥ यथा-

---

करना इस नगराध्यक्षका कर्त्तव्य है ॥ १२२ ॥ रक्षाके लिये नियुक्त हुए राज सेवकोंमेंसे बहुतेरे परधन हरनेवाले और ठग हुआ करते हैं, इसलिये विशेष रीतिसे यत्न पूर्व्वक उनके उपद्रवोंसे प्रजाकी रक्षा करना राजाका कर्त्तव्य कार्य्य है ॥ १२३ ॥ प्रजाओंको रक्षाके वास्ते रखे गये जो सब सेवक वाक्यकौशलसे अर्थी प्रत्यर्थीसे अन्याय पूर्व्वक धन ग्रहण करते हैं; राजाको योग्य है, कि उनका सर्व्वस्व हर ले और उन्हे निर्व्वासित करे ॥ १२४ ॥ राजकार्य्यमें लगे हुए दास दासी तथा सेवकोंके पद वा कार्य्यको श्रेष्ठताके अनुसार राजाको उनकी दैनिक वृत्ति निश्चित करना योग्य है ॥ १२५ ॥ निकृष्ट दास दासीका नित्यका वेतन एक पणकौड़ी छः महीने बाद एक जोड़ा धोती और मासिक चार आढ़ी अनाज है; उत्तम सेवकको इससे छगुणा मिलना चाहिये ॥ १२६ ॥ वाणिज्यकी वस्तुओंके खरीदने और बेंचनेका मूल्य-दूरत्वके अनुसार और चोर आदिसे रक्षणका व्यय व्यवसायके लाभ अंशका हिसाब करके राजा वाणिज्यकी वस्तुओंपर कर स्थापित करे ॥ १२७ ॥ जिसमें राजा और प्रजा अपने अपने कार्य्योंका फल पा सकें, ऐसा विचारकर राजाको

यथाल्पमदन्त्याद्यं वार्य्योकोवत्सषट्पदाः। तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥ १२९॥ पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः। धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥ १३०॥ आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्। गन्धौषधिरसानाञ्च पुष्पमूलफलस्य च॥१३१॥ पत्र-शाक-तृणानाञ्च वैदलस्य च चर्म्मणाम्। मृन्मयानाञ्च भाण्डानां सर्व्वस्याश्ममयस्य च॥१३२॥ म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात् करम्। न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्॥ १३३॥ यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा। तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति॥ १३४॥ श्रुतवृत्ते

सब भांतिसे कर निश्चित करना योग्य है॥ १२८॥ किसी प्रकार प्रजाके मूल धनमें तनिक भी नुकसानी न हो उसही भांति जोंकके रुधिर, बछड़ेके दूध और भौंरेके मधु पीनेकी तरह राजाको थोड़ा थोड़ा विषैक कर ग्रहण करना उचित है॥ १२९॥ सोना रूपा, पशु और रत्न व्यवसायके लोभमेंसे पंचासवां हिस्सा और भूमिकी पैदावारी तथा जोताई आदि व्ययके तारतम्य अनुसार धान आदि अनाजपर छठां आठवां वा दसवां हिस्सा राजाको मिलना योग्य है॥ १३०॥ वृक्ष, मांस घृत, मधु, औषधि, सुगन्धित वस्तु वृक्षोंके रस, फल, मूल और फूल बेंचने खरीदनेके लाभमेंसे छठवां हिस्सा राजा लेवे॥ १३१॥ तृण, पत्ते, शाक, मट्टीके बरतन, बांस और चमड़ेके पात्र तथा पत्थरकी बनी हुई चीजोंमें लाभके अनुसार छठां हिस्सा राजा लेवे॥ १३२॥ राजा धनाभावसे मरणतुल्य होनेपर भी वेदज्ञ ब्राह्मणसे कर न लेवे, राजा भिन्न अधिकारमें बसनेवाले श्रोत्रियका भरण पोषण करे॥ १३३॥ जिस राज्यमें श्रोत्रिय अर्थात् वेद जाननेवाले ब्राह्मण क्षुधासे कातर होते हैं, वह राज्य दुर्भिक्ष-ग्रस्त होकर नष्ट होजाता है॥ १३४॥ श्रोत्रिय ब्राह्मणके वेदादि शास्त्रोंके ज्ञानका विषय और चरित्र जानके राजा उसके योग्य वृत्ति

विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्म्यां प्रकल्पयेत्। संरक्षेत् सर्व्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम्॥ १३५॥ संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्म्ममन्वहम्। तेनायुर्वर्द्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च॥ १३६॥ यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत् करसंज्ञितम्। व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग् जनम्॥ १३७॥ कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः। एकैकं कारयेत् कर्म्म मासि मासि महीपतिः॥ १३८॥ नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषाञ्चातितृष्णया। उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीड़येत॥ १३९॥ तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्य्यं वीक्ष्य महीपतिः। तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः॥ १४०॥ अमात्य-मुख्यं धर्म्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्। स्थापयेदासने तस्मिन् खिन्नः कार्य्येक्षणे नृणाम्॥ १४१॥ एवं सर्व्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः। युक्तश्चैवा-

---

निश्चित करे और चोरोंके उपद्रवसे सब प्रकार उसकी रक्षा करे॥ १३५॥ राजासे रक्षित होके वेद जाननेवाले श्रोत्रिय ब्राह्मण जो धर्म्मानुष्ठान करते हैं, उससे राजाके राज्य, धन और परमायुकी वृद्धि हुआ करती है॥ १३६॥ सामान्य वस्तु क्रय-विक्रयसे जीविका निभाने वाले तथा अत्यन्त सामान्य अवस्थावाली प्रजा से भी थोड़ासा कर लेना योग्य है॥१३७॥ चित्रकार, शिल्पी, दास दासी और श्रमजीवी लोगोंसे राजा महीनेमें एक दिन कार्य्य करा लेवे॥ १३८॥ राजा प्रजाके ऊपर बहुत प्रेम करके कर लेना न छोड़े अथवा अधिक लोभमें पड़के प्रजाका सर्वस्व हरके उनका मूल (जड़) न उखाड़े॥ १३९॥ कार्य्य विशेषमें राजाको कोमल और कठोर भाव धारण करना उचित है; क्योंकि कार्य्यके अनु-रोधसे कोमल और कठोर भाव धारण करनेवाले राजा सब लोगोंमें प्रिय हुआ करते हैं॥ १४०॥ प्रजाके कार्य्योंको देखभाल करनेमें अशक्त होनेपर राजाको चाहिये कि सत्वंशमें उत्पन्न हुए पण्डित जितेन्द्रिय, बुद्धिमान और धर्म्म जाननेवाले श्रेष्ठ मन्त्रीको सार्यों प्र [illegible]के कार्य्य

प्रमत्तस्य परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥ विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः। संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥ क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्। निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥ उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः। हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत् स शुभां सभाम् ॥१४५॥ तत्र स्थितः प्रजाः सर्व्वाः प्रतिनन्द्य विसर्ज्जयेत्। विसृज्य च प्रजाः सर्व्वा मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥ गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः। अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥ यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः। स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोषहीनोऽपि पार्थिवः ॥ १४८ ॥ जड़मूकान्धबधिरां

देखनेके लिये नियुक्त करे ॥ १४१ ॥ इसही प्रकार राजा अपने कर्त्तव्य कार्य्योंको करते हुए उत्साहित मन और सावधान चित्तसे प्रजाकी रक्षा करे ॥ १४२ ॥ रक्षाके वास्ते आरत होकर पुकारनेवाली प्रजाका धन चोरोंके द्वारा राजाके सामने हरे जानेपर वह राजा मरा हुआ गिना जाता है ॥ १४३ ॥ सब धर्म्मसे बढ़के प्रजाको पालनाही क्षत्रियका श्रेष्ठ धर्म्म है ; शास्त्रकी विधि अनुसार कर लेनेवाला राजा सब प्रकारसे प्रजाको प्रतिपालन करनेमें वाध्य है ॥ १४४ ॥ राजा सवेरे उठके प्रातःक्रिया करनेके उपरान्त सावधान चित्तसे प्रतिदिन अग्निहोत्रमें होम तथा द्विजातियोंका सत्कार करके सुसज्जित सभागृहमें आवे ॥ १४५ ॥ सभामें स्थित राजा स्नेहकी दृष्टि और मधुर वचनसे प्रजा समूहको सन्तुष्ट करके बिदा करे और मन्त्रियोंके साथ सलाह करे ॥ १४६ ॥ पहाड़के ऊपर, निर्ज्जन अटारी, जङ्गल अथवा निर्ज्जन स्थानमें मन्त्रभेदक लोगोंसे भली भांति छिपाकर विचार करना योग्य है ॥ १४७ ॥ मन्त्रीके सिवा दूसरा कोई भी जिस राजाका विचार सुननेमें समर्थ नहीं होता, वह थोड़ी सम्पत्तिवाला होनेपर भी धीरे धीरे पृथ्वीका अधीश्वर हो

स्तैर्य्यग्योनान् वयोऽतिगान् । स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान् मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥ भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्य्यग्योनास्तथैव च । स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात् तत्रादृतो भवेत् ॥ १५० ॥ मध्यन्दिनेऽर्द्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः । चिन्तयेद्धर्म्मकामार्थान् सार्द्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥ परस्परविरुद्धानां तेषाञ्च समुपार्ज्जनम् । कन्यानां संप्रदानञ्च कुमाराणाञ्च रक्षणम् ॥ १५२ ॥ दूतसंप्रेषणञ्चैव कार्य्यशेषं तथैव च । अन्तःपुरप्रचारञ्च प्रणिधीनाञ्च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥ कृत्स्नञ्चाष्टविधं कर्म्म पञ्चवर्गञ्च तत्त्वतः । अनुरागा-

---

जाता है ॥ १४८ ॥ म्लेच्छ, रोगी, विकलाङ्ग, अन्धे, बहिरे, मूर्ख, गूंगे, बहुत बूढ़े, स्त्री और शुक सारिका आदि पक्षियोंको मन्त्रणा गृहसे दूर कर देवे ॥ १४९ ॥ स्त्रियां और पक्षी अस्थिरता रूपी स्वभाव दोषसे मन्त्रणा भेद किया करते हैं; पूर्व्वजन्मके कर्म्मदोषसे जड़ आदि भाव-युक्त विकलाङ्ग लोग स्वाभाविक अपमानित रहनेसे मन्त्रणा भेद किया करते हैं ॥ १५० ॥ दिनमेंही दोपहर वा रात्रिके समय राजा अकेले अथवा मन्त्रियोंके सहित धर्म्म-काम-अर्थकी चिन्ता करे ॥ १५१ ॥ निर्व्विरोध धर्म्म काम-अर्थको अर्ज्जन करनेमें राजा यत्नवान होवे, उपयुक्त पात्रको कन्या दान करे और उत्तम शिक्षासे सन्तानोंकी असत् मार्गसे रक्षा करे ॥ १५२ ॥ गुप्त रीतिसे दूसरोंके राज्यमें दूत भेजे, आरम्भ कार्य्यको पूरा करे, सखियोंसे अन्तपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंके व्यवहारको जाने तथा अन्य दूतोंको नियुक्त करके अपने भेजे हुए पराये राज्यमें गये हुए गूढ़ दूतोंकी चेष्टाओंको जानना राजाका कर्त्तव्य कार्य्य है ॥ १५३ ॥ आय, व्यय, कर्म्मचारियोंका आचरण, विरुद्ध कार्य्योंका निषेध, सन्दिग्ध कार्य्यकी व्यवस्था, व्यवहार दृष्टि, दण्ड, पापका प्रायश्चित्त ; इन आठ प्रकारके राज-कार्य्यों और कापटिक, उदासित, गृहपतिव्यञ्जक वैदेहिकव्यञ्जक और तापस-व्यञ्जक इन पांच प्रकारके अनुराग विराग और निकटवर्त्ती राजाओंकी

परागां च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥ मध्यमस्य प्रचारञ्च विजिगीषोश्च चेष्टितम्। उदासीनप्रचारञ्च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥ एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः। अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥ १५६ ॥ अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः। प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥ अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च। अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥ तान् सर्व्वानभिसन्दध्यात् सामादिभिरुपक्रमैः। व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥ सन्धिञ्च विग्रहञ्चैव यानमासनमेव च। द्वैधीभावं संश्रयञ्च षड्-गुणांश्चिन्तयेत् सदा ॥ १६० ॥ आसनञ्चैव यानञ्च सन्धिं विग्रहमेव च। कार्य्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥ सन्धिन्तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च। उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

अवस्थापर राजाको विशेष मन लगाना उचित है ॥१५४॥ मध्यम बलशाली, जयेयुक्त, उदासीन और सहज शत्रु राजाके आचरणपर दृष्टि रखना राजाका कर्त्तव्य है ॥ १५५ ॥ इन चारों वा मित्र, अरिमित्र, पार्ष्णिग्राह आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहसार आदि आठ प्रकृति राजाकी द्रष्टव्य हैं ॥१५६॥ इन बारहों प्रकृतियोंमेंसे प्रत्येककी अमात्य, राष्ट्र, किला, अर्थ, दण्ड—ये पांच पांच और बारह प्रकृति सब समेत बहत्तर प्रकृति दूसरे राज्यविषयमें विचार सम्बन्धमें प्रधान रूपसे गिनी जावेंगी ॥१५७॥ अव्यवहित अन्तर्व्वर्त्ती और शत्रुसेवी राजाको शत्रु, सहजशत्रुके अन्तर्व्वर्त्ती राजाको मित्र और उसके अन्तर्व्वर्त्ती राजाको उदासीन जाने। इन्हें साम, दाम, भेद दण्ड वा पुरुषार्थ तथा केवल सामसे वशमें करे। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय,—इन षड्गुणोंको राजा स्थिर भावसे विचारे और इन्हें उपयुक्त स्थानमें अवलम्बन करे ॥ १५८।१६१ ॥ इन षड्गुणोंमें प्रत्येक-कोंही अवस्थाभेदसे दो प्रकार राजाको जानना आवश्यक है ॥ १६२ ॥

समानयानकर्म्मा च विपरीतस्तथैव च । तदा त्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ १६३ ॥ स्वयं कृतश्च कार्य्यार्थमकाले काल एव वा । मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥ एकाकिनश्चात्ययिके कार्य्ये प्राप्ते यदृच्छया । संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥ क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्व्वकृतेन वा । मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥ बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्य्यार्थसिद्धये । द्विविधं कीर्त्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥ अर्थसम्पादनार्थञ्च पीड्यमानस्य शत्रुभिः । साधुषु

सन्धि दोप्रकारकी है—वर्त्तमान वा भावीफल लाभकी आशासे मित्र राजाके साथ मिलके शत्रु पर चढ़ाई करनेके प्रथम और परस्परमें मित्रभावसे चढ़ाई करनेके वास्ते मित्र राजाके साथ जो सन्धि स्थापित होती है, वह द्वितीय है ॥ १६३ ॥ विग्रह दो प्रकारका है ;—यथार्थ समय वा असमयमें ही हो, शत्रु राजाकी शत्रुता प्राप्त करनेके वास्ते जो विग्रह होता है, वह प्रथम और मित्रराजाकी शत्रुता प्राप्त करनेके वास्ते जो विग्रह होता है, वह दूसरा है ॥ १६४ ॥ यान भी दोप्रकारका है ;—शत्रुका कुछ छिद्र पाने पर उसके विरुद्ध राजा अपनी शक्ति समझकर जो अकेले चढ़ाई करता है, वह पहिला, और अपनी असमर्थतासे दूसरे राजाके साथ मिलके युद्धके वास्ते चढ़ता है, वह दूसरा है ॥ १६५ ॥ आसन भी दो प्रकारका है ;—दैव संयोग अथवा पूर्व्वजन्मके पापोंसे सर्व्वक्षान्त होना, जो राजाका आसन है, वह पहिला और मित्र राजाके विषयमें अनुकम्पा दिखाना दूसरा है ॥ १६६ ॥ सब सेनाको दो हिस्सेमें बांटकर एक दलका प्रधान सेनापति, और दूसरे दलका राजा स्वयं नायक बनकर ... स्थानान्तरमें निवास करता है, इस द्वैधीभावको भी दोप्रकारका मा...त्र करते हैं ॥ १६७ ॥ संश्रय भी दो प्रकारका है ;—शत्रुसे प्रपीड़ित भ...कर उसके प्रतिकारके वास्ते राजान्तरका आश्रय ग्रहण करना पहिला हो...

व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥१६८॥ यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः। तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत॥१६९॥ यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्। अत्युच्छ्रितं तथात्मनं तदा कुर्वीत विग्रहम्॥१७०॥ यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्। परस्य विपरीतञ्च तदा यायाद्रिपुं प्रति॥१७१॥ यदा तु स्यात् परिक्षीणो वाहनेन बलेन च। तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्॥१७२॥ मन्यतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्। तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत् कार्य्यमात्मनः॥१७३॥ यदा परबलानान्तु

और भावी पराभवकी शङ्काकी घोषणाके वास्ते जो राजान्तरका आसरा ग्रहण किया जाता है, वह दूसरा है॥१६८॥ जब राजा निश्चय समझ सके, कि थोड़े दिनके बादही उसकी सेना बढ़ेगी, तब शीघ्रही थोड़ी नुकसानी सहके भी उसके साथ युद्ध न करके सन्धि करना योग्य है॥१६९॥ जब राजा देखे, कि हम तीनों शक्तियोंसे युक्त और प्रकृतिवर्ग भी दृढ़शक्ति वाली है, तब उसे सब तरहसे युद्धही करना उचित है॥१७०॥ जब राजाको विशेष रीतिसे मालूम हो कि हमारी सारी सेना प्रफुल्लित है और उसे किसी बातका कुछ अभाव नहीं है तथा शत्रुओंकी अवस्था इसके विपरीत है, तब राजा युद्धके वास्ते चढ़ाई करे॥१७१॥ परन्तु जब राजा देखे कि हमारे बोझा ढोनेवाले पशुओं तथा सेनाकी संख्या बहुत थोड़ी है, तब सावधानीसे धीरे धीरे शत्रुको साम-दान आदिसे शान्त करके स्वयं आसन परिग्रह करे॥१७२॥ जब राजा देखे कि शत्रु राजा अपनेसे सब तरह बलवान है, तब शत्रुको कार्य्यासक्त रखनेके लिये वहां एक सेना दल रखके स्वयं निरापद होनेके वास्ते सेनाका दूसरा दल लेकर एक दुर्ग-स्थानमें निवास करे॥१७३॥ जब राजा देखे कि हम चाहे कहीं र सब ठौर शत्रुसे आक्रान्त होनेकी सम्भावना है, तब उसे बहुत शीघ्र॥

मप्रयनीतमो भवेत्। तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्म्मिकं बलिनं नृपम्॥ १७४॥ निग्रहं प्रकृतीनाञ्च कुर्य्याद्योऽरिबलस्य च। उपसेवेत तं नित्यं सर्व्वयत्नैर्गुरुं यथा॥ १७५॥ यदि तत्रापि सम्पश्येद्दोषं संश्रयकारितम्। सुयुद्धमेव तत्रापि निर्व्विशङ्कः समाचरेत्॥ १७६॥ सर्व्वोपायैस्तथा कुर्य्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः। यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः॥ १७७॥ आयतिं सर्व्वकार्य्याणां तदात्वञ्च विचारयेत्। अतीतानाञ्च सर्व्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः॥ १७८॥ आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः। अतीते कार्य्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते॥ १७९॥ यथैनं नाभिसन्दध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः। तथा सर्व्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः॥१८०॥

साथ धार्म्मिक और प्रबल पराक्रमी एक राजाका आसरा लेना योग्य है ॥ १७४॥ जिसके भयसे दूसरेका आसरा ग्रहण करे वह उसकी दो प्रकृति-वर्ग तथा उसके शत्रुको पराजित करनेमें जो राजा समर्थ हो, गुरुकी भांति उसीकी सेवा करना योग्य है अर्थात् उसीका आसरा ग्रहण करे। परन्तु यदि वह इस अवस्थामें भी उस आसरेकोही अमङ्गलका कारण समझे, तो निशङ्कचित्तसे युद्धही आरम्भ करे॥१७५।१७६॥ इन सब विषयोंकी पर्य्यालोचना करता हुआ नीति जाननेवाला राजा सब तरहसे यत्नपूर्व्वक ऐसा कार्य्य करे कि जिससे मित्र, उदासीन वा शत्रु राजा कोई भी प्रबल न हो सके॥ १७७॥ अपने विहित कार्य्योंके सदसत फल और राज्यकी भूत वर्त्तमान तथा भविष्य अवस्थाको विशेष रीतिसे विचारना योग्य है ॥ १७८॥ जो राजा कोई उपाय अवलम्बन करनेके पहिले उससे क्या मङ्गल अमङ्गल होगा,—समझ सकता है; उपस्थित कार्य्योंको विशेष बुद्धिमानीके साथ शीघ्र पूरा करता और अपने जीवनकी भूतपूर्व्व घटनाओंको भलीभांति विचारके देखता है, वह कदापि शत्रुओंसे पराजित नहीं होता॥ १७९॥ राजाको अपना कार्य्य ऐसी उत्तम रीतिसे करना योग्य है

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः। तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः॥ १८१॥ मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः। फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम्॥ १८२॥ अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद्ध्रुवं जयम्। तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः॥ १८३॥ कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकञ्च यथाविधि। उपगृह्यास्पदञ्चैव चारान् सम्यग्विधाय च॥ १८४॥ संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधञ्च बलं स्वकम्। साम्परायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥ १८५॥ शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्। गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥ १८६॥ दण्ड-व्यूहेन तन्मार्गं यायात् तु शकटेन वा। वराह-मकराभ्यां वा सूच्या वा

कि मित्र, उदासीन वा शत्रु राजा,—कोई भी प्रबल होके उसे पीड़ित न कर सके,—संक्षेपमें यही राजनीति कहके वर्णित हुई है॥ १८०॥ जब राजा शत्रुराज्यकी ओर चढ़ाई करे, तब उसे नीचे लिखी रीति अनुसार शत्रुके नगरकी ओर बढ़ना उचित है॥ १८१॥ राजाको योग्य है, कि शुभ अगहन, फाल्गुन वा चैतके महीनेमें युद्धके वास्ते चढ़ाई करे॥ १८२॥ अन्य ऋतुमें भी जब राजा समझे कि विजयकी पूरी आशा है, अथवा शत्रु किसी प्रकारसे विपदग्रस्त है, तब बहुतसी सेनाके सहित उसपर चढ़ाई करना योग्य है॥ १८३॥ अपने करने योग्य कार्य्योंकी उत्तम व्यवस्था करके और पराये राज्यमें वास करनेके योग्य वस्तुओंको संग्रह पराये राज्यकी वार्त्ता और गतिक उपायकर, जल जङ्गल और मार्गको आपद रहित जानके युद्धके वास्ते सेना सज्जित करके उसे पैदल ही क्रमसे शत्रुराज्यकी ओर चलावे॥१८४॥१८५॥ शत्रुकी सेवा करनेवाला मित्र और विरक्त दूसरेका आश्रित तथा पुनर्व्वार आया हुआ सेवक ये—कदापि पूरी रीतिसे विश्वासके योग्य नहीं हैं;—ये सङ्कटिक शत्रु हैं॥१८६॥ चढ़ाईके समय चारों ओरसे भय प्राप्त होनेपर राजा दण्डव्यूह बनाकर यात्रा करे;

गरुड़ेन वा ॥ १८७ ॥ यतश्च भयमाशङ्केत् ततो विस्तारयेद्बलम्। पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥ १८८ ॥ सेनापति-बलाध्यक्षौ सर्व्वदिक्षु निवेशयेत्। यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥ १८९ ॥ गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः। स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः॥ १९० ॥ संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद्बहून्। सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्ययोधयेत्॥ १९१ ॥ स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा। वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्म्मायुधैः स्थले॥ १९२ ॥ कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पाञ्चालान् शूरसेनजान्। दीर्घान् लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योध-

---

पीछे भयकी शङ्का होनेपर शकटव्यूह; दोनो पसवाड़ेकी ओर सन्देह होनेसे वराह और मकरव्यूह रचके चले॥ १८७॥ जिधरसे राजाको विपदका अधिक सन्देह हो, उसही ओर अपनी सेनाका फैलाव करे और पद्मव्यूह बनाकर उसमें गुप्तभावसे वास करे॥ १८८॥ सेनापतियों तथा प्रधान सेनाध्यक्षको सदा युद्धक्षेत्र देखभालके वास्ते नियुक्त करे और जिधरसे आक्रमणकी शङ्का हो उसही ओरसे आगे बढ़ना राजाका कर्त्तव्यकार्य्य है॥ १८९॥ जो सब सेना,—अवस्थान युद्ध और आक्रमण युद्धमें निपुण हो, जो न डरनेवाली तथा कदापि रणभूमिसे पीछे न हटती हो,—ऐसी कृतसंज्ञ आप्त सैन्यगुल्मको राजा युद्धक्षेत्रके चारों ओर रखे॥ १९०॥ सेनाकी संख्या थोड़ी होनेपर संहतभाव और अधिक होनेपर विस्तृतभावसे सेना खड़ीकर सूची वा वज्रव्यूह बनाकर राजा युद्ध करे॥ १९१॥ समतल भूमिमें घुड़सवार रथी और पैदल सेनासे तथा जलमें नौका और हाथीसे, वृक्ष लता लतासे परिपूरित स्थानमें धनुर्व्वाणसे और साफ भूमिमें ढाल तलवारसे युद्ध करे॥ १९२॥ विराट, कान्यकुब्ज, कुरुक्षेत्र, मथुरा और न बहुत मोटे न ज्यादा दुबले लम्बे शरीरवाली अन्यान्य देशोंकी सेनाको सबसे आगे स्थापित करे॥ १९३॥ ऊपर कही

येत् ॥ १९३ ॥ प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् । चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥ १९४ ॥ उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रञ्चास्योपपीड़येत् । दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥ भिन्द्याच्चैव तड़ागानि प्राकारपरिखास्तथा । समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत् तथा ॥ १९६ ॥ उपजप्यानुपजपेद्बुध्येतैव च तत्कृतम् । युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥ साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥ अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः । पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥

रीतिसे सेनाका व्यूह रचके "सम्मुखयुद्धमें मृत्यु वा जय दोनोंसे ही स्वर्ग मिलता है" इत्यादि वाक्योंसे सेनाका उत्साह और हर्ष बढ़ाकर क्रोध उत्पन्न होता है वा नहीं उसकी परीक्षा और युद्धभाव राजाको जानना योग्य है ॥ १९४ ॥ शत्रु तथा शत्रुराज्यको सेनाके सहारे घेरके पीड़ित करे तथा शत्रुके अन्न जल तृण काष्ठ आदि वस्तुओंको बुरी चीजोंके द्वारा दूषित करे ॥ १९५ ॥ तड़ाग और तालावोंके जलको विनष्ट करना, किला तथा प्राकार तोड़ना, नहर खाईं आदि जलरहित करना इत्यादि उपायसे शत्रुको भयभीत तथा रात्रिको बाजा बजाकर त्रासित करे ॥ १९६ ॥ राज्य चाहनेवाले और भेदाहे, शत्रुवंशमें उत्पन्न हुए राजपुरुष तथा क्षुब्ध सेवकोंको अपने वशमें कर उनके द्वारा शत्रुकी सब चेष्टा जानके शुभग्रह और शुभ समयमें निर्भयचित्तसे युद्ध करे ॥ १९७ ॥ पहिले कदापि विग्रहकी चेष्टा न करके साम, दान, भेद—इन तीनों उपायोंमेंसे किसी एक उपायको प्रयोगकर वा एकही समयमें तीनोंको प्रयोग करके राजा शत्रुको जीतनेमें यत्नवान होवे ॥ १९८ ॥ अल्पबल वा अधिकबलवाले युद्ध करते हुए दोनों पक्षोंमेंसे किसकी जीत और किसकी हार होगी,— जबकि अगाड़ी इसका कोई भी निश्चय नहीं कर सकता; तब पहिले

सर्वथाशक्यमुपायानां पूर्व्वोक्तानामसम्भवे। तथा युध्येत संयत्तो विजयेत रिपून् यथा ॥ २०० ॥ जित्वा सम्पूजयेद्देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्म्मिकान्। प्रदद्यात् परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥ सर्व्वेषान्तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्। स्थापयेत् तत्र तद्वंश्यं कुर्य्याच्च समयाक्रियाम् ॥२०२॥ प्रमाणानि च कुर्व्वीत तेषां धर्म्म्यान् यथोदितान्। रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधान-पुरुषैः सह ॥ २०३ ॥ आदानमप्रियकरं दानञ्च प्रियकारकम्। अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥ सर्व्वं कर्म्मेदमायत्तं विधाने

विग्रह करना यत्नपूर्व्वक छोड़के अन्य उपाय अवलम्बन करनाही राजाको योग्य है ॥ १९९ ॥ जब राजा देखे, कि साम, दाम, और भेद, इन तीनों उपायोंसे भी किसी प्रकार जयकी सम्भावना नहीं है, तब वह सब प्रकारसे तैयार होके प्राणपणसे ऐसा युद्धकरे कि जिससे उसका शत्रु एकवारगी सब प्रकारसे पराजित हो ॥ २०० ॥ इसही भांति विजय करके प्राप्त हुए राज्यमें स्थित देवता और ब्राह्मणोंको पूजाके वास्ते भूमि तथा सुवर्ण आदि अधिक मूल्यवान वस्तु दान वा अन्य प्रजासमूहको अभयदान करे ॥२०१॥ उसके अनन्तर राजाको चाहिये, कि पराजित राजपुरुषोंके आचरण तथा अभिप्रायको विशेष रीतिसे जानकर शत्रुवंशमें उत्पन्न एक पुरुषको राज्याभिषिक्त करके उसे उस समयके अनुसार कर्त्तव्याकर्त्तव्य उपदेश करे ॥ २०२ ॥ विजित देशवासियोंके देशाचार और गुरु परम्परागत शासन प्रणाली निज देशाचारके विरुद्ध होनेपर भी यदि धर्म्मसङ्गत हो, तो वही वहां प्रचलित रखना आवश्यक है और रत्नादि उत्कृष्ट द्रव्य दानसे उन स्थानोंमें अभिषिक्त राजा और मन्त्रियोंको सन्तुष्ट करना राजाका कर्त्तव्य है ॥ २०३ ॥ यद्यपि इस चराचर जगतमें देखा जाता है किसीकी कुछ प्रियवस्तु छीन लेनेसे उसे दुख और देनेसे सुख होता है ; तथापि समय विशेषमें अभिलषित वस्तुका देना और लेना-दोनोंही प्रशंसनीय है ॥२०४॥

दैवमानुषे। तयोर्दैवमचिन्त्यन्तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥ सह वापि व्रजेद्युक्तः सन्धिं कृत्वा प्रयत्नतः। मित्रं हिरण्यं भूमिं वा सम्पश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६ ॥ पार्ष्णिग्राहञ्च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दञ्च मण्डले। मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥ हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते। यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥ धर्मज्ञञ्च कृतज्ञञ्च तुष्टप्रकृतिमेव च। अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु मित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥ प्राज्ञं कुलीनं शूरञ्च दक्षं दातारमेव च। कृतज्ञं धृतिमन्तञ्च कष्टमाहुररिं

संसारमें सब कार्य्य दैव और मनुष्यके अधीन होते हैं; परन्तु दैव अदृष्ट होनेसे सोचनेसे जाना नहीं जाता,—पौरुषके कार्य्य दृष्ट होनेसे क्रियासाध्य हैं ॥ २०५ ॥ यदि शत्रुराजा बिना युद्ध किये मित्रभावसे विजय चाहनेवाले राजासे मिले वा उत्तम रत्न तथा राज्यका कुछ हिस्सा दान करे,तो विजय चाहनेवाले राजाको उचित है,कि उसके साथ सन्धि करके अपने राज्यमें लौट आवे ॥ २०६ ॥ युद्धके समय चढ़ाई करनेवाले विजयी राजाको चाहिये, कि राजमण्डलीके बीच पार्ष्णिग्राह और आक्रन्द इन दोनों राजाओंकी ओर समभावसे विशेष ध्यान रखे ; क्योंकि इन दोनोंकी मित्रता वा शत्रुतासे ही उसके युद्धयात्रामें फललाभकी सम्भावना है ॥ २०७ ॥ अकस्मात् हीनबल होनेपर भी परिणाममें बुद्धियुक्त स्थिर मित्र लाभसे राजाको जिस प्रकार राजशक्ति बढ़नेकी सम्भावना है,—बहुमूल्यवान् रत्न और भूमि सम्पत्ति प्राप्त होनेपर भी वैसी बढ़ती होनी सम्भव नहीं है ॥ २०८ ॥ जो कृतज्ञ और धर्म्म जाननेवाला है, जिसकी प्रजा अनुरक्त और सन्तुष्ट है, जो स्थिरबुद्धिसे कार्य्यारम्भ करता है, वह अकस्मात् हीनबल होने पर भी प्रशंसनीय है ॥ २०९ ॥ सद्वंशमें उत्पन्न हुए बुद्धिमान्, अधावली पराक्रमी कार्य्यमें चतुर, कृतज्ञ दाता और धीरजवान शत्रुको पण्डितलोग दुष्पराजय कहके वर्णन करते हैं ॥ २१० ॥ जो ऐश्वर्य्ये हो

बुधाः ॥ २१० ॥ आर्य्यता पुरुषज्ञानं शौर्य्यं करुणवेदिता। स्थौललक्ष्यञ्च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ क्षेम्यां शस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि। परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥ आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि। आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥ सह सर्व्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम्। संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्व्वोपायान् सृजेद्बुधः॥ २१४॥ उपेतारमुपेयञ्च सर्व्वोपायांश्च कृत्स्नशः। एतत् त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥ एवं सर्व्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः। व्यायाम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥ तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्य्यैः

लोगोंके स्वभावको समझनेमें समर्थ हो, जो महावली, पराक्रमी अत्यन्त सज्जन, दयालु, और विलक्षण दाता हो;—ऐसा उदासीन राजा विजय चाहनेवालेका अवलम्बनीय है ॥ २११ ॥ नीरोग आदि हेतुसे कल्याणकारी सदा बहुतसे शस्य उपजानेवाले तृणकी अधिकता होनेसे पशुओंकी रक्षा करनेवाली भूमि भी आत्मरक्षाके वास्ते कुछ सोच न करके राजा छोड़ देवे ॥ २१२ ॥ आपदसे बचनेके लिये धन सञ्चय करे, धन छोड़के धर्म्म-पत्नीकी रक्षा करे और इन दोनोंको छोड़ कर भी सदा अपनी रक्षामें यत्नवान होना उचित है ॥ २१३ ॥ बुद्धिमान राजाको उचित है, कि धन नष्ट, प्रजाके क्रोधित और मित्र व्यसन आदि सब प्रकारकी विपद एकवारगी उपस्थित होनेपर क्षुब्ध न हो वल्कि प्रयोजनके अनुसार एकही वार वा पृथक् पृथक् साम आदि चारो उपायोंको प्रयोग करे ॥ २१४ ॥ उपेता, उपेय और उपाय इन तीनोंके अवलम्बसे अर्थसिद्धिके वास्ते सब प्रकारसे यत्नवान होना आवश्यक है ॥ २१५ ॥ इसही प्रकार सब विषयोंको मन्त्रियोंके सहित विचारके अस्त्र व्यायाम आदि कार्य्य पूरा करना, मध्याह्न समयमें स्नान आदि करके भोजनके वास्ते अन्तःपुरमें प्रवेश करे ॥ २१६ ॥ अन्तः-पुरमें जाकर भोजनका समय जाननेवाले दूसरेसे अभेद्य, परम आत्मीय

परिचारकैः । सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥ विषघ्नैरगदै-श्चास्य सर्व्वद्रव्याणि योजयेत् । विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत् सदा ॥ २१८ ॥ परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः । वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥ एवं प्रयत्नं कुर्व्वीत यानशय्यासनाशने । स्नाने प्रसाधने चैव सर्व्वालङ्कारकेषु च ॥ २२० ॥ भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभि-रन्तःपुरे सह । विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्य्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥ अलङ्कृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम् । वाहनानि च सर्व्वाणि शस्त्राण्या-भरणानि च ॥ २२२ ॥ सन्ध्याञ्चोपास्य शृणुयादन्तर्व्वेश्मनि शस्त्रभृत् । रह-स्याख्यायिनाञ्चैव प्रणिधीनाञ्च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥ गत्वा कक्षान्तरन्त्वन्यत् समनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्भोजनार्थञ्च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥

रसोइयेंसे बनाया हुआ, परीक्षा और विष दूर करनेवाले वेदमन्त्रोंसे शुद्ध किया हुआ उत्तम शोभायमान अन्न व्यञ्जनादि राजा भोजन करे ॥ २१७ ॥ यत्नपूर्व्वक राजभोज्य वस्तुओंको विष नष्ट करनेवाली औषधियोंसे युक्त करावे और स्वयं विषनाशकारी रत्नोंको धारण करे ॥ २१८ ॥ परीक्षा की हुई वेष वस्त्र भूषित स्त्रियां चंवर डुलाती रहें तथा पीनेके वास्ते जल वा धूप आदिसेराजाकी सेवा करें। इसही भांति यत्नपूर्व्वक सब कार्य्योंको राजा सम्पन्न करे ॥ २१९ ॥ २२० ॥ भोजनके अनन्तर दिनको आठ हिस्सेमें बांटके सातवां हिस्सा राजा स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा कौतुकमें बितावे और आठवें भागमें फिर अपने कार्य्योंको विचारे ॥ २२१ ॥ अनन्तर राजा स्वयं अलङ्कृत होकर अस्त्रशस्त्रजीवी योद्धाओं, हाथी आदि वाहनों और अस्त्रशस्त्रों की परीक्षा करे ॥ २२२ ॥ उसके बाद शामको सन्ध्या वन्दन आदि करके सशस्त्रही राजा राजमन्दिरमें जाके सम्वाददाताओं तथा गूढ़चरोंसे गुप्तकार्य्योंको सुनके उन्हें विदा करे और परिचारिका स्त्रियोंके साथ फिर भोजनके वास्ते अन्तःपुरमें जावे ॥ २२३॥२२४ ॥ अन्तः-

तत्र सुक्त्वा पुनः किञ्चित् तूर्य्यघोषैः प्रहर्षितः । संविशेत् तु यथाकालमुत्-तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥ एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः । अस्वस्थः सर्व्वमेतत् तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

पुरमें कानको सुखदेनेवाले तुरही आदि बाजोंसे प्रसन्नचित्त होकर डेढ़ प्रहर रात्रिके बीच कुछ खाकर सोवे और रात्रि बीतने पर श्रमरहित हो सवेरे शय्यासे उठे ॥ २२५ ॥ जबतक शरीर नीरोग रहे, तबतक नियम-पूर्व्वक शास्त्रविधिसे स्वयं राज्यशासन करे और शरीरमें कुछ रोग होने पर योग्य मन्त्रियोंके ऊपर राज्यभार अर्पण करे ॥ २२६ ॥

सात अध्याय समाप्त ।

अष्टमोऽध्यायः ।

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः। मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम् ॥ १ ॥ तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्। विनीतवेशाभरणः पश्येत् कार्य्याणि कार्य्यिणाम् ॥ २ ॥ प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः। अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥ तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः। सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म्म च ॥ ४ ॥ वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः। क्रय-विक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥ सीमाविवादधर्म्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके। स्तेयञ्च साहसञ्चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥ स्त्रीपुंधर्म्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च। पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥

अथ आठवां अध्याय ।

व्यवहार देखनेकी इच्छावाला राजा ब्राह्मणों तथा विचार करनेमें निपुण मन्त्रियोंके साथ विनीतभावसे धर्म्माधिकरण सभामें जावे। वहां बैठके वा खड़ा रहके दाहिना हाथ बाहिर कर अनुद्धत वेश भूषणोंसे युक्त हो, वादी प्रतिवादीके कार्य्योंको देखे ॥ १।२ ॥ अठारह प्रकारके विवादमूलक उन व्यवहारिक कार्य्योंमें प्रतिदिन देश,जाति और कुलाचारके अनुसार हेतु और शास्त्रीय साक्षी लेख आदि प्रमाणोंको पृथक् पृथक् विचार करे ॥ ३ ॥ विवाद विषयके बीच प्रथम ऋणदान, निक्षेप, अस्वामि विक्रय, सम्भूयसमुत्थान, दत्ताप्रदानिक, वेतन दान, संविद् व्यतिक्रम, क्रय विक्रयानुशय, स्वामिपाल विवाद, सीमा विवाद, वचनकी कठोरता, चोरी, साहस, स्त्रीसंग्रहण,स्त्री-पुरुषधर्म्म विभाग,जुआ और आह्वय—ये अठारह

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्। धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम्॥ ८॥ यदा स्वयं न कुर्यात् तु नृपतिः कार्यदर्शनम्। तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने॥ ९॥ सोऽस्य कार्याणि सम्पश्येत् सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः। सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा॥ १०॥ यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः। राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः॥ ११॥ धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते। शल्यञ्चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ १२॥ सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्। अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी॥ १३॥ यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ १४॥ धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्

पर व्यवहार विषयमें वर्णित हैं॥ ४॥ ७॥ इन अठारह स्थानोंमें लोगोंके बीच प्रायः विवाद हुआ करता है; राजा नित्यधर्मके सहारे इन कार्यों को निरूपण करे॥ ८॥ जब राजा स्वयं इन कार्योंके देखनेमें असमर्थ हो, तो विद्वान् ब्राह्मणको नियुक्त करे॥ ९॥ वह विद्वान् ब्राह्मण तीन सभ्योंके साथ धर्माधिकरण सभामें जाके राजकार्योंको पूरा करे॥ १०॥ जिस सभामें तीनों वेदोंके जाननेवाले ब्राह्मण सभ्य [राजप्रतिनिधिके सहित रहते हैं, उसे ब्रह्मसभा कहते हैं॥ ११॥ सभामें अधर्मसे धर्म विद्ध होने पर यदि विद्वानलोग शल्यरूपी अधर्मसे सद्विचारके सहारे धर्मका उद्धार न करें, तो सब सभासद अधर्मसे विद्ध हुआ करते हैं॥ १२॥ बल्कि सभामें न जाय, पर जानेसे सत्य वचन बोले। वहां चुप रहने वा मिथ्या कहनेसे पापी होना होता है॥ १३॥ जहां अधर्मसे धर्म और मिथ्यासे सत्य नष्ट होता है, वहां सारे सभासदही नष्ट हुआ करते हैं॥ १४॥ जो पुरुष धर्मको नष्ट करता है, उसे धर्मही नाश कर देता है; धर्मकी रक्षा करनेसे धर्मही उसकी रक्षा करता है, इसलिये धर्म किसी प्रकार भी

धर्म्मो न हन्तव्यो मा नो धर्म्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥ वृषो हि भगवान् धर्म्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्म्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥ एक एव सुहृद्धर्म्मो निधनेऽप्यनुयाति यः। शरीरेण समं नाशं सर्व्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥ पादोऽधर्म्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति। पादः सभासदः सर्व्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥ राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः। एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥ जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः। धर्म्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन ॥ २० ॥ यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्म्मविवेचनम्। तस्य सीदति

अतिक्रम करने योग्य नहीं है। इस प्रकारसे अतिक्रम किया हुआ, धर्म्म हमलोगोंको नष्ट न करे ॥ १५ ॥ सब कामनाओंकी वर्षा करता है, इस लिये धर्म्मको "वृष" कहते हैं। जो पुरुष उस धर्म्मको "अलं" अर्थात् निवारण करता है—उसेही यथार्थ "वृषल" कहा जाता है; इसलिये धर्म्म लोप करना योग्य नहीं है ॥ १६ ॥ एक धर्म्मही जीवोंका मित्र है,—मरनेके अनन्तर धर्म्मही हमलोगोंका अनुगामी होता है, अन्य जो कुछ है, वह सब हमारे शरीरसे अलग हो जाता है ॥ १७ ॥ मिथ्या विचारसे जो पाप होता है, उसमें चौथे हिस्सेका एक अंश मिथ्यासियोगी, एक भाग साक्षी, एक हिस्सा सब सभासदों और एक भाग राजाको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ परन्तु जिस सभामें निन्दनीय पुरुष पूरी रीतिसे निन्दित होता है, वहां राजा निष्पाप रहता है, सभासद भी पाप रहित होते हैं और पाप केवल पापीकोही लगता है ॥ १९ ॥ जातिमात्र उपजीवी ब्राह्मणको अथवा कर्म्मानुष्ठान रहित ज्ञानहीन युवा ब्राह्मणको योग्य ब्राह्मण न रहने पर धर्म्मप्रवक्ता पदपर भर्ती कर सकते हैं; परन्तु सब गुणोंसे युक्त धार्म्मिक व्यवहार जाननेवाले शूद्रको किसी प्रकार इस पद पर नियुक्त नहीं कर सकते ॥ २० ॥ जिस राजाके सामने शूद्र न्याय अन्याय धर्म्म विचार करता

तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः॥ २१ ॥ यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्त-मद्विजम्। विनश्यत्याशु तत् कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीड़ितम्॥ २२॥ धर्म्मा-सनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः। प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्य्यदर्शन-मारभेत॥ २३॥ अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्म्माधर्म्मौ च केवलौ। वर्णक्रमेण सर्व्वाणि पश्येत् कार्य्याणि कार्य्यिणाम्॥ २४॥ वाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्त-र्गतं नृणाम्। स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च॥ २५॥ आकारै-रिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ २६॥ बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत्। यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः॥ २७॥ वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं

है, उस राजाका राज्य पङ्कमें फंसी हुई गऊकी भांति शीघ्रही अवसन्न होता है॥ २१॥ जो राज्य अनेक शूद्रोंसे युक्त, नास्तिकोंसे आक्रान्त और द्विजोंसे रहित रहता है, वह दुर्भिक्ष तथा अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे पीड़ित होकर शीघ्रही विनष्ट हुआ करता है॥ २२॥ राजा सारे शरीरसे आच्छादित हो धर्म्मासन पर बैठे और एकाग्रचित्त हो लोकपालोंको प्रणाम करके कार्य्यादि देखे अर्थात् विचार आदि आरम्भ करे॥ २३॥ राजा अर्थ और अनर्थको जानके धर्म्मकी ओर दृष्टि रखे ब्राह्मण आदि वर्णक्रमसे अर्थी प्रत्यर्थीके कार्य्योंको देखे॥ २४॥ वाह्य चिन्होंसे वह लोगोंके मनका भाव जाननेकी चेष्टा करे; लोगोंके स्वर, वर्ण, इङ्गित, आकार, नेत्र और चेष्टा—इन सबकी ओर ध्यान रखे॥ २५॥ आकार, इङ्गित, गति, चेष्टा, वार्त्तालाप और नेत्र तथा मुखके विकारसे लोगोंके आन्तरिक भाव जाने जा सकते हैं॥ २६॥ पिता-माता रहित अनाथ-बालकोंके धनकी तबतक राजा रक्षा करे, जबतक कि बालक गुरुगृहसे गृहस्थाश्रममें न आवे अर्थात जबतक उसकी बाल्यावस्था व्यतीत न हो जाय। सोलह वरषके बाद बालकपन बीत जाता है॥ २७॥ वन्ध्या स्त्री—

निष्कुलासु च। पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥ जीवन्तीनान्तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः। तांच्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्म्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥ प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्। अर्व्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत् स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥ ममेदमिति यो ब्रूयात् सोऽनुयोज्यो यथाविधि। संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥ अवेदयानो नष्टस्य देशं कालञ्च तत्त्वतः। वर्णं रूपं प्रमाणञ्च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥ आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः। दशमं द्वादशं वापि सतां धर्म्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥ प्रनष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्।

जिसका स्वामी दूसरी स्त्रीसे विवाह करके उसे केवल भोजन वस्त्र देके व्यान्त किये हो; पुत्र रहित प्रोषितभर्तृका; जिस स्त्रीके कोई सपिण्ड आदि नहीं हैं और साध्वी, विधवा तथा रोगयुक्त-इन स्त्रियोंके धनको अनाथ बालककी भांति राजा रक्षा करे ॥ २८ ॥ यदि उसके जीवित रहतेही सपिण्ड लोग उक्त धनको ले लेवें, तो धार्म्मिक राजा चौर दण्डसे उन्हें दण्डित करे ॥ २९ ॥ बिना स्वामीका धन पानेसे राजा सर्व्वत्र उसकी घोषणा करके तीन वर्षतक अपने खजानेमें जमा रखे। तीन वर्षके बीच धनका स्वामी आनेसे उक्त धन उसे देवे। तीनवर्ष बीत जानेपर राजा अपने कार्य्यमें उक्त धन व्यय करे ॥ ३० ॥ तीनवर्षके बीच "यह धन हमारा है" कहके जो दावा करे, उसकी विधिपूर्व्वक परीक्षा करना होगी; और वह यदि धनका रूप, संख्या तथा उस धन सम्बन्धीय यथावत् घटना ज्योंकी त्यों कह सके, तो वह धन उसहीको मिलेगा ॥ ३१ ॥ जो पुरुष नष्ट धनका स्थान, समय, शुक्लादि वर्ण और कटकमुकुट आदि आकार तथा परिमाण नहीं जानता और पानेके वास्ते दावा करता हो, उसे राजा धनके उपयुक्त दण्ड देवे ॥ ३२ ॥ प्रनष्ट द्रव्यको इतने दिनतक रक्षा करनेके कारण राजा साधु धर्म्मको स्मरण करके धनस्वामीसे इस धनका

कांश्च चौरान् गृह्णीयात् तान् राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥ ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः । तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥३५॥ अनृतन्तु वदन् दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् । तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥ ३६ ॥ विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्व्वोपनिहितं निधिम् । अशेषतोऽप्याददीत सर्व्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥ यन्तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ । तस्माद्द्विजेभ्यो दत्त्वार्द्धमर्द्धं कोषे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥ निधीनान्तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ । अर्द्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥ दातव्यं सर्व्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् । राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥ जातिजानपदान् धर्म्मान्

छठां, दसवां वा बारहवां हिस्सा ले सकता है ॥ ३३ ॥ कोई कुई वस्तु पानेसे उसे राजाके निकट पहुंचावे और राजा उसकी रक्षा करनेके वास्ते उपयुक्त मनुष्यके हाथमें सौंपे, वह धन यदि कोई चोरी करे तो राजा उसे मतवारे हाथीके द्वारा मरवा डाले ॥ ३४ ॥ जो मनुष्य इस मिले हुए धनको अपना कहके प्रमाणित करे उससे राजा छठवां, दसवां वा बारहवां हिस्सा लेवे ॥ ३५ ॥ परन्तु इस धनके सम्बन्धमें झूठ बोलनेसे उसके निज धनमेंसे आठवां हिस्सा दण्ड करे अथवा इस नष्ट धनके अल्प अंशके परिमाण दण्ड करे ॥ ३६ ॥ विद्वान् ब्राह्मण ऊपर कही रीतिसे धन पाने पर स्वयं लेवे, राजाको कुछ हिस्सा देना नहीं होगा, क्योंकि ब्राह्मणही सबका अधिपति है ॥ ३७ ॥ यदि राजा पूर्व्वकथित कोई निधि भूमिमें पावे, तो उसमेंसे आधा ब्राह्मणों को दे और आधा आप लेवे ॥ ३८ ॥ सुवर्ण आदि खानको रक्षा करने वा भूमिस्वामित्व निबन्धनसे राजा विद्वान् ब्राह्मणके सिवा अन्यके द्वारा प्राप्त धनमेंसे आधा हिस्सा लेवे ॥ ३९ ॥ चाहे किसी वर्णका क्यों न हो, धन चोरी जानेपर राजा चोरसे धन वसूल करके जिसका धन चोरी गया हो, उसे देवे ; यदि उसे न देके स्वयं ले,

श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्। समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥ स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः। प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥ नोत्पादयेत् स्वयं कार्य्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः। न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥ ४३ ॥ यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्। नयेत् तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥ सत्यमर्थञ्च सम्पश्येदात्मानमथ साक्षिणः। देशं रूपञ्च कालञ्च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥ सद्भिराचरितं यत् स्याद्धार्म्मिकैश्च द्विजातिभिः। तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥ अधमर्णार्थ सिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन

तो चोरीका पाप राजाको लगता है ॥ ४० ॥ वर्णधर्म जिस देशमें जो धर्म कुलपरम्परासे प्रचलित हो तथा जो वेद विरुद्ध न हो, उसे जनपद-धर्म कहते हैं; श्रेणीधर्म और जिस कुलमें जो धर्म अनादिकालसे चला आया हो, उसे कुलधर्म कहते हैं;—इन धर्मोंकी और विशेष दृष्टि रखके राजा निज धर्मनियम स्थापित करे ॥ ४१ ॥ जो लोग देश जाति और कुलधर्मके अनुसार व्यवहार करते तथा अपने अपने नित्य वा नैमित्तिक कर्मोंको करते हैं, वे दूर रहने पर भी लोगोंके प्रियपात्र होते हैं ॥ ४२ ॥ धनके लोभसे लोगोंमें विवाद होता है, दूसरेके पाने योग्य धनमें लोभ करना राजा वा राजपुरुषोंके योग्य नहीं है ॥ ४३ ॥ जैसे व्याधके बाणोंसे विद्ध भागनेवाले हरिणका चिन्ह रुधिरके गिरनेसे मालूम होता है उसही प्रकार राजा अनुमानसे यथार्थ विषयोंका निश्चय करे ॥ ४४ ॥ व्यवहारविधिमें दृढ़ होकर राजा सत्य, अर्थ, निज, साक्षीलोगों, देश, रूप काल—इन सबका पूरी रीतिसे विचार करे ॥ ४५ ॥ साधुलोग और धार्म्मिक ब्राह्मणोंने जैसे आचरण किये हैं, वह यदि देश, कुल और जाति धर्मके विरुद्ध न हो, तो उसही भांति सदा व्यवस्था करे ॥ ४६ ॥ महाजन यदि असामीसे अपने पावने रुपयेके वास्ते राजाके पास अर्जी देवे, तो

चोदितः । दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥ यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः । तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥ धर्म्मेण व्यवहारेण च्छलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥ यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् । न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन् धनम् ॥ ५० ॥ अर्थेऽपव्ययमानन्तु करणेन विभावितम् । दापयेद्धनिकस्याथ दण्डलेशञ्च शक्तितः ॥ ५१ ॥ अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि । अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥ अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः । यश्चाधरोत्तरानर्थान् विगीतान्

राजा, साक्षी वा लेख आदिसे दिया हुआ धन प्रमाणित करे असामीसे वह धन महाजनको दिलावे ॥ ४७ ॥ महाजन जिस जिस उपायसे असामीसे अपना धन पा सके, राजा उसही उस उपायको अनुमोदन करके उसका पावना असामीसे दिलावे ॥ ४८ ॥ धर्म अर्थात् बान्धव आदिके सहारे उपदेश देकर, व्यवहार अर्थात् साक्षी लेख वा शपथ आदि प्रमाण कराके छल अर्थात् कौशलसे वा असामीके घर जाके उसके स्त्री, पशु, पुत्र प्रभृति धरके अथवा उनके जाने आनेका मार्ग रोकके महाजन अपना रुपया असामीसे वसूल कर सकता है और पांचवें बलप्रयोग वा प्रहार आदि भी कर सकता है ॥ ४९ ॥ ऊपर कहे हुए उपायसे महाजन अपना रुपया स्वय वसूल कर सके तो राजा उसे दोषी न करे ॥ ५० ॥ "तुम्हारा मेरे पास कुछ पावना नहीं है' ऐसा कहके यदि असामी महाजनका धन देना अस्वीकार करे, तो साक्षी आदिसे प्रमाणित करके राजा महाजनका धन दिलावे और असामीको झूठ बोलनेके कारण उसकी शक्ति समझके दण्ड करे ॥ ५१ ॥ धर्म्माधिकरणसभा "देना दो" ऐसा कहे, तब यदि असामी देना अस्वीकार करे तो महाजन—ऋण लेनेके समयमें वर्त्तमान साक्षी, लेख वा अन्य प्रमाण आदि सभामें पेश करे ॥ ५२ ॥ जो वादी

नावबुध्यते ॥ ५३ ॥ अपदिश्यापदेश्यञ्च पुनर्यस्त्वपधावति । सम्यक् प्रणि-हितञ्चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥ असम्भाष्ये साक्षिभिश्च देशे सम्भाषते मिथः । निरुच्यमानं प्रश्नञ्च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥ ब्रूही-त्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तञ्च न विभावयेत् । न च पूर्व्वापरं विद्यात् तस्मादर्थात् स हीयते ॥ ५६ ॥ साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः । धर्म्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्द्दिशेत् ॥ ५७ ॥ अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्वध्यो दण्ड्यश्च धर्म्मतः । न चेत् त्रिपक्षात् प्रब्रूयाद्धर्म्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥

ऐसा साक्षी धर्म्माधिकार सभामें लावे, जो कि घटनास्थानमें न रहा हो अथवा उसे साक्षी मानके पीछे अस्वीकार करे वा जो वादी यह न समझ सके कि उसकी बात विरुद्ध व और पूर्व्वापर विरुद्ध होती हैं ;—अथवा जो वादी मूल विषय एकवेर कहके फिर उससे पृथक् कहे ; तथा जो उसके द्वारा भली भांति स्वीकृत विषय पूछे जानेपर पुनर्व्वार स्वीकार न करे अथवा जो असम्भाव्य स्थानमें साक्षियोंको लेजाकर बातचीत करता हो ; जो विधिपूर्व्वक पूंछनेपर प्रश्नका उत्तर देना नहीं चाहता ; जो धर्म्माधिकरणसे स्थानान्तरमें नहीं जाता ; जिसे धर्म्माधिकरणमें कुछ पूंछने पर वह कहना न चाहे ; जो आवेदित विषयको प्रमाण द्वारा समर्थन न करे ; जो साध्य साधन कुछ न जाने ;—ऐसा वादी निवेदित विषयमें निराश होता अर्थात् उसका अभियोग अग्राह्य समझा जाता है ॥ ५३।५६ ॥ "हमारे साक्षी हैं" ऐसा कहके जो धर्म्माधिकरण सभामें साक्षियोंको न ला सके उसका भी अभियोग अग्राह्य होगा ॥ ५७ ॥ जो अर्थी पहिले आवेदन करके जवाबवन्दीके समय कुछ न कहे, तो विचारक कार्य्यकी लघुता वा गुरुताके अनुसार ताड़न आदिसे प्राणबधतकका दण्ड उसे देवे अथवा तीन पक्ष भरमें यदि वह कुछ न कहे तो उसे धर्म्म अनुसार दोषी करे ॥ ५८ ॥ जो प्रतिवादी अर्थीका जितना धन अस्वी-

यो यावन्निह्नुवीताथ मिथ्या यावति वा वदेत्। तौ नृपेण ह्यधर्म्मिष्ठौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥ पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा। त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृप-ब्राह्मणसन्निधौ ॥ ६० ॥ यादृशा धनिभिः कार्य्या व्यवहारेषु साक्षिणः। तादृशान् संप्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतञ्च तैः ॥ ६१ ॥ गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः। अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ ६२ ॥ आप्ताः सर्व्वेषु वर्णेषु कार्य्याः कार्य्येषु साक्षिणः। सर्व्वधर्म्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्ज्जयेत् ॥ ६३ ॥ नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः। न दृष्टदोषाः कर्त्तव्या न व्याध्यार्त्ता न दूषिताः ॥६४॥ न साक्षी नृपतिः कार्य्यो न कारुककुशीलवौ। न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न

कार करे और अर्थी जितने धनका झूठा दावा करे, प्राड्विवाक इन दोनों अधर्म्मियोंको उससे दूना दण्ड करे ॥ ५९ ॥ धन चाहनेवाला महाजन राजपुरुषोंके सहारे असामीको लानेपर प्राड्विवाकके पूछनेसे यदि वह कहे कि "मैं देनदार नहीं हूं"—तो महाजन कमसे कम तीन साक्षीसे अपना पावना प्रमाणित करे। ऋणदान आदि व्यवहारमें जिस प्रकारसे साक्षी करना होगा, उसका विषय कहता हूं और साक्षी लोग जिस प्रकारके नियमोंसे शपथ करेंगे, वह भी कहता हूं, सुनो ॥ ६०।६१ विवाह किये हुए, पुत्रवान् और एक देश-निवासी क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातिके लोग साक्षी देनेके योग्य हैं। आपद्-रहित समयमें जहां तहांके लोगोंको साक्षी नहीं माना जा सकता है ॥ ६२ ॥ सत्यवादी कर्त्तव्यज्ञानयुक्त और लोभ-रहित साक्षी माना जा सकता है; इसके विपरीत गुणवालोंको त्याग करे ॥ ६३ ॥ अर्थी सम्बन्धयुक्त, मित्र, सेवक, शत्रु और जिनकी कूटसाक्षी पहिले जानी गई है, जो व्याधि-ग्रस्त, वा महापातक आदि दोषोंसे दूषित हों, उनकी साक्षी अग्राह्य है ॥६४॥ राजा, इसीप्रकार वा उसके अनुरूप कार्य्य करनेवाले, नट आदि, वेदोंको

सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥ नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्म्मकृत्। न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥ नार्त्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीड़ितः। न श्रमार्त्तो न कामार्त्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥ स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्य्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः। शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥ अनुभावी तु यः कश्चित् कुर्य्यात् साक्ष्यं विवादिनाम्। अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥ स्त्रियाप्यसम्भवे कार्य्यं बालेन स्थविरेण वा। शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥ बालवृद्धातुराणाञ्च साक्ष्येषु वदतां मृषा। जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥ साहसेषु च सर्व्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च। वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥ बहुत्वं परिगृह्णीयात्

जाननेवाले, ब्रह्मचारी और सन्न्यासियोंको साक्षी न करे ॥ ६५ ॥ दास, लोकनिन्दित, लुटेरे, वर्ज्जित कर्म्म करनेवाले, [बूढ़े, बालक,] चाण्डाल आदि नीचजाति, अन्धे, लंगड़े और विकलेन्द्रियोंको साक्षी न करे ॥ ६६ ॥ आर्त्त मतवाला, उन्मत्त, भूख प्याससे आर्त्त, थका हुआ, कामातुर, क्रुद्ध और चोरको साक्षी न करे ॥ ६७ ॥ स्त्रियोंकी साक्षी स्त्रियां, द्विजोंके द्विज, शूद्रोंके शूद्र और चाण्डालोंके साक्षी उन्हींके अनुरूप नीचजातिवालोंका होना उचित है ॥६८॥ परन्तु घरके भीतर, जङ्गलादि निर्ज्जन स्थानमें चोर आदि उपद्रवयुक्त, अथवा आततायीके द्वारा प्राणहत्यायुक्त स्थानमें उस कार्य्यको जाननेवाला चाहे कोई क्यों न हो—साक्षी हो सकता है ॥ ६९ ॥ उक्त स्थलमें गुणवान साक्षी न रहनेपर स्त्रियें, बालक, बूढ़े, शिष्य, बन्धु, दास और सेवक भी साक्षी होसकती हैं ॥ ७० ॥ तथापि बालक, बूढ़े आतुर और विक्षतचित्तवाले पुरुषोंकी साक्षी अस्थिर जानो ॥ ७१ ॥ सब प्रकारके साहसके कार्य्यों, चोरी, स्त्री संग्रहणमें तथा वचनकी कठोरता और दण्डकी कठिनाईमें पूर्व्वोक्त साक्षियोंकी परीक्षा नहीं है ॥ ७२ ॥

साक्षिद्वैधे नराधिपः । समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥ समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति । तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥ साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्य्यसंसदि । अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥ यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किञ्चन । पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥ एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः । स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात् तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥ ७७ ॥ स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् । अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ७८ ॥ सभान्तः साक्षिणः प्राप्ता-

---

साक्षीद्वैध, स्थानमें राजा ज्यादा साक्षीयोंका प्रमाण माने, समान संख्या होनेपर गुणमें श्रेष्ठ साक्षियोंके द्वारा सत्य निर्णय करे, और गुणीके द्वैध-स्थलमें क्रियावान् साक्षियोंका वचन स्वीकार करे ॥ ७३ ॥ नेत्रके द्वारा प्रत्यक्षदर्शी साक्षी सुननेके योग्य कार्य्यमें कानसे सुनीहुई साक्षी सिद्ध होती है और ये सब साक्षी देनेवाले धर्म्म और अर्थसे च्युत नहीं होते ॥ ७४ ॥ साक्षी यदि धर्म्माधिकरण सभामें देखे वा सुने हुए विषयमें मिथ्या कहे, तो वह परलोकमें नीचेमुंह होके नरकमें पड़ता है ॥ ७५ ॥ वादी प्रति-वादीके न मानने पर भी विवादके मर्म्म जाननेवाला कोई पुरुष प्राड्-विवाकके पूछने पर जैसा जानता हो वैसा कहे ॥ ७६ ॥ लोभरहित एक पुरुष भी गवाह होवे परन्तु अनेक स्त्रियां पवित्र होनेपर भी साक्षीके योग्य नहीं हैं, क्योंकि स्त्रियोंकी बुद्धि अस्थिर है, चोरी आदिमें स्त्री वा पुरुष,—साक्षी नहीं हो सकते ॥ ७७ ॥ साक्षीका स्वाभाविक वचनही राजा स्वीकार करे ; भय आदि किसी कारणसे आन्तरिक भावके विरुद्ध वचन धर्म्मविषयमें मानने योग्य नहीं है ॥ ७८ ॥ सभामें वादी प्रतिवादीके सामने साक्षीको उपस्थित करके प्राड्विवाक प्रियवचनसे उन्हें कहे,—तुम लोग वादी प्रतिवादीके विषयमें जो कुछ जानते हो उसे सत्य सत्य कहो।

र्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ । प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनानेन सान्त्वयन् ॥ ७६ ॥ यद्द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्य्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः । तद्ब्रूत सर्व्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥ सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् । इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥ साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशै-र्बध्यते वारुणैर्भृशम् । विवशः शतमाजातीस्तस्मात् साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ८२ ॥ सत्येन पूयते साक्षी धर्म्मः सत्येन वर्द्धते । तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्व्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥८३॥ आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः । मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥ मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित् पश्यतीति नः । तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५ ॥ द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः । रात्रिः सन्ध्ये च धर्म्मश्च वृत्तज्ञाः सर्व्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥ देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।

गवाही देनेके स्थानमें सच्चा वचन कहनेसे साक्षीको मरनेके अनन्तर श्रेष्ठ-लोक प्राप्त होता और इस लोकमें उत्तम कीर्त्ति प्राप्त होती है; ब्रह्मा भी सत्य वाक्यकी पूजा करते हैं, गवाही देनेके स्थानमें झूठ बोलनेसे वरुणपाशमें बद्ध होकर अवशभावसे शतको जन्म तक क्लेश भोगना होता है। सत्य कहनेसे साक्षी पापसे छूटता और उसे धर्म्मवृद्धि प्राप्त होती है, इसलिये सत्य कहना उचित है। देहमें स्थित आत्माही अपने शुभाशुभ कर्म्मोंका साक्षी है, इसलिये ऐसे उत्तमसाक्षीकी अवज्ञा मत करो। पाप करनेवाले समझते हैं, कि हमारे पापोंको कोई देखता नहीं है, परन्तु देवतालोग तथा देहस्थित अन्तरपुरुष, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, सूर्य्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्या और धर्म्म, ये देहमें स्थित आत्माकी अवस्था भलीभांति जानते रहते हैं ॥ ७६।८६ ।

प्राड्विवाक पवित्र होके पूर्व्वान्ह समयमें देवताओंकी प्रतिमा वा ब्राह्म-णोंके समीप पवित्र द्विजोंसे गवाहीके प्रश्न पूछे, वे साक्षीलोग उस समय

उदङ्मुखान् प्राङ्मुखान् वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥ ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत् सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्। गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥ ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः। मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥ जन्मप्रभृति यत्किञ्चित् पुण्यं भद्र त्वया कृतम्। तत् ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥ एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत् त्वं कल्याण मन्यसे। नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥ यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥ ९२ ॥ नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः। अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥ अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत्। यः प्रश्नं वितथं

उत्तर वा पूर्व्व ओर मुंह किये रहें ॥ ८७ ॥ ब्राह्मणको "बोलिये" क्षत्रिय को "सत्यबोलो," वैश्यको "गऊ बीज और सुवर्णद्वारा शपथ करके बोलो," और शूद्रको "सब पापोंकी शपथ करके बोलो" कहके प्रश्न करे। गवाहीके स्थानमें झूठ बोलनेसे ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या, बालकहत्या, मित्रद्रोही और कृतघ्नोंके समान पाप होता है। हे भद्र तुम्हारा सब पुण्य कुत्तोंको प्राप्त होगा, हे कल्याणकारी! तुम अकेले नहीं हो पाप पुण्यका द्रष्टा परमात्मा तुम्हारे हृदयमें निवास करता है, तुम सत्य कहो, गङ्गा और कुरुक्षेत्र जानेका प्रयोजन नहीं , जो लोग झूठी गवाही करते हैं वे नङ्गे मुनङ्गे शिरसे भूखे प्यासे तथा अन्धे होकर हाथमें खोपड़ा लेकर घरघर भीख मांगते हैं। जो पूछने पर मिथ्यावचन कहते हैं, वे पापी नीचे मुंह होकर महा अन्धकार नरकमें जाते हैं। बुलाये जानेपर अप्रत्यक्ष और विरुद्धार्थ विषयमें साक्षी देना अन्धेके सकण्टक मछली खानेकी भांति है। वक्तव्य कहनेके समय जो विद्वान पुरुष कुछ भी संकुचित नहीं होता, देवतालोग उसे श्रेष्ठ समझते हैं। जिन जिन

ब्रूयात् पृष्टः सन् धर्म्मविनिश्चये ॥ ९४ ॥ अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह । यो भाषतेऽर्थ-वैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥ यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते । तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥ यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् । तावतः सङ्ख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्व्वशः ॥ ९७ ॥ पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते । शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥ हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् । सर्व्वं भूम्यनृते हन्ति मास्म भूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥ अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने । अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्व्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥ एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्व्वाननृतभाषणे । यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्व्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥ गोरक्षकान् वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् । प्रेष्यान् वार्द्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

विषयोंमें झूठी साक्षी देकर जितने बान्धवोंको नष्ट किया जाता , वा उनके पुरुष नरकगामी होते हैं, उसे सुनो —पशुके विषयमें झूठी साक्षी देनेसे पांच, गऊके विषयमें झूठी साक्षी देनेसे दस, घोड़ेके विषयमें एकसौ और मनुष्यके विषयमें झूठी साक्षी देनेसे एक हजार पुरुष नरकगामी होते अथवा एक सौ पुरुषोंके मारनेका पाप होता है। सुवर्णके विषयमें झूठी गवाही पुरुषको नष्ट करती और भूमि-विषयमें झूठी साक्षी देनेसे सब प्राणियोंके हिंसा दोषका पाप होता है। इसलिये भूमि विषयमें झूठी साक्षी न देना। तालाब आदि जल, स्त्रियोंके मैथुनोपभोग, मुक्ता पाषाण आदि तथा वैदुर्य्यमणिके विषयमें—भूमि सम्बन्धमें झूठी गवाही देनेवालोंकी भांति पाप हुआ करता । झूठबोलनेमें इन सब दोषोंको देखकर तुम कदापि मिथ्या न कहना, जो देखा और जो कुछ सुना है, उसेही कहो।" ८८—१०१ ॥ गऊ पालनेवाले, वाणिज्य करनेवाले, रसोइये ब्राह्मण, नाचनेवाले, दस्तकर्मसे जीविका निभानेवाले और ब्याजलेनेवाले

तद्वदन् धर्म्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः। न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम्॥१०३॥ शूद्रविट्क्षत्त्रविप्राणां यत्रर्त्तोक्तौ भवेद्वधः। तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते॥१०४॥ वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम्। अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्व्वाणा निष्कृतिं पराम्॥१०५॥ कुष्माण्डैर्व्वापि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि। उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा॥१०६॥ त्रिपक्षादब्रुवन् साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः। तदृणं प्राप्नुयात् सर्व्वं दशबन्धञ्च सर्व्वतः॥१०७॥ यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः। रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमञ्च सः॥१०८॥ असा-

---

ब्राह्मणोंको शूद्रकी भांति गवाही देने वा साक्ष्यप्रश्न करे॥१०२॥ वक्ष्यमाण स्थान विशेषमें एकप्रकार जानकर धर्म्मबुद्धिसे दूसरी तरह कहनेसे उसका परलोक नहीं बिगड़ता; ऐसे वचनको देववाक्य कहते ॥१०३॥ जहांपर सत्य कहनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्रका प्राणवध होगा ऐसे स्थानमें मिथ्यावचन कहा जा सकता है और वहां झूठ बोलना सत्यसे श्रेष्ठ होता है॥१०४॥ ऐसे स्थानमें मिथ्या बोलनेके पापसे छूटनेके वास्ते चरुपाक करके वाग्देवी सरस्वतीके उद्देश्यसे यज्ञ करे। अथवा इस पापके नष्ट होनेके वास्ते यजुर्व्वेदी कुष्माण्ड मन्त्रसे अग्नि स्थापित करके उसमें होम करे और "उदुत्तमं" इत्यादि वरुणदेवताके मन्त्र अथवा "आपोहिष्ठा"इत्यादि जल देवताके उद्देश्यसे तीन ऋक्के सहारे होम करे॥१०५॥१०६॥ यदि रोगरहित होके साक्षी तीन पक्षके भीतर ऋण आदि व्यवहार विषयमें गवाही न दे,तो उसे उक्त ऋण तथा दावाके दसवें हिस्सेका एक भाग दण्डरूपसे देना होगा॥१०७॥ "ऋण नहीं है" कहके गवाही देनेपर यदि गवाहको एक सप्ताहके भीतर कड़ा रोग हो, घर जल जावे वा पुत्र आदि निकटवर्त्ती स्वजनकी मृत्यु हो, तो इस गवाहको शक्तिके अनुसार राजदण्ड देना होगा॥१०८॥ परस्पर ऋगड़नेवाले दोनों

ष्विकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः। न विन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥ महर्षिभिश्च देवैश्च कार्य्यार्थं शपथाः कृताः। वशिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैयवने नृपे ॥ ११० ॥ न वृथा शपथं कुर्य्यात् स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः। वृथा हि शपथं कुर्व्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥ कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने। ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥ सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः। गोबीजकाञ्चनैर्व्वैश्यं शूद्रं सर्व्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥ अग्निं वा हारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्। पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत् पृथक् ॥११४॥ यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च। न चार्त्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥११५॥ वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा। नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन

पक्षवालोंमें यदि गवाह न हो, तो प्राड्विवाक दोनो पक्षवालोंसे शपथ कराकर सत्यका निर्णय करे ॥ १०९ ॥ महर्षि और देवताओंने अपनी शुद्धिके वास्ते शपथ किया था; वशिष्ठ ऋषिने भी आत्मशुद्धिके लिये यवनोंके राजा सुदासके पास शपथ किया ॥ ११० ॥ ज्ञानीलोग स्वल्प विषयके वास्ते वृथा शपथ न करें। वृथा शपथ करनेवालोंको इहलोकमें अकीर्त्ति और परलोकमें नरकप्राप्ति होती है ॥ १११ ॥ "तुम मेरी प्यारी हो, मैं दूसरीको इच्छा नहीं करता"—ऐसे सुरत प्राप्तिके वास्ते स्त्रीके पास झूठी शपथ करनेसे पाप नहीं होता ॥ ११२ ॥ ब्राह्मणको सत्यकी शपथ करावे, क्षत्रियको उसके हाथके घोड़े वा आयुधकी, वैश्यको गऊ बीज वा सुवर्णादि और शूद्रको सब पापकी शपथ कराना होता है ॥ ११३॥ अथवा शूद्रकी अग्नि परीक्षा, जलपरीक्षा वा स्त्री पुत्र आदिके शिरस्पर्श कराके परीक्षा करावे ॥ ११४ ॥ यदि अग्नि न जलावे, जल उसे बहा वा डुबा न सके और स्त्री पुत्रोंके शिर स्पर्श करनेसे उन्हें शीघ्र किसी प्रकारकी पीड़ा न होवे, तो शपथविषयमें उसे पवित्र जाने ॥ ११५ ॥ "तुम

जगतः स्पृशः ॥ ११६ ॥ यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत् कार्य्यं निवर्त्तेत कृतञ्चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥ लोभान्मोहाद्भयान्मै-त्रात् कामात् क्रोधात्तथैव च । अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥ एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् । तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्व्वशः ॥११९॥ लोभात् सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात् पूर्व्वन्तु साहसम् । भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रात् पूर्व्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥ कामाद्दशगुणं पूर्व्वं क्रोधात् तु त्रिगुणं परम् । अज्ञानाद्द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥१२१॥ एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान् दण्डान् मनीषिभिः । धर्म्मस्याव्यभिचारार्थ-मधर्म्मनियमाय च ॥ १२२ ॥ कौटसाक्ष्यन्तु कुर्व्वाणांस्त्रीन् वर्णान् धार्म्मिको

ब्राह्मण नहीं शूद्रके पुत्र हो"—इस प्रकार कनिष्ठ वैमात्र भ्राताके द्वारा अभिशापित होकर वत्सनाम ऋषिने आत्मशुद्धिके वास्ते अग्निपरीक्षा की थी। वह यथार्थमें शुद्धजन्मा थे, इसी लिये जगत्व्यापी अग्निने उनका एक रोम भी नहीं जलाया ॥ ११६ ॥ जिन मुकद्दमोंमें झूठी गवाही मालूम हो, उसे फिरसे विचारे। झूठी साक्षीके प्रभावसे विचार सम्बन्धमें जो कुछ कार्य्य हुआ हो, उसे रद्दी समझना होगा ॥ ११७ ॥ लोभ, मोह, स्नेह, काम, और क्रोधसे वा बिना जाने तथा बैमनकी जो गवाही दी जाती है, वह ठीक न होनेके कारण अग्राह्य है ॥ ११८ ॥ जिस कारणसे झूठी गवाही देनेपर जो दण्ड होगा, उसे कहता हूं सुनो, ॥ ११९ ॥ लोभसे झूठी गवाही कहने पर एक हजार, मोहसे अढ़ाई सौ, भयसे एक हजार, कामसे अढ़ाई हजार और क्रोधसे झूठी गवाही देनेसे तीन हजार बिना जाने झूठी साक्षी देनेसे दो सौ और असावधानीसे गवाही देने पर सौ पण दण्ड होगा ॥ १२०।२११ ॥ सत्य धर्म्मके पालन और अधर्म्मके वास्ते कूट साक्षियों पर येही सब दण्ड मनु आदिने कहे हैं ॥ १२२ ॥ क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यदि वारम्बार मिथ्या साक्षी दें तो उन्हें अर्थदण्ड

नृपः। प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणन्तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥ दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्। त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ १२४ ॥ उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्। चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥ अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः। सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ १२६ ॥ अधर्म्म दण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम्। अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात् तत् परिवर्ज्जयेत् ॥ १२७ ॥ अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकञ्चैव गच्छति ॥ १२८ ॥ वाग्दण्डं प्रथमं कुर्य्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्। तृतीयं धनदण्डन्तु वधदण्डमतःपरम् ॥ १२९ ॥ वधेनापि

करके देशसे निकाल देवे ॥ परन्तु ब्राह्मणको अर्थदण्ड न करके केवल देशसे निकालना ही योग्य है ॥ १२३ ॥ स्वयम्भू मनुने दण्ड देनेके जो दश स्थान कहे हैं वे क्षत्री आदि तीनों वर्णोंके वास्ते हैं; परन्तु ब्राह्मणको किसी प्रकारका शारीरिक दण्ड न देकर उसे अक्षत शरीरसे देश बाहिर कर देवे ॥ १२४ ॥ उपस्थ, उदर, जिह्वा; दोनो हाथ, नेत्र, नासिका, दोनो कान, धन और महाअपराध करनेपर सारा शरीर—ये दश दण्डके स्थान हैं ॥ १२५ ॥ इसही भांति कितनी बार अपराध किया गया है, अपराध सम्बन्धमें देशकाल, अपराधीका बल तथा अपराधको विचारके राजा दण्डनीय पुरुषको दण्ड देवे ॥ १२६ ॥ अन्याय रीतिसे दण्ड देनेपर जीवित अवस्थामें यश और मरनेके अनन्तर कीर्त्तिलोप होती है; इस लिये अन्यायपूर्व्वक दण्ड न देवे ॥ १२७ ॥ जो दण्डनीय न हो, उसे दण्ड देने और दण्ड योग्य पुरुषको दण्ड न देनेसे राजाको अपयश होता तथा वह नरकमें जाता है ॥ १२८ ॥ पहले मीठे वचनसे शासन करे, उसके अनन्तर धिक्कार वा निन्दा, तीसरे अर्थदण्ड और सबके शेषमें अङ्ग काटना प्रभृति शारीरिक दण्ड करे ॥ १२९ ॥ अङ्गकाटना प्रभृति शारीरिक दण्ड

यदा त्वेतान् निगृह्णीतुं न शक्नुयात्। तदैषु सर्वमप्येतत् प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥ लोकसंव्यवहारार्थाय याः संज्ञाः प्रथिता भुवि। ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥ जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः। प्रथमं तत् प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥ त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः। ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥ सर्षपाः षड् यवो मध्यस्त्रियवन्त्वेककृष्णलम्। पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥ पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश। द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषः ॥ १३५ ॥ ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतम्। कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥ धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः। चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥

करने पर भी यदि दुरात्मा शान्त न हो, तो ऊपर कहेहुए वाग्दण्ड आदि चारो दण्डको उसके ऊपर प्रयोग करे ॥ १३० ॥ तांबा, रूपा और सोनेका विशेष परिमाण,—लोकव्यवहारमें जिस जिस संज्ञासे वर्णित है, उसे कहता हूं, सुनो ॥ १३१ ॥ सूर्यकी किरण पड़ने पर गवाक्षविवरसे जो धूलि उड़ती है, उसके बीच जो धूलिकी कणा बहुत सूक्ष्म दिखाई देती हैं, परिमाणकी गिनतीमें वह प्रथम है, उसे त्रसरेणु कहते हैं ॥ १३२ ॥ इस त्रसरेणुका आठगुणा एक लिक्षा होता है; और उसकी तिगुनी एक राजसर्षप होती है और राजसर्षपकी चौगुनी एक गौरसर्षप होती है ॥ १३३ ॥ छ सरसोंका एक यव होता है, तीन यवका एक कृष्णल, पांच कृष्णलका एक माषा और सोलह माषाका एक सुवर्ण होता है॥१३४॥ चार सुवर्णका एक पल; दस पलका एक धरण और दो कृष्णलका एक रौप्यमाषा होता है ॥ १३५ ॥ सोलह रौप्यमाषाका एक रौप्यधरण, एक कार्षिक वा अस्सी रत्ती तांबेका एक पण वा कार्षपण होता है ॥ १३६ ॥ ऊपर कहेहुए दश धरणका एक राजत शतमान और चार सुवर्णका एक

१३७ ॥ पणानां द्वे शते सार्द्धे प्रथमः साहसः स्मृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रन्त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥ ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति । अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥ वशिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्द्धिनीम् । अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्द्धुषिकः शते ॥ १४० ॥ द्विकं शतं वा गृह्णीयात् सतां धर्म्ममनुस्मरन् । द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्विषी ॥ १४१ ॥ द्विकं त्रिकं चतुष्कञ्च पञ्चकञ्च शतं समम् । मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्व्वशः ॥ १४२ ॥ न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् । नचाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥१४३॥

निश्चय होता है ॥ १३७ ॥ अढ़ाई सौ पणका प्रथम साहस और पांच सौ पणका मध्यम साहस तथा एक हजार पणका उत्तम साहस होता है ॥ १३८ ॥ असामी यदि "ऋणका देना धर्म्माधिकरण सभामें स्वीकार करे, तो राजा असामीको एक सौ पणमें पांच पण दण्ड करे और यदि इस सभामें वह आकर कहे कि "ऋण पावना नहीं है"—ऐसा झूठ बोले, और पीछे ऋण प्रमाणित हो, तो उसे एक सौ पणमें दस पण जुर्म्माना करे ॥ १३९ ॥ व्याज लेनवाला महाजन बन्धकसहित ऋणस्थलमें वसिष्ठका कहा हुआ व्याज ग्रहण करे अर्थात् प्रति महीने सैकड़के असी हिस्सेका एक भाग व्याज लेवे ॥ १४० ॥ अथवा साधुओंके आचारको स्मरण करके बन्धकरहित स्थानमें सैकड़ा पीछे प्रति महीने दो पण व्याज ले सकता है। सैकड़ा पीछे दो पण सूद लेनेसे अर्थ सम्बन्धमें पापी नहीं होना होता ॥ १४१ ॥ ऋण देनेवाला इसही भांति अपना अधिकार समझके वर्णके आनुपूर्व्विक क्रमसे ब्राह्मणसे सैकड़ा पीछे दो पण, क्षत्रियसे तीन, वैश्यसे चार और शूद्रसे पांच पण व्याज प्रति महीने ले सकता है। यदि भोगने योग्य कोई वस्तु वा दास दासी उत्तमर्णके पास बन्धक रखके असामी रुपया लेवे तो उस रुपयाका पृथक व्याज न लगेगा अथवा बहुत

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्। मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत्॥१४४॥ आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः। अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ॥१४५॥ सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन। धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते॥१४६॥ यत्किञ्चिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी। भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति॥१४७॥ अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते। भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्द्रव्यमर्हति॥१४८॥ आधिः सीमा बालधनं

समय बीतनेपर भी उत्तमर्ण इस बन्धककी वस्तुको स्थानान्तरित कर वा बेच नहीं सकेगा॥१४३॥ बलपूर्व्वक बन्धककी वस्तु भोग न करे, यदि महाजन इस बन्धक की हुई वस्तुको भोग करे तो ऋणका ब्याज छोड़ना होगा, अथवा भोग करनेके कारण यदि वस्तुमें घटी हो, तो यथार्थ मूल्य देकर असामीको सन्तुष्ट करना होगा—यदि ऐसा न करे, तो उसे वस्तुकी चोरीका पाप लगेगा॥१४४॥ बन्धक कीहुई वा रक्षित वस्तु जब मांगे तभी देना होगा—देरी न करे; बहुत समयतक रहनेपर भी वह उद्धरणीय है॥१४५॥ दूध देनेवाली गऊ, ऊंट, चढ़नेके घोड़े, बैल आदि पशु तथा अन्य वस्तु जो प्रीतिपूर्व्वक भोगनेके लिये दी जाती हैं, बहुत समय तक भोगने पर भी स्वामीका दावा इनके ऊपर बना रहता है॥१४६॥ यदि धनी अपने सामने दूसरेके द्वारा कोई वस्तु दस बरस तक उपयुक्त होती हुई देखकर कुछ न कहे, तो उस वस्तुमें उसका दावा नष्ट होजाता है॥१४७॥ यदि धनी जड़ न हो तथा सोलह वर्षसे कम उमर वाला न हो और द्रव्य भी उसके दृष्टिके सामने इतने दिन तक उपभुक्त हुई हो, तो व्यवहारके अनुसार धनके स्वामीका-दावा उस वस्तु परसे नष्ट होता है और वह वस्तु भोक्ताकी होती है॥१४८॥ बन्धक खेत आदिकी सीमा, नालकका धन, निक्षेप अर्थात धरोहर मोहर की

निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः। राजस्वं श्रोत्रियस्वञ्च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९॥ यः स्वामिनाननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः। तेनार्द्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥ कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता। धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥ कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिध्यति। कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥ नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत्। चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥ ऋणं दातुमशक्तो यः कर्त्तुमिच्छेत् पुनः क्रियाम्। स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्त्तयेत् ॥ १५४ ॥ अदर्शयित्वा तत्रैव

हुई अमानत थाती; उपनिधि अर्थात् जानी हुई थाती; दासी प्रभृति स्त्री, राजधन, विद्वान् ब्राह्मण का धन—इन सब वस्तुओंका दावा भोगनेसे नष्ट नहीं होता ॥ १४९ ॥ जो मूर्खपुरुष स्वामीकी अनुमति बिना बन्धक वस्तुओंको भोग करता, उसे उसके लिये नियमित व्याजका आधा हिस्सा छोड़ना होगा ॥ १५० ॥ यदि महीने महीने वा प्रति दिन व्याज न लेकर मूल और व्याज एक साथही लिया जाय, तो यह व्याज मूलधनको दूनेसे ज्यादा न लेवे। धान्य, वृक्षोंके फल, ऊर्णादि लोम, और बैल—इनमें मूलसे पांच गुना व्याज दिया जासकता है इससे अधिक नहीं ॥ १५१ ॥ शास्त्रकी विधि अनुसार अधिक व्याज लेना वर्जित है; ज्यादा व्याज लेनेको पण्डितलोग निन्दा करते हैं सैकड़ा पीछे पांचसे ज्यादा व्याज नहीं लिया जासकता ॥ १५२ ॥ एक, दो वा तीन महीनेके बाद एक बार व्याज लेवे" इसी नियमसे ऋण देके वर्ष बिताकर एकबारगी व्याज लगाना महाजनको उचित नहीं है; व्याजका व्याज; मूलसे दूना व्याज; असामी आपद कालमें जो व्याज स्वीकार करता है तथा अत्यन्त पीड़ा देकर जो व्याज बढ़ाया जाता है; इन सबको परित्याग करे ॥ १५३ ॥ असामी यदि ऋण देनेमें असमर्थ हो और फिर कागज पत्र लिखनेकी

हिरण्यं परिवर्त्तयेत्। यावती सम्भवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति॥१५५॥ चक्रवृद्धिं समारूढ़ो देशकालव्यवस्थितः। अतिक्रामन् देशकालौ न तत् फलमवाप्नुयात्॥१५६॥ समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः। स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति॥१५७॥ यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः। अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत् स्वधनादृणम्॥१५८॥ प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकञ्च यत्। दण्डशुल्कावशेषञ्च न पुत्रो दातुमर्हति॥१५९॥ दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात् पूर्व्वचोदितः। दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत्॥१६०॥ अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम्। पश्चात् प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत् केन हेतुना॥१६१॥ निरादिष्टधनश्चेत् तु प्रतिभूः स्यादलंधनः। स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः॥१६२॥ मत्तोन्मत्तार्त्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा। असम्बद्धकृतश्चैव व्यवहारो

इच्छा करे, तो व्याज लेकर उसे फिर लेखपत्र कर दे॥१५४॥ यदि सब धन न दे सके तो व्याज और मूल मिलाकर फिर लेख्य आदि कर दे॥१५५॥ यथा देश और कालमें निरापद वस्तु न पहुँचा सकनेसे भाड़ा नहीं पावेगा॥१५६॥ स्थल वा जल मार्गसे चलने वाले देश कालके ज्ञाता वणिक् लोग जो भाड़ा निर्णय करेंगे, वही ग्राह्य होगा॥१५७॥ जामिनदार यथा समयमें असामीको न उपस्थित कर सके तो उसेही ऋण देना होगा॥१५८॥ दर्शनप्रतिभु हेतुसे धन देना होवे तो भण्ड आदिको परिहासके वास्ते वृथा दान, द्यूतक्रीड़ा, सुरापान, दण्ड निमित्त और शुल्कका का अवशिष्ट भाग और पितृकृत यह सब पुत्रको न देना पड़ेगा॥१५९॥ पिता मालजामिन होके यदि मर जावे तो पुत्र आदि वारिसलोग यह ऋण देंगे॥१६०॥ दर्शनप्रतिभु वा विश्वासी जामिनदारपर यदि असामीसे ऋण वसूल करके मर जाय तो उसके पुत्रलोग महाजनका धन अवश्य देंगे॥१६१।१६२॥ नदीमें डूबेहुए, उन्मादग्रस्त, रोगी और दास

न सिध्यति ॥ १६३ ॥ सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता। बहिश्चेद्भाष्यते धर्म्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥ १६४ ॥ योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्। यत्र वाप्युपधिं पश्येत् तत् सर्व्वं विनिवर्त्तयेत् ॥ १६५ ॥ ग्रहीता यदि नष्टः स्यात् कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः। दातव्यं बान्धवैस्तत् स्यात् प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥ कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत्। स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१६७॥ बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्। सर्व्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत् ॥१६८॥ त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्। चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ्नृपः ॥ १६९ ॥ अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः।

आदिके वशमें रहनेवाले, नाबालक, अस्सी वर्षसे ज्यादा वृद्ध—इनके साथ ऋणव्यवहार सिद्ध नहीं होता ॥ १६३ ॥ "मैं ऐसा करूंगा" यह वचन लेख आदिसे स्थिर होने पर भी यदि शास्त्र और व्यवहारविरुद्ध हो, तो वह सत्य न माना जावेगा ॥ १६४ ॥ जहांपर छलसे बन्धक, बेचना, दान और प्रतिग्रह करते अथवा छलसे निक्षेप प्रभृति जो कुछ कार्य्य करते हैं—उन स्थानोंमें प्राड्विवाक फिरसे विचार करे ॥ १६५ ॥ यदि कोई पुरुष सब साधारण कुटुम्बके निमित्त ऋण लेकर मर जावे, तो पृथक् वा एकत्र रहनेवाले सारे परिवारको ही उक्त ऋण देना होगा ॥ १६६ ॥ कुटुम्बके भरणपोषणके वास्ते यदि दास भी ऋण करे तो धनस्वामी देशमें रहे, चाहे परदेशमें हो उसे यह ऋण देना होगा ॥ १६७ ॥ बलपूर्व्वक जो कुछ दिया, खाया वा लिखा जाता तथा बलपूर्व्वक जो कुछ किया जाता वह सब अकृत अर्थात् असिद्ध है—यह मनुने कहा है ॥ १६८ ॥ साक्षी, जामिनदार और स्वजन ये तीनों दूसरोंके वास्ते क्लेश पाते हैं और ब्राह्मण, महाजन, वणिक् तथा राजा—इन चारोंकी दूसरोंसे बढ़ती होती है ॥ १६९ ॥ राजा परिक्षीण होनेपर भी जो वस्तु लेने योग्य न

न्यादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १७० ॥ अनादेयस्य चादानादा-
देयस्य च वर्ज्जनात्। दौर्ब्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥
स्वादानाद्वर्णसंसर्गात् त्वबलानाञ्च रक्षणात्। बलं संजायते राज्ञः स
प्रेत्येह च वर्द्धते ॥ १७२ ॥ तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये।
वर्त्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥१७३॥ यस्त्वधर्म्मेण कार्य्याणि
मोहात् कुर्य्यान्नराधिपः। अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्व्वन्ति शत्रवः ॥१७४॥
कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्म्मेण पश्यति। प्रजास्तमनुवर्त्तन्ते समुद्रमिव
सिन्धवः ॥ १७५ ॥ यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे। स राज्ञा
तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥१७६॥ कर्म्मणापि समं कुर्य्याद्धनिकायाध-

---

हो, उसे न लेवें ॥ १७० ॥ न लेने योग्य वस्तुको लेना और लेने योग्यको
न लेनेसे राजाकी दुर्ब्बलता प्रकाशित होती और दोनोंलोक नष्ट होते
हैं ॥ १७१ ॥ न्यायसे धन लेने, वर्णसङ्करोंसे प्रजाकी रक्षा तथा बलवानसे
दुर्ब्बलकी रक्षा करनेसे राजाका बल बढ़ता और उसकी इस लोक तथा
परलोकमें बढ़ती हुआ करती है ॥ १७२ ॥ इसीही लिये राजा यमकी
भांति जितेन्द्रिय और जितक्रोध होकर प्रिय अप्रियके परित्यागमें यमवृत्ति
अवलम्बन करे ॥ १७३ ॥ जो राजा मोहके वशमें होके अधर्म्मसे कार्य्य
आदि पूरा करता है, उस दुरात्माको शत्रुलोग शीघ्रही पराजित करते
हैं ॥ १७४ ॥ काम क्रोधको संयम करके जो राजा धर्म्मसे व्यवहार पूरा
करता है, उसकी प्रजा इस प्रकार अनुगामी होती है, जैसे नदियां
समुद्रकी अनुगामिनी होती हैं ॥ १७५ ॥ महाजन असामीसे इच्छानुसार
अपना धन वसूल करता है—इसवास्ते यदि असामी महाजनके पास
राजाके नाम नालिश करे,तो राजा उसका ऋणका चौथा हिस्सा जुर्म्माना
करे और ऋण भी दिलावे ॥ १७६ ॥ असामी यदि महाजनका स्वजन वा
निकृष्ट जाति हो, तो उसे असमर्थ समझके पर शारीरिक श्रम द्वारा भी

मर्णिकः। समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः॥१७७॥ अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्। साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्य्याणि समतां नयेत्॥१७८॥ कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्म्मज्ञे सत्यवादिनि। महापक्षे धनिन्यार्य्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः॥१७९॥ यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः। स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥१८०॥ यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति। स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ॥१८१॥ साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः। अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः॥१८२॥ स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम्। न तत्र विद्यते किञ्चिद्यत् परैरभियुज्यते॥१८३॥ तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि। उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्म्मस्य धारणा॥१८४॥ निक्षेपोपनिधी नित्य न देयौ प्रत्यनन्तरे।

महाजन अपना धन वसूल करे; परन्तु श्रेष्ठजातिके असमर्थ होने पर उसकी आय अनुसार धीरे धीरे अपना धन वसूल करे॥१७७॥ राजा परस्परमें झगड़नेवाले लोगोंके बीच उक्त विधिके अनुसार साक्षी तथा प्रमाणसिद्ध आदि व्यवहार कार्य्योंको करे॥१७८॥ सत्कुलमें उत्पन्न, सदाचारी, धर्म्मज्ञ, सत्यवादी, अधिक परिवारयुक्त, धनवान और सम्भ्रान्त पुरुषके पास बुद्धिमान लोग धरोहर धन रखें॥१७९॥ जो पुरुष जिस प्रकार जिसके हाथमें जो वस्तु देगा, लेनेके समय वह उसही प्रकार द्रव्य देवे॥१८ ॥ धरोहरवालेके मांगने पर यदि लेनेवाला न दे, तो रखनेवालेके असाक्षातमें प्राड्विवाक् छलक्रमसे सुवर्ण आदि धरोहर रखवाके मांगे, यदि वह धारी प्रत्यर्पण करे तो अभियोगसे उसे छुटकारा होगा और न दे तो निग्रह करके दोनो धरोहर उससे दिलावे॥१८१।८४॥ निक्षेप और उपनिधि रखनेवालेके रहते उसके पुत्र तथा भावी उत्तराधिकारीको न देवे। क्योंकि यदि पुत्र आदि न दें वा उनकी मृत्यु हो, तो वह

नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥ स्वयमेव तु यो दद्या-न्मृतस्य प्रत्यनन्तरे। न स राज्ञाभियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥ १८६ ॥ अच्छलेनैव चान्विच्छेत् तमर्थं प्रीतिपूर्व्वकम्। विचार्य्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥ निक्षेपेष्वेषु सर्व्वेषु विधिः स्यात परिसाधने। समुद्रे नाप्नुयात किञ्चिद् यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥ चौरैर्हृतं जलेनोढ़मग्निना दग्धमेव वा। न दद्याद्यदि तस्मात् स न संहरति किञ्चन ॥ १८९ ॥ निक्षेपस्यापहर्त्तारमनिक्षेप्तारमेव च। सर्व्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः॥ १९० ॥ यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते। तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१९१ ॥ निक्षेपस्यापहर्त्तारं तत्समं दापयेद्दमम्। तथोपनिधिहर्त्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥ उपधाभिश्च यः कश्चित्

द्रव्य नष्ट हुआ ॥ १८५ ॥ धरोहर रखनेवाले मृत पुरुषके पुत्र आदि उत्त-राधिकारियोंके निकट जो महाजन स्वयं जाकर उनके पूर्व्वपुरुषोंका धन रखा हुआ देवे। उसके ऊपर राजा वा मृत पुरुषके बान्धवलोग और भी अन्य वस्तु है कहके अनुयोग न करेंगे। यदि ऐसा दावा उपस्थित हो, तो राजा उस धनको पानेकी चेष्टा तथा धरोहर धनकी रक्षा करने-वालेके चरित्रको विचारे ॥ १८६ ॥ १८७ ॥ समस्त निक्षेप प्राप्तिकी विधि कही गई किन्तु मोहर की हुई उपनिधिको यथा परिमाणसे प्रत्यर्पण कर-नेसे रक्षा करनेवालेको किसी प्रकार दोष नहीं होता ॥ १८८ ॥ यदि स्वयं न लिये हो, तो चोरी जाने, जलमें नष्ट होने वा अग्निमें जली हुई धरो-हर वस्तु नहीं देना होता ॥ १८९ ॥ धरोहरको हरनेवालों तथा अप-लाप करनेवालोंका वैदिक शपथ आदि उपायके सहारे विचार करे ॥१९०॥ राजा इन दोनोंका शासन तथा गच्छित द्रव्यके अनुयायी अर्थदण्ड करे ॥ १९१ ॥ निक्षेप और उपनिधि हरनेवाले और अन्यान्य दावीदारोंको निक्षिप्त वस्तुके समान दण्ड देवे ॥ १९२ ॥ जो पुरुष मिथ्या प्रतारना करके

परद्रव्यं हरेन्नरः। ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः॥ १९३ ॥ निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ। तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन् दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥ मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा। मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥ निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च। राजा विनिर्णयं कुर्य्यादक्षिण्वन् न्यासधारिणम् ॥ १९६ ॥ विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसम्मतः। न तं नयेत साक्ष्यन्तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥ अवहार्य्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम्। निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥ १९८ ॥ अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा। अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥ सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्। आगमः कारणं तत्र न सम्भोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥ विक्रयाद्यो

पराया धन हरता है, राजा उसे तथा उसके इस कार्य्यमें सहाय करने-वालोंको शान्त करे अथवा वध करे ॥ १९३ ॥ महाजनके पास जितने परि-माण सुवर्ण आदि वस्तु साक्षी करके धरोहर रखी जाती हैं, साक्षीवाक्यसे उसही परिमाण दण्डनीय होगा ॥ १९४ ॥ निर्ज्जनमें रखी हुई धरोहर निर्ज्जनमें ही प्रत्यर्पण करे ; जैसा लेना वैसाही देना ॥ १९५ ॥ निक्षिप्त वा प्रीतिपूर्व्वक अदल बदल करनेके स्थानमें राजा धरोहर रखनेवालेको कुछ भी पीड़ा क्षोभ न देवे ॥१९६॥ जो स्वामीकी अनुमति विना उसकी वस्तु बेचता है, राजा उसकी गवाही न ले। वह अपनेको चोर नहीं मानता। परन्तु यथार्थमें चोर है ॥ १९७ ॥ उक्त अस्वामीविक्रेता यदि द्रव्यस्वामीके वंशका हो, तु उसे छः सौ पण और सम्बन्ध न रहने पर चोरके अनुसार दण्ड देवे ॥ १९८ ॥ स्वामी रहित पुरुषके द्वारा जो दान वा विक्रय होता है, व्यवहारकी स्थितिमें उसे असिद्ध जानो ॥ १९९ ॥ जहां भोग देखा जाता है, परन्तु बेचने वा प्रतिग्रह करनेका आगम नहीं

धनं किञ्चिद्गृह्णीयात् कुलसन्निधौ। क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥ अथ मूलमनाहार्य्यं प्रकाशक्रयशोधितः। अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥ नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति। न चासारं न च न्यूनं न दूरे न तिरोहितम् ॥ २०३ ॥ अन्यां चेद्दर्शयित्वान्या वोढुः कन्या प्रदीयते। उभे ते एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥ नोन्मत्तया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना। पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ २०५ ॥ ऋत्विग् यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म्म परिहापयेत्। तस्य कर्म्मानुरूपेण देयोऽंशः सह कर्तृभिः ॥२०६॥ दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म्म परिहापयन्। कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥ यस्मिन्

है; उस स्थलमें आगम (शास्त्र) ही प्रमाण है ॥ २०० ॥ बेचने योग्य स्थानमें अनेक लोगोंके सामने यथार्थ मूल्यपर वस्तु खरीदना उत्तम है ॥ २०१ ॥ यदि खरीदनेवाला बेचनेवालोंको न दिखा सके और खरीदनेवाला प्रकाशमें खरीद करनेसे शुद्ध कहके प्रमाणित हो, तो बिना स्वामीकी वस्तु खरीदनेके निमित्त खरीददार दण्डनीय न होगा। किन्तु उक्त द्रव्य उसका स्वामी आधे मूल्यपर खरीदारको देके अपनी वस्तु अन्य वस्तुओंके साथ मिला कर न बेचे, जो देनेको कहा हो, उससे कम न देवे; और दूर जाके अथवा छिपके कोई वस्तु न बेचे ॥ २०२ ॥ २०३ ॥ यदि कोई कन्यापणके व्यवस्थासमयमें उत्तम कन्या दिखाकर विवाहके समय निकृष्ट कन्या प्रदान करे, तो वह इस एक ही शुल्कमें दोनों कन्याओंके साथ विवाह करे—ऐसा मनुने कहा है ॥ २०४ ॥ जो पूर्व उन्मत्ता, कुष्ठ आदिसम्पन्न और दुष्ट कन्या प्रदान करता है, वह दण्डनीय होगा॥२०५ यज्ञमें यदि ऋत्विक् व्रती आरब्ध कार्य्यत्याग करे, तो जहांतक उसने कार्य्य किया है, दक्षिणाका अंश भी उतनाही पावेगा ॥ २०६ ॥ दक्षिणा पर्य्यन्त कार्य्य करके यदि शेष कार्य्यको न करे, तो वह सारी दक्षिणा

कर्म्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः। स एव ता आददीत भजेरन् सर्व्व एव वा॥ २०८॥ रथं हरेत चाध्वर्य्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम्। होता वापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये॥ २०९॥ सर्व्वेषामर्द्धिनो मुख्यास्तदर्द्धेनार्द्धिनोऽपरे। तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः॥ २१०॥ सम्भूय स्वानि कर्म्माणि कुर्व्वद्भिरिह मानवैः। अनेन विधियोगेन कर्त्तव्यांशप्रकल्पना॥ २११॥ धर्म्मार्थं येन दत्तं स्यात् कस्मैचिद्याचते धनम्। पश्चाच्च न तथा तत् स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत्॥ २१२॥ यदि संसाधयेत् तत् तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः। राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात् तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः॥ २१३॥ दत्तस्यैषोदिता धर्म्म्या यथावदनपक्रिया। अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम्॥ २१४॥ भृतो नार्त्तो न कुर्य्याद्यो दर्पात् कर्म्म यथोदितम्।

पावेगा। परन्तु शेष कार्य्य उसे करना होगा॥ २०७॥ शास्त्रमें कही हुई विशेष दक्षिणाके बीच कोई कोई कार्य्यमें अध्वर्य्यु रथ और ब्रह्मा तथ होता अश्व, और उद्गाता सोम ढोनेवाला शकट पावेगा॥ २०८॥२०९॥ ज्योतिष्टोम यज्ञ विशेषमें एक सौ गऊ, होता अध्वर्य्यु ब्रह्मा और उद्गाता प्रत्येकको बारह बारह, मैत्रावरुण, प्रतिस्तोता, ब्राह्मणाच्छंसि और प्रस्तोता इन हर एकको छः छः; अच्छावाक्, निष्ठा, अग्निध्र और प्रतिहर्त्ता,—इन्हें चार चार; ग्रावस्तुत, पोता तथा और उत्तम ब्राह्मण तीन तीन गऊ पावेंगे॥ २१०॥ जो लोग एकत्र मिलकर कार्य्य करते हैं, उनके आपसके हिस्से को भी ऊपर कही हुई रीतिसे निरूपण करे॥ २११॥ पुरुष धर्म्मकार्य्यके लिये मांगनेवालेको कुछ धन देता वा देनेको कहता है, याचक यदि धन पाके उस कार्य्यको न करे, तो दी हुई वस्तु फिरा लेवे वा देनेके लिये कही हुई वस्तु न देवे॥ २१२॥ यदि याचक लोभ वा मोहके वशमें होकर लिया हुआ धन दाताको न फिरावे, तो राजा उसे एक सुवर्ण जुर्माना करे॥ २१३॥ दिये हुए धनका विषय कहा, अब

स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयञ्चास्य वेतनम् ॥२१५॥ आर्त्तस्तु कुर्य्यात् स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः । स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥२१६॥ यथोक्तमार्त्तः स्वस्थो वा यस्तत् कर्म्म न कारयेत् । न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्म्मणः ॥ २१७ ॥ एष धर्म्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्म्मणः । अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्म्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥ यो ग्राम-देश-सङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् । विसंवदेन्नरो लोभात् तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥ निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् । चतुःसुवर्णान् षड् निष्कांश्छत-मानञ्च राजतम् ॥ २२० ॥ एतं दण्डविधिं कुर्य्याद्धार्म्मिकः पृथिवीपतिः । ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥ क्रीत्वा विक्रीय वा

वेतनकी अनपक्रियाका वर्णन करता हूं, सुनो ॥२१४॥ जो सेवक भला, चङ्गा रहके अङ्गीकृत कार्य्योंको दर्पसे नहीं करता, राजा उसे आठ कृष्णल सुवर्ण जुर्माना करे और उसे कुछ भी वेतन न दिलावे ॥ २१५ ॥ परन्तु यदि वह यथार्थमें पीड़ित हो और पीड़ा रहित होनेपर अङ्गीकृत कार्य्यको करे, तो वह पूर्व्वप्राप्य वेतन भी पावेगा ॥ २१६ ॥ आर्त्त हो, चाहे रोग-रहित हो, यदि अङ्गीकृत कार्य्य स्वयं अथवा दूसरेके द्वारा पूरा न करे, तथा उन कार्य्योंमें थोड़ा भी बाकी रहे, तौ भी वह कुछ वेतन न पावेगा ॥ २१७ ॥ यह वेतन देनेकी विधि साधारण रीतिसे कही गई, अब प्रतिज्ञा भेद कहते हैं ॥ २१८ ॥ ग्रामवासी वा देशवासी लोग जो कि शपथ पूर्व्वक प्रतिज्ञा करके लोभवशसे उसे अतिक्रम करते हैं, राजा उन्हें राज्यसे निकाल दे, अथवा घटना समझके चार सुवर्ण वा तीन सौ बीस रत्ती जुर्माना करे ॥ २१९ । २२० ॥ धर्म्मात्मा राजा ग्राम वा स्वजनोंके बीच प्रतिज्ञा भङ्ग करनेवालेको इसही प्रकार दण्ड देवे । जीतने वा हारनेपर जो पीछे पश्चात्ताप करता है, वह उस द्रव्यको दस दिनके बीच फिरा तथा लौटा ले सकता है। परन्तु बल-पूर्व्वक लेने

किञ्चिद् यस्येह शुध्यो भवेत् । सोऽन्तर्दशाहात् तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥ २२१ ॥ परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥ यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति । तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥ २२४ ॥ अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः । स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥ पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः । नाकन्यासु क्वचिन्नॄणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ २२६ ॥ पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् । तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥ यस्मिन् यस्मिन् कृते कार्य्ये यस्येहानुशयो भवेत् । तमनेन विधानेन धर्म्म्ये पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥ पशुषु स्वामिनाञ्चैव पालानाञ्च व्यतिक्रमे । विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्म्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥ दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।

लेने वालोंका राजा छः सौ पण जुर्माना करे ॥ २२१—२२३ ॥ दोषवाली कन्याके दोषोंको बिना कहे ही यदि प्रदान करे, तो राजा स्वयं उसे छानवे पण जुर्माना करे ॥ २२४ ॥ द्वेषसे कन्याको क्षतयोनी कहके प्रमाणित न कर सकने पर राजा उसका एक सौ पण जुर्माना करे ॥ २२५ ॥ विवाह विषयमें जो सब मन्त्र हैं, वे केवल कन्याके लिये ही प्रयुक्त हुआ करते हैं; क्षतयोनि कुमारी धर्म्मकार्य्यसे बाहिर है ॥ २२६ ॥ वैवाहिक मन्त्रोंसे ही भार्य्यात्वका निश्चय तथा इन मन्त्रोंसे ही कन्याके सात पद चलनेसे भार्य्यात्वकी समाप्ति होती है ॥ २२७ ॥ जिन कार्य्योंके करनेसे पश्चात्ताप होता है, उन कार्य्योंमें धर्म्म नियमकी व्यवस्था करे ॥ २२८ ॥ अब पशु विषयमें स्वामी तथा पशुपालकके नियम व्यतिक्रमका विवाद कहता हूं ॥ २२९ ॥ दिनके समय रक्षा करनेके लिये पशुपालकके हाथमें सौंपे हुए पशुके नष्ट होनेपर पशुपालक; रात्रिमें स्वामीके घरपर नष्ट होनेसे स्वामी और दिन रात्रिके रक्षाका भार पशुपालकके ऊपर रहनेसे

योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥ गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् । गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥२३१॥ नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् । हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात् पाल एव तु ॥ २३२ ॥ विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति । यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥ कर्णौ चर्म च वालांश्च वस्तिं स्नायुञ्च रोचनाम् । पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥ अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति । यां प्रसह्य वृको हन्यात् पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥ २३५ ॥ तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने । यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥ २३६ ॥ धनुःशतं परीहारो

पशु-पालकको ही सब दोष लगेगा ॥ २३० ॥ जो गोपाल वेतनके पलटेमें दूध लेता है, वह स्वामीकी अनुमतिसे दस गऊके बीच जो श्रेष्ठ होगी, उसका दूध दुहके ले जा सकता है ॥ साधारण रीतिसे गोपालका वेतन इस ही भांति निर्दिष्ट है ॥ २३१ ॥ पशुपालककी असावधानीमें यदि कोई गऊ आदि पशु खो जावें, सर्प वा कुत्तोंके काटनेसे नष्ट हो जायँ, तथा विषम स्थानमें गिरके मरें, तो उन नष्ट हुए वा मरे पशुओंका जिम्मेवार गोपालक ही होगा ॥ २३२ ॥ यदि चोर आदि गोपालके निकटसे पशु हर लेवें, और गोपाल स्वामीको यह सम्वाद उसही समय देवे, तो हरण किये हुए पशुओंके लिये पशुपालक जिम्मेवार न होगा ॥ २३३ यदि पशु स्वयं मर जाय, तो उस पशुके कान चमड़ा तथा जिस अङ्गके दिखानेसे स्वामीको पशुके स्वयं मरनेका विश्वास हो, वही सब अङ्ग स्वामीको दिखावे ॥ २३४ ॥ पशुपालकके न रहनेपर यदि भेड़िया आके भेड़ तथा भेड़ बकरियोंको मारे, तो पशुपालकको उसकी भुक्तासी देनी होगी, परन्तु यदि पशुपालकके सामनेही भेड़िया कूदके पशुओंको मारे, तो उसमें पशुपालकका अपराध न होगा ॥ २३५।२३६ ॥ गांवके चारों

ग्रामस्य स्यात् समन्ततः । शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥२३७॥ तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि । न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥ वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् । छिद्रञ्च वारयेत् सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥ पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथ वा पुनः । सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्वारयेत्पशून् ॥ २४० ॥ क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति । सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥ अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान् देवपशूंस्तथा । सपालान् वा विपालान् वा न दण्ड्यान् मनुरब्रवीत् ॥२४२॥ क्षेत्रिकस्यात्यये दण्डो भागाद्-

---

ओर चार सौ हाथकी परिमाण अथवा इकट्ठे तीन यष्टि पातके बराब स्थान गऊ चरानेकी लिये रखे और नगरमें इससे तिगुना स्थान रखना चाहिये ॥ ॥ २३७ ॥ इस छूटेहुए स्थानमें यदि बिना बेड़ा बांधे धान्य आदि बोवे और गऊ आदि उस धान्यको नष्ट करें, तो उसके लिये पशुरक्षक दण्डित नहीं होगा ॥ २३८ ॥ उस छूटे हुए स्थानके ऊंचे बेड़ेमेंसे ऊंट न देख सके और उसमें कुत्ते वा सूवर भीतर मुंह न घुसा सकें ॥ २३९ ॥ रस्तेकी किनारे ग्रामान्त वा छूटा स्थान खेतीसे युक्त रहनेपर यदि पलुए पशु आके धान्योंको नष्ट करे तो राजा पशुपालकका एकसौ पण दण्ड करे। गोपाल-रहित पशुओंको खेतका स्वामी निवारण करे ॥ २४० ॥ मार्ग, ग्रामान्त और छूटेहुए स्थानसे सिवा खेतोंके धान्य इस प्रकार नष्ट होनेपर पशु-पालक वा पशुके स्वामीको एक पण पांच काचा जुर्माना होगा और खेतके स्वामीका नुकसानी भर देना होगी ॥ २४१ ॥ नवप्रसूता गऊ, चक्र शूल अङ्कित छोड़ा हुआ सांड़ तथा देवताओंकी उद्देश्यसे छोड़े हुए पशुओंके शस्य भक्षण करनेपर दण्ड नहीं दिया जावेगा ॥ २४२ ॥ यदि किसानके दोषसे खेतका शस्य नष्ट हो, तो जितना शस्य राजाको मिलनेवाला हो, उसका दशगुण और यदि किसानकी अजानकारीमें नष्ट हुआ हो, तो

दशगुणो भवेत्। ततोऽर्द्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात् क्षैत्रिकस्य तु ॥२४३॥ एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्म्मिकः पृथिवीपतिः। स्वामिनाञ्च पशूनाञ्च पालानाञ्च व्यतिक्रमे ॥ २४४ ॥ सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः। ज्यैष्ठे मासि नयेत् सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥२४५॥ सीमावृक्षांश्च कुर्व्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्। शाल्मलीन्शाल-तालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् २४६ ॥ गुल्मान् वेणूंश्च विविधान् शमीवल्लीस्थलानि च। शरान् कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥ तड़ागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च। सीमासन्धिषु कार्य्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥ उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्। सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्य्ययम् ॥ २४९ ॥ अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान् भस्मकपालिकाः। करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा वालुका

पाँचगुणा जुर्म्माना होगा ॥ २४३ ॥ स्वामी और पशुपालके परस्पर इच्छा व्यतिक्रमसे पशुओंके द्वारा शस्य नष्ट होनेसे धार्म्मिक राजा इसही प्रकार व्यवस्था करे ॥ २४४ ॥ दो ग्रामकी सीमामें यदि विवाद उपस्थित हो राजा ज्येष्ठ महीनेमें सीमा निर्णय करे ॥ २४५ ॥ वट, अशोक, किंशुक, शाल्मलि, शाल, ताल, गूलर तथा जो सब वृक्ष क्षीरशाली वा बहुत दिनोंसे स्थायी हैं—ऐसे वृक्षोंको सीमाचिन्ह स्वरूप रोपण करना उचित है ॥ २४६ ॥ गुल्मबांस अनेक प्रकारके शमीवृक्ष, वल्लीलता, मट्टीके ढूह, शर कुब्जक गुल्म आदि वृक्षोंको सीमाचिन्ह करनेसे वह कदापि नष्ट नहीं होते ॥२४७॥ सन्धिस्थानमें तड़ाग, कुआँ जल वा देवस्थान प्रतिष्ठित करनेसे भी सीमा ठीक रहती है ॥ २४८ ॥ इनके सिवा और भी बहुतसे अप्रकाश्य चिन्ह रखना उचित है, क्योंकि सीमाके विषयमें लोगोंके बीच प्रायः विरोध उपस्थित होता है ॥ २४९ ॥ पत्थर, हड्डी, गऊके रोम आदि, तुष, राख, खपड़े, ईंट, कंडे, बालू तथा अन्य प्रकारकी बहुत दिनोंतक रहनेवाली चीजोंको अप्रकाश्य रीतिसे सीमाके सन्धिस्थानमें रखे, प्रकाश्य वा

स्तथा ॥२५०॥ यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत्। तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥२५१॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत् सीमां राजा विवदमानयोः। पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥२५२॥ यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने। साक्षिप्रत्यय एव स्यात् सीमावादविनिर्णयः ॥२५३॥ ग्रामीयककुलानाञ्च समक्षं सीम्नि साक्षिणः। प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥२५४॥ ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम्। निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥२५५॥ शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः। सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥२५६॥ यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः। विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥२५७॥ साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः। सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥२५८॥ सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम्। इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान् वनगोचरान् ॥२५९॥ व्याधाञ्छाकुनिकान् गोपान् कैवर्तान् मूल-

---

अप्रकाश्य चिन्ह, नदीप्रवाह तथा दीर्घ भोगसे राजा सीमा निश्चय करे। इन चिन्होंको देखके भी यदि सन्देह न छूटे, तो गवाहोंके द्वारा सीमाका निश्चय करे ॥२५०।२५३॥ गांववालों तथा वादी प्रतिवादीके सामने सीमा चिन्होंको साक्षियोंसे पूछे ॥२५४॥ साक्षियोंकी जबानबन्दी और उनके नामोंको राजा सीमापत्रमें लिख रखे ॥२५५॥ गवाहलोग लालवस्त्र और लालमाला पहनकर माथेपर मट्टी लगाके सुकृतके सहारे शपथ करें। सच्चे गवाह ज्योंकी त्यों बात कहके निष्पाप होते और झूंठी गवाही देनेवालेको राजा दो सौ पण जुर्माना करे ॥२५७॥ गवाह न रहनेपर गांवके चारोंओरके चार मनुष्य राजाके सामने सीमा निर्णय करें ॥२५८॥ सामन्तके अभावमें ग्रामवासी मण्डली और उनके अभाव मुखियोंकी साक्षी लेवे ॥२५९॥ व्याधों, ज्योतिषियों, ग्वालों, केदियों वनमेंसे

खानकान्। व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः॥ २६०॥ ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम्। तत् तथा स्थापयेद्राजा धर्म्मेण ग्रामयोर्द्वयोः॥ २६१॥ क्षेत्र-कूप-तड़ागानामारामस्य गृहस्य च। सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमा-सेतुविनिर्णयः॥ २६२॥ सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम्। सर्व्वे पृथक् पृथग् दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम्॥ २६३॥ गृहं तड़ागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्। शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञाना-द्विशतो दमः॥ २६४॥ सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्म्मवित्। प्रदिशेद्भूमिमेकेषामुपकारादिति स्थितिः॥ २६५॥ एषोऽखिलेनाभिहितो धर्म्मः सीमाविनिर्णये। अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम्॥ २६६॥ शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति। वैश्योऽप्यर्द्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति॥ २६७॥ पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने। वैश्ये

औषधि संग्रह करनेवालों, सपेरों, उञ्छवृत्तिवालों और फल फूल काष्ठ आदि लानेवालोंसे सीमाकी बात पूंछे॥ २६०॥ वे लोग सीमाके सम्बन्धमें जैसा कहें, राजा दोनों ग्रामोंकी उसी प्रकार सीमा बांधे॥ २६१॥ खेत, कुआ, तड़ाग, बगीचा वा गृहकी सीमा प्रतिवेशी गवाहोंके द्वारा जाने॥ २६२॥ ये सामन्त गवाह लोग यदि झूठ कहें तो राजा उनका पांच सौ पण जुर्माना करे॥ २६३॥ भय दिखाके दूसरेके घर, तड़ाग, बगीचा और खेत हरनेसे पांच सौ पण तथा बिनाजाने हरका दोसौ पण जुर्माना होगा॥ २६४॥ यदि अन्य उपायसे सीमा ठीक न हो, तो धार्म्मिक राजा उपकारकी सम्भावना समझ कर दण्ड निर्देश करे,—ऐसी ही व्यवस्था है॥ २६५॥ यह सीमा निर्णयकी साधारण व्यवस्था कही गई, अब वचनकी कठोरताके सम्बन्धमें कहेंगे॥ २६६॥ ब्राह्मणको गाली देनेसे क्षत्रियको एक सौ, वैश्यको डेढ़ वा दो सौ और शूद्रको ताड़ना आदि शारीरिक दण्ड होगा॥ २६७॥ क्षत्रियको गाली देनेसे ब्राह्मणको

स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥ समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे । वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥ एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् । जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ २७० ॥ नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः । निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥ २७१ ॥ धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः । तप्तमासेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥ श्रुतं देशञ्च जातिञ्च कर्म्म शारीरमेव च । वितथेन ब्रुवन् दर्पाद्दाप्यः स्याद्द्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥ काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम् । तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥ मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् । आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानञ्चाददद्गुरोः ॥ २७५ ॥ ब्राह्मण-

---

पचास, वैश्यको गाली देनेसे पचीस और शूद्रको गाली देनेसे बारह पण दण्ड होगा ॥ २६८ ॥ द्विजातियोंके बीच अपभाषण होनेसे बारह पण और गाली गलौज होनेसे इससे दूना जुर्माना होगा ॥ २६९ ॥ नीच अर्थात् शूद्र यदि द्विजातियोंको कड़े वचन कहे तो उसे जिह्वा छेदनरूपी दण्ड दिया जावेगा ॥ २७० ॥ नाम और जातिका उल्लेख करके यदि शूद्र द्विजातियोंकी निन्दा करे, तो जलाता हुआ दश अङ्गुल लोहेकी शलाका उसके मुंहमें डाले ॥ २७१ ॥ यदि शूद्र अभिमानके साथ द्विजातियोंको कहे, कि तुमलोगोंको "यही धर्म्म अनुष्ठेय है" अथवा इसही प्रकार धर्म्म-उपदेश करे, तो राजा उसके मुंह और कानमें तपाया हुआ तेल डाले। २७२ ॥ एक जनके विद्या, देश, जाति, तथा संस्कार कर्म्म सम्बन्धमें यदि एक जन अन्यथा कहे, तो उसे दो सौ पण जुर्माना होगा ॥ २७३ ॥ सत्य होनेपर भी यदि कोई किसीको काना लङ्गा अथवा कुबड़ा कहके पुकारे, तो राजा उसे एक कार्षपण जुर्माना करें ॥ २७४ ॥ माता, पिता, पत्नी, भाई, पुत्र अथवा गुरुको गाली देने वा मार्ग न छोड़ देनेसे एक सौ पण

क्षत्रियाभ्यान्तु दण्डः कार्य्यो विजानता। ब्राह्मणे साहसः पूर्व्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः॥ २७६॥ विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः। छेदवर्ज्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः॥ २७७॥ एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः। अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम्॥ २७८॥ येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः। छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम्॥ २७९॥ पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति। पादेन प्रहरन् कोपात् पादच्छेदनमर्हति॥ २८०॥ सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः। कट्यां कृताङ्को निर्व्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्त्तयेत॥२८१॥ अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ च्छेदयेन्नृपः। अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्द्धयतो गुदम्॥ २८२॥ केशेषु गृह्णतो हस्तौ च्छेदयेदविचारयन्। पादयोर्दाढिकायाञ्च ग्रीवायां वृषणेषु च॥ २८३॥

जुर्माना होगा॥ २७५॥ ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें गालीगलौज होनेसे राजा ब्राह्मणको पूर्व्वसाहस और क्षत्रियको मध्यम साहस जुर्माना करे॥ २७६॥ वैश्य और शूद्रोंकी आपसमें गाली होनेपर वैश्यका इसही भांति प्रथम साहस और शूद्रको मध्यम साहसका दण्ड होगा, जीभ न काटी जावेगी॥ २७७॥ यह वचनकी कठोरताकी दण्डविधि कही गई, अब मार पीटके सम्बन्धकी विधि कहते हैं॥ २७८॥ शूद्र जिस अङ्गसे श्रेष्ठ जातिको मारे, राजा उसका वही अङ्ग कटवा डाले; ऐसी मनुकी आज्ञा है॥ २७९॥ श्रेष्ठ जातिको मारनेके लिये हाथ वा लाठी उठानेपर राजा उसका हाथ कटवा दे और चरण प्रहार करनेसे उसका पांव कटवा डाले॥ २८०॥ शूद्र ब्राह्मणके साथ एक आसन पर बैठे, तो राजा लोहे की शलाका तपाके उसके कमरमें दगवा देवे॥ २८१॥ यदि शूद्र अभिमान पूर्व्वक ब्राह्मणके शरीरपर थूके तो राजा उसका ओठ कटवा ले, पेशाब करनेसे शिश्न और अधोवायु करनेसे गुह्यस्थल कटवा देवे २८२।२८३॥

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेत्ता तु षड्निष्कान् प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ २८४ ॥ वनस्पतीनां सर्व्वेषामुपभोगो यथा यथा । तथा तथा दमः कार्य्यो हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥ मनुष्याणां पशूनाञ्च दुःखाय प्रहृते सति । यथा यथा महद्दुःखं दण्डं कुर्य्यात तथा तथा ॥ २८६ ॥ अङ्गावपीड़नायाञ्च व्रण-शोणितयोस्तथा । समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्व्वदण्डमथापि वा ॥२८७॥ द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपिवा । स तस्योत्पादयेत् तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥ चर्म्म-चार्म्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च । मूल्यात् पञ्चगुणो दण्डः पुष्प-मूल-फलेषु च ॥ २८९ ॥ यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च । दशातिवर्त्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥ छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्य्यक्प्रतिमुखागते । अक्षभङ्गे च

समान जातिके बीच चर्म्मभेद करने वा रक्त निकालनेसे एकसौ पण और मांसभेद करनेवालेको छःनिष्क तथा हड्डी भेदनेवालेको निर्व्वासनरूपी दण्ड देवे ॥ २८४ ॥ वृक्ष आदिको नष्ट करनेपर पत्र पुष्प फल प्रभृति तथा उत्तम मध्यम विचारके राजा नुकसान करनेवालेको दण्ड देवे ॥ २८५ ॥ मनुष्य अथवा पशुओंको प्रहारकरके पीड़ित करनेपर क्लेशके अनुसार राजा प्रहार करनेवालेको दण्ड देवे ॥ २८६ ॥ अङ्गभेद, घाव करने वा रक्त बहानेपर राजा प्रहार करनेवालेसे घायल पुरुषके औषध पथ्य आदिका सब खर्चा दिलावे । न देनेपर राजा घायल पुरुषके व्यय अनुसार प्रहार-करनेवालेको दण्ड देवे ॥ २८७ ॥ जानके वा बिना जाने जो जिसका द्रव्य नष्ट करे, वह उतनाही द्रव्य देके धनस्वामीको प्रसन्न करे और राजाको भी उस द्रव्यके अनुरूप जुर्माना देवे ॥ २८८ ॥ चमड़ा, चमड़ेके पात्र, काष्ठ और मट्टीके बर्त्तन, फूल, मूल, फल और ईख आदि वस्तु नष्ट करनेपर उन वस्तुओंका चौगुना जुर्माना राजाको देवे और द्रव्यस्वामीको प्रसन्न करना होगा ॥ २८९ ॥ सवारी, सारथी और यानस्वामी आदि दस स्थानोंमें

यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च। आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥ यत्रापवर्त्तते युग्य वैगुण्यात् प्राजकस्य तु । तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥ प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति। युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्व्वे दण्ड्याः शतंशतम् ॥ २९४ ॥ स चेत् तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा। प्रमापयेत् प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥ मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत् किल्बिषं भवेत्। प्राणभृत्सु महत्स्वर्द्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥ क्षुद्रकाणां पशूनान्तु हिंसायां द्विशतो दमः। पञ्चाशत् तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥ गर्द्दभाजाविकानान्तु दण्डः स्यात् पञ्चमाषिकः।

सिवा अन्य स्थानोंमें भी दण्डकी विधि है ॥ २९० ॥ बैलके नाककी नाथ और रथ आदिका जुआ टूटने; नीची ऊंची जमीनपर चक्रेके बीचकी धुरी, यानका चर्म्म बन्धन तथा पशुओंके मुखबन्धनकी रसरी वा लगाम टूट जानेपर जोरसे पुकारके लोगोंको सावधान कर देनेपर भी यदि रथ आदिके द्वारा कोई जीवहत्या हो, तो उससे किसीको दण्ड न होगा, ऐसा मनु कहते हैं ॥ २९१।२९२ ॥ जहां सारथीके दोषसे रथ इधर उधर होकर प्राणिहिंसा होती है, वह सुशिक्षित सारथी न रखनेके सबब रथके स्वामीको दो सौ पण. जुर्माना होगा ॥ २९३ ॥ यदि सारथी निपुण हो किन्तु असावधान रहे तो सारथीको ही जुर्माना होगा; सारथी रथ चलानेमें मूर्ख हो तो रथमें बैठे हुए हरएक पुरुषको एक एक सौ पण जुर्माना होगा ॥ २९४ ॥ परन्तु यदि वह रस्तेमें पशुओं वा सवारियोंसे रुकके रथ चलावे और उससे प्राणिहत्या हो तो राजा उसे ही दण्डित करे ॥ २९५ ॥ मनुष्य मरनेपर उसही समय उसे चोरके समान दण्डित करे और गऊ, ऊंट, घोड़ा आदि बड़े बड़े पशुओंके नष्ट होनेपर उसे आधा दण्ड दिया जायगा ॥ २९६ ॥ साधारण पशु विनष्ट होनेपर दो सौ

माषकस्तु भवेद्दण्डः श्व-शूकरनिपातने ॥ २९८ ॥ भार्य्या पुत्रश्च दासश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः । प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यूरज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ २९९ ॥ पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन । अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तःस्याच्चौर-किल्विषम् ॥ ३०० ॥ एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः । स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥ परमं यत्नमातिष्ठेत् स्तेनानां निग्रहे नृपः । स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रञ्च वर्द्धते ॥ ३०२ ॥ अभयस्य हि यो दाता सपूज्यः सततं नृपः । सत्रं हि वर्द्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥ सर्व्वतो धर्म्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः । अधर्म्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥ यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।

पण और दश पृषत शुक्र सारिका प्रभृतिका नाश होनेसे पचास पण दण्ड होगा ॥ २९७ ॥ गधा, बकरी, भेड़ आदि मारनेसे पांच माषा रूपा दण्ड होगा और सूअर तथा कुत्ताको मारनेसे एक माषा रूपा दण्ड होगा ॥२९८ स्त्री, पुत्र, दास, शिष्य और सहोदर छोटे भाइयोंके अपराध करनेपर छिद्रोन रस्सी वा वेणुदलसे उन्हें ताड़ना करे ॥ २९९ ॥ परन्तु रस्सी आदिसे पीठपर प्रहार करे कदापि उत्तम अङ्गमें प्रहार न करे, अन्य अङ्गपर आघात करनेसे मारनेवाला चोरके समान अपराधी होगा ॥ ३०० ॥ यह दण्डपारुष्यका विधान कहा गया, अब चोरीकी दण्डविधि कहते हैं ॥ ३०१ ॥ राजा चोरको दण्डित करे, चोरको दण्ड देनेसे राजाका यश होता तथा राज्यकी वृद्धि होती है ॥ ३०२ ॥ चोरको कैद करके जो लोग प्रजाको अभय करते हैं, वे सबके पूजनीय हैं; उनको अभय दक्षिणारूपी यज्ञकी वृद्धि होती है ॥ ३०३ ॥ प्रजा जो कुछ धर्म्मकार्य्य करती है, रक्षा करनेवाला राजा उसमें छठां हिस्सा पाता है और रक्षा न करनेसे पापका छठवां हिस्सा फलभागी होता है ॥ ३०४ ॥ प्रजा जो शास्त्र वेदपाठ वा पूजा करती है, रक्षा करनेसे

तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥ रक्षन् धर्म्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् । यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥ योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कञ्च पार्थिवः । प्रतिभागञ्च दण्डञ्च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥ अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् । तमाहुः सर्व्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥ अनपेक्षितमर्य्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् । अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥ अधार्म्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात् प्रयत्नतः । निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥ निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च । द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥ क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्य्यिणां नृणाम् । बालवृद्धातुराणाञ्च कुर्व्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥ यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्त्तैस्तेन स्वर्गे महीयते । यस्त्वैश्वर्य्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥३१३

ही राजाको उसमें छठा हिस्सा फल मिलता है ॥ ३०५ ॥ धर्म्मसे प्रजाकी रक्षा करने और वध करने योग्य लोगोंके मारनेसे राजाको प्रतिदिन लाख गोदक्षिणाको यज्ञतुल्य फल होता है ॥ ३०६ ॥ जो राजा प्रजाकी रक्षा न करके उससे केवल कर लेता वा अर्थदण्डसे धन संग्रह करता है, वह राजा मरनेके अनन्तर नरकगामी होता है ॥ ३०७ ॥ अरक्षक राजा सब लोकोंमें मलहारक कहके वर्णित होता है ॥ ३०८ ॥ शास्त्र न माननेवाला नास्तिक, अधिक लोभी, अरक्षक, प्रजाके सर्व्वस्व हरनेवाले राजाको अधोगामी जानना ॥ ३०९ ॥ अत्यन्त यत्नके सहित आदमियोंको हथकड़ी बेड़ीके द्वारा कैद करे तथा पांव आदि काटना प्रभृति अनेक तरहका शारीरिक दण्ड देवे ॥ ३१० ॥ जैसे द्विजाति लोग यज्ञ करके पवित्र होते हैं, वैसे ही पापियोंको निग्रह और साधुओंको संग्रह करनेसे राजा सदा पवित्र होता है ॥ ३११ ॥ अपने हितकी इच्छा करनेवाला राजा वादी प्रतिवादी तथा बालक, बूढ़े और आतुरोंकी

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता। आचचाणेन तत् स्तेयमेवंकर्म्मास्मि शाधि माम्॥३१४॥ स्कन्धेनादाय मुषलं लगुडं वापि खादिरम्। शक्तिञ्चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा॥३१५॥ शासनाद्वा विमोचाद्वा स्तेनः स्तयादिमुच्यते। अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्॥३१६॥ अन्नादेभ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्य्यापचारिणी। गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥३१७॥ राजभिर्कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्म्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥३१८॥ यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च यः प्रपाम्। स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन् समाहरेत्॥३१९॥ धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः। शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥३२०॥ तथा

आक्षेपयुक्त वचन सुनके चला करे॥३१२॥ पीड़ित पुरुषका अप्रिय वचन जो राजा सहता है, वह स्वर्गमें भी पूजित होता; परन्तु जो ऐश्वर्य्य मदसे मतवाला होकर दुखियोंकी कटूक्ति क्षमा नहीं करता, वह नरकगामी होता है॥३१३॥ सुवर्ण चुरानेवाला खुले केश नंगे सिर होकर दौड़ते हुए अपना अपराध कहे और खदिरकाष्ठ तथा लोहेका दण्ड अपने कंधेपर रखकर राजाके पास जावे॥३१४।३१५॥ राजा उस ही दण्डसे उसे मारे, मारनेसे वह मर जावे वा मरनेके तुल्य होनेसे ही चोरीके पापसे छूटेगा; पर राजा चोरको शासन न करनेसे स्वयं चोरीके पापमें फंसेगा॥३१६॥ ब्रह्महत्या वा भ्रूण हत्यारेका अन्न खानेसे उसके पापका भागी होना पड़ता है, व्यभिचारिणी स्त्रीका पाप स्वामीको, शिष्य और राज्यका पाप गुरुको और चोरका पाप राजाको लगता है॥३१७॥ पापी पुरुष राजाके द्वारा दण्डित होनेपर साधु तथा पुण्यात्माओंकी भांति स्वर्गमें जाता है॥३१८॥ जो पुरुष कूपाके निकटकी रस्सी वा जलके पात्र चुराता है वा पानासार तोड़ता है,

धरिममेयाणां शतादभ्यधिके वधः। सुवर्णरजतादीनामुत्तमानाञ्च वाससाम्॥ ३२१॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते। शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत्॥ ३२२॥ पुरुषाणां कुलीनानां नारीणाञ्च विशेषतः। मुख्यानाञ्चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति॥ ३२३॥ महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च। कालमासाद्य कार्यञ्च दण्डं राजा प्रकल्पयेत्॥ ३२४॥ गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छुरिकायाश्च भेदने। पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्द्धपादिकः॥ ३२५॥ सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च। दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च॥ ३२६॥ वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां

उसे एक माषा सुवर्ण जुर्माना होगा और वह धान तथा उसकी फिरा देना होगा॥ ३१९॥ दो सौ पलका एक द्रोण होता है, बीस द्रोणका एक कुम्भ होता है, इस ही प्रकार जो दस कुम्भसे भी ज्यादा धान चुरावे उसे शारीरिक दण्ड और इससे कम चुरानेसे ग्यारह गुना दण्ड देवे तथा धान्य फिरा देना होगा। तुला परिमाणके योग्य सोना रूपा आदि अधिक दामी चीजें तथा एक सौ पलसे ज्यादे उत्तम वस्त्र चुरानेसे शारीरिक दण्ड होगा॥ ३२०॥ पंचाससे ज्यादे एक सौतक इन वस्तुओंको चुरानेसे हाथ काटना रूपी दण्ड होगा॥ ३२१॥ एकसे पंचासतक चुरानेसे वस्तुके मूल्यका ग्यारह गुणा दंड होगा॥ ३२२॥ कुलीन पुरुषका विशेष करके बड़े कुलमें उपजी हुई स्त्रियोंका तथा हीराप्रवाल आदि श्रेष्ठ रत्नोंको हरनेवालेको प्राणदंड (वध) किया जायगा॥ ३२३॥ हाथी घोड़ा आदि बड़े पशुओंके हरने, तलवार आदि शस्त्रोंको चुरानेपर कार्य्य और कालको विचारकर राजा चोरको दंड देवे॥ ३२४॥ सवारीके योग्य ब्राह्मणका पशु चोरी करनेवालेकी नाक कटवा डाले॥ ३२५॥ कपासके सूतकी बनी वस्तुयें, सुरादि सूता, गोमय, गुड़, दही, दूध मट्ठा, पानीकी वस्तु, तृण, घास, बांसकी बनी

तथैव च । मृण्मयानाञ्च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥ मत्स्यानां पक्षिणाञ्चैव तैलस्य च घृतस्य च । मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत् पशुसम्भवम् ॥ ३२८ ॥ अन्येषाञ्चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च । पक्वान्नानाञ्च सर्व्वषां तन्मूल्याद्द्विगुणो दमः ॥ ३२९ ॥ पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्ली नगेषु च । अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात् पञ्चकृष्णलः ॥ ३३० ॥ परिपूतेषु धान्येषु शाक-मूल-फलेषु च । निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्द्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥ स्यात् साहसन्त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म्म यत् कृतम् । निरन्वयं भवेत् स्तेयं हृत्वापह्नूयते च यत् ॥ ३३२ ॥ यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः । तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् ॥ ३३३ ॥ येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते । तत्तदेव हरेत् तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥

हुई चीजें, नमक, मट्टीके वर्त्तन, मट्टी, राख, मछली, पक्षी, तेल, घी, मांस, मधु, पशुओंके चमड़े सींग हाथी-दांत आदि तथा अन्यान्य थोड़े मूल्यकी चीजें, अनेक तरहके मद्य, अन्न तथा भांति भांतिके पक्वान्न चोरी करनेसे वस्तुके मूल्यका दूना दंड होगा ॥ ३२८।३२९ ॥ फूल खेतके धान्य, गुल्मवृक्ष, तथा शस्य चोरी करनेसे पांच कृष्णल रूपा दंड होगा ॥ ३३० ॥ परिपूत धान्य और शाक मूल आदि चोरी करनेवाला यदि द्रव्यस्वामीका सम्पर्की हो, तो उसे पंचास पण और निःसम्पर्कीय होनेसे एक सौ पण दंड होगा ॥ ३३१ ॥ द्रव्य स्वामीके सामने बलपूर्वक हरनेको "साहस" असमक्षमें हरने वा धरोहरके हरनेको "चोरी" कहते हैं ॥ ३३२ ॥ पहिले कही हुई सुता आदिकी चीजें यदि द्रव्यस्वामी अपने भोगके लिये तैयार किये होवे, तो चोरी करनेवालेको प्रथम साहस दण्ड होगा और जो अग्निकी अग्नि चुरावे उसे भी यही दण्ड दिया जायगा ॥ ३३३ ॥ चोर जिस अङ्गसे दूसरेका धन चोरी करे, उसका वही अङ्ग राजा कटवा डाले;

३३४ ॥ पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः। नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्म्मे न तिष्ठति ॥ ३३५ ॥ कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः। तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥ अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्। षोड़शैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत्। द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥ वानस्पत्यं मूलफलं दार्व्वग्न्यर्थं तथैव च। तृणञ्च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥ योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम्। याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥ द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके। आद-

---

जिससे वह फिर वसा कार्य्य न करे ॥ ३३४ ॥ पिता, आचार्य्य, सुहृद्, माता, भार्य्या, पुत्र और पुरोहित भी राजाके निकट अदण्डनीय नहीं हैं; अपने अपने धर्म्ममें तत्पर न रहनेसे राजा सबको ही दण्ड दे सकता है ॥ ३३५ ॥ जिस अपराधसे अन्य साधारण लोगोंको एक पण दण्ड होगा, राजा यदि स्वयं उस अपराधको करे, तो उसे सहस्र पण दण्ड होनेकी धर्म्मव्यवस्था है। राजाके दण्डका धन जलमें फेंकना वा ब्राह्मणको देना होता है ॥ ३३६ ॥ चोरीके गुण दोषको जाननेवाला शूद्र चोरी करनेसे आठ गुना और वैश्य चोरको सोलह गुना दण्ड होवेगा ॥ ३३७ ॥ चोरीके गुन दोषोंके जाननेवाले ब्राह्मण चोरको विहित दण्डसे चौंसठ गुना दण्ड होगा, उससे भी गुणवान ब्राह्मणको एक सौ अट्ठाइस पण दण्ड होगा ॥ ३३८ ॥ वनस्पतियोंके फल मूल, होमकी अग्निके काठ और गऊको खिलानेके वास्ते तृण लेजानेको चोरी नहीं कहा जाता। ऐसा मनुने कहा है ॥ ३३९ ॥ ब्राह्मण यदि याजन और अध्यापनका दक्षिणास्वरूप धन भी अदत्तादायी चोरके हाथसे लेनेकी इच्छा करे, तो वह भी चोरकी भांति गिना जावेगा ॥ ३४० ॥ मार्गमें जानेवाला द्विजाति पथिकको

द्विजः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥ असन्धितानां सन्धाता सन्धितानाञ्च मोक्षकः। दासाश्वरथहर्त्ता च प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥ ३४२ ॥ अनेन विधिना राजा कुर्व्वाणः स्तेननिग्रहम्। यशोऽस्मिन् प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥ ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्। नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥ वाग्दुष्टात् तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः। साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥ साहसे वर्त्तमानन्तु यो मर्षयति पार्थिवः। स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषञ्चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥ न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्। समुत्सृजेत् साहसिकान् सर्व्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥ शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्म्मो

पास भोजनकी वस्तु न रहे और वह भूखा होनेपर खेतमेंसे दो एक ऊख वा मूल ले लेवे तो वह दण्डित न होगा ॥ ३४१॥ दूसरोंके छूटे हुए पशुओंको बांधनेवाला तथा दूसरेके बंधे हुए पशुओंका बन्धन तोड़नेवाला और दास घोड़ा तथा रथ हरनेवाला चोरकी भांति दण्डनीय है ॥ ३४२ ॥ इसही भांति जो राजा चोरको शासन करता है, वह इस लोकमें यश और परलोकमें उत्तम फल पाता है ॥ ३४३ ॥ जो इन्द्रत्व पानेकी इच्छा करे, जो अक्षय अव्यय यश चाहे,—क्षणभरके लिये भी उस राजाको साहसिक मनुष्यकी उपेक्षा करनी योग्य नहीं है। जो लोग घर जलाते वा डकैती आदि करते हैं ॥ ३४४ ॥ क्रूर वचन बोलनेवाले तथा मार पीट करनेवाले और चोरोंसे भी साहसिक पुरुषोंको अत्यन्त पापी जाने ॥ ३४५ ॥ जो राजा साहसिक पुरुषोंको दण्ड न देके उपेक्षा करता है, उसका शीघ्रही नष्ट होता और लोगोंका विद्वेषभाजन हुआ करता है ॥ ३४६ ॥ मित्रता वा अधिक धन प्राप्तिके लोभसे सब लोगोंको डरानेवाले साहसिक लोगोंको कभी न छोड़ना चाहिये ॥ ३४७ ॥ जब बलसे धर्म्मका मार्ग रुके अथवा समयके प्रभावसे वर्णविप्लव

यत्रोपरुध्यते। द्विजातीनाञ्च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥ आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानाञ्च सङ्गरे। स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्म्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥ परदाराभिमर्षेषु प्रवृत्तान् नॄन् महीपतिः। उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥ तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसङ्करः। येन मूलहरोऽधर्म्मः सर्व्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥ परस्य पत्न्या पुरुषः सम्भाषां योजयन् रहः। पूर्व्वमाचारितो दोषैः प्राप्नुयात् पूर्व्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥ यस्त्वनाचारितः पूर्व्वमभिभाषेत कारणात्। न दोषं प्राप्नुयात् किञ्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥ ३५५ ॥

होने लगे, तो उस समय द्विजाति लोग धर्म्म रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण कर सकते हैं ॥ ३४८ ॥ अपनी रक्षा, न्यायपूर्व्वक युद्ध, स्त्रियों तथा ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये धर्म्मपूर्व्वक प्राणिवध करनेसे दोष भागी नहीं होना होता ॥ ३४९ ॥ (गुरु, बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण यदि मारनेको आवे और अपनी रक्षा का उपाय न रहे, तो कुछ भी विचार न करके उसका वध करे ॥ ३५० ॥ प्रकाश्य वा गुप्त रीतिसे आततायीको मारनेसे पाप नहीं होता ॥ ३५१ ॥ पराई स्त्रियोंसे गमन करनेवाले लोगोंको अनेक तरहके उद्वेगजनक नाक कान काटना आदि दण्ड देके देशसे निकाल देवे ॥ ३५२ ॥ पराई स्त्रियोंसे गमन करनेसे लोगोंके बीच वर्णसङ्कर पैदा होते हैं और उन्हींसे अधर्म्म वा सर्व्वनाश होता है ॥ ३५३ ॥ जो पहिलेसे परस्त्री दोषसे दूषित हो, वह यदि निर्जनमें कोई पराई स्त्रीके साथ बात करे तो उसे उत्तम साहस दण्ड होगा ॥ ३५४ ॥ और जो पहिलेसे निर्दोषी विदित हो, वह यदि किसी कारणसे निर्जनमें परस्त्रीके साथ बात करे, तो उसे कुछ भी दण्ड न होगा, क्योंकि उसका अपराध

परस्त्रियं योऽभिवदेत् तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा। नदीनां वापि सम्भेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥ ३५६ ॥ उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषण-वाससाम्। सह खट्वासनञ्चैव सर्व्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥ स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत् तया। परस्परस्यानुमते सर्व्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥ अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति। चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥ ३५९ ॥ भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा। सम्भाषणं सह स्त्रीभिः कुर्य्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥ न सम्भाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत्। निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥ नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु। सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥ किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात् सम्भाषां ताभि-

---

नहीं है ॥ ३५५ ॥ तीर्थ, जङ्गल, निर्जन वन वा नदियोंके सङ्गमस्थानमें जो पराई स्त्रियोंसे बातचीत करे उसका वह दोष स्त्री संग्रहणरूपसे गिना जावेगा ॥ ३५६ ॥ पराई स्त्रीके पास सुगन्धित माला-आदि भेजना परिहास, आलिङ्गन, गहना छूना, वस्त्र धारण, एक शय्यापर सोना और एकत्र भोजन करना स्त्रीसंग्रहणरूपसे गिना जावेगा ॥ ३५७ ॥ स्त्रियोंका न छूनेयोग्य स्थान यदि पुरुष छूवे और पुरुषका स्थान यदि स्त्री स्पर्श करे और ऐसा करनेसे परस्परमें रुष्ट न हों, तो यह दोष परस्पर स्वीकाररूपसे संग्रहण कहा जावेगा ॥ ३५८ शूद्र यदि ब्राह्मण ब्राह्मणीको बलरीतिसे ग्रहण करे, तो उसे प्राणान्त दण्ड होगा ; चारों वर्णों को योग्य है कि भार्य्याको अत्यन्तही रक्षित रखें ॥ ३५९ ॥ भिक्षुक, बन्दी, ऋत्विक, सूपकार और कारुकर पराई स्त्रीके साथ बेरोक टोक बात कर सकते हैं ॥ ३६० ॥ स्वामीके मना करनेपर भी उसकी स्त्रीसे बातचीत करनेपर एक सुवर्ण दण्ड होगा ॥ ३६१ ॥ परस्त्री सम्बन्धमें जो सब विधि कही गई हैं, वे सब नट, नाचनेवाले, भार्य्यासे जीविका निभानेवाले तथा

राचरन् । प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥३६३॥ योऽकामां दूषयेत् कन्यां स सद्यो वधमर्हति । सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥ कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् । जघन्यं सेवमानान्तु संयतां वासयेद्गृहे ॥ ३६५ ॥ उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति । शुल्कं दद्यात् सेवमानः समामिच्छेत् पिता यदि ॥ ३६६ ॥ अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्य्याद्दर्पेण मानवः । तस्याशु कर्त्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डञ्चार्हति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥ सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात् । द्विशतन्तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥ कन्यैव कन्यां या कुर्य्यात् तस्याः स्याद्द्विशतो दमः ।

नीचलोगोंकी स्त्रियोंमें नहीं चलेगी ; क्योंकि वे लोग स्वयंही धनके लोभसे अपनी स्त्रियोंको दूसरोंके सङ्ग कर देते हैं अथवा छिपके दूसरेको स्त्रीके साथ सङ्गम करते हुए देखते हैं ॥ ३६२ ॥ तौभी यदि इनलोगोंकी स्त्रियों, दासी वा कपट ब्रह्मचारिणीके साथ गुप्तरीतिसे व्यभिचार करे तो व्यभिचार करनेवालेको कुछ दण्ड होगा ॥ ३६३ ॥ अकामाकन्या गमन करनेसे उसी समय शारीरिक दण्ड होगा ; समान जातिकी सकामा कन्या गमन करनेसे शारीरिक दण्ड न होगा ॥ ३६४ ॥ नीचजातिकी स्त्री यदि अपनेसे ऊंची जातिके पुरुषके साथ अपनी इच्छासे सङ्गम करे, तो उस स्त्रीको कुछ भी दण्ड न होगा और यदि नीचजातिके साथ गमन करे तो जबतक वह इत्तकामा न हो, तबतक उसे घरसे निकलने न देवे ॥ ३६५ ॥ नीचजातिका पुरुष यदि उत्तम जातिकी कन्यासे भोग करे तो उस पुरुषका शिश्न काटना आदि शारीरिक दंड होगा ; परन्तु समानजातिकी सकामाकन्या गमन करनेसे प्राणदण्ड न होगा कन्याका पिता यदि चाहे तो उससे शुल्क ले सकता है ॥ ३६६ ॥ जो पुरुष बलपूर्व्वक समान जातिकी परस्त्रीकी योनिमें अङ्गुली डाले, उसकी उसही समय अंगुली कटवा ले और छ सौ पण जुर्माना करे ॥ ३६७ ॥ समान जातिकी सकामा

शुल्कञ्च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥ ३६९ ॥ या तु कन्यां प्रकुर्य्यात् स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति । अङ्गुल्योरेव वा च्छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥ भर्त्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता । तां श्वभिः खादये-द्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥ पुमांसं दाहयेत् पाप शयने तप्त आयसे । अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥ संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः । व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥ शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् । अगुप्तमङ्गसर्व्वस्वैर्गुप्तं सर्व्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥ वैश्यः सर्व्वस्वदण्डः स्यात् संवत्सरनिरोधतः । सहस्रं

स्त्रीकी योनिमें इस प्रकार अङ्गुली प्रवेश करनेवाले पुरुषकी अङ्गुली न काटी जावेगी, परन्तु यथाशक्ति हेतुसे उसे दो सौ पण जुर्माना होगा ॥ ३६८ ॥ यदि कोई कन्या अन्य कन्याकी योनिमें अङ्गुली डालके उसका कन्यापन नष्ट करे, तो उसे दो सौ पण दण्ड, तथा दूना शुल्क दण्ड हो और दस बेंत लगे ॥ ३६९ ॥ ब्याहे उमरवाली स्त्री यदि इस प्रकार कन्याको नष्ट करे तो उसका सिर मुंड़ा और अङ्गुली कटवा, गधे पर चढ़ाकर राजमार्गमें भ्रमण करावे ॥ ३७० ॥ धन वा सुन्दरताईके घमण्डसे जो स्त्री निजपतिको छोड़के परपुरुषसे गमन करती है, उसे अनेक लोगोंके सामने कुत्तोंसे नुचवा डाले और उस पापी जारपुरुषको तपाये हुए लोहेकी शय्यापर सुलाकर काष्ठ अग्नि आदिसे जला देवे ॥ ३७१।७२ ॥ एकबार दण्डित होके यदि फिर सम्वत्सरके भीतर परस्त्री गमन दोषसे दूषित हो, तो उस दुष्टको दूना दण्ड होगा ; व्रात्याजाति तथा चण्डाली स्त्री गमन करनेसे भी यही दण्ड होगा ॥ ३७३ ॥ यत्नसे रक्षित हो वा अरक्षित ही रहे, शूद्र यदि द्विजातिकी स्त्री गमन करे, तो अरक्षिता स्त्री गमन करनेसे शूद्रका शिश्न कटवा डाले और सर्व्वस्वहरण दण्ड देवे तथा पति आदिसे रक्षित स्त्रीगमन करनेसे शूद्रको सर्व्वस्व हरण और

क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥ ३७५ ॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तान्तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ। वैश्यं पञ्चशतं कुर्य्यात् क्षत्रियन्तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥ उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह। विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥ सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन्। शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह सङ्गतः ॥ ३७८ ॥ मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते। इतरेषान्तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥३७९ न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्व्वपापेष्वपि स्थितम्। राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्य्यात् समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥ न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्म्मो विद्यते भुवि। तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥ वैश्यश्चेत् क्षत्रियां गुप्तां

प्राणवध दण्ड होगा ॥ ३७४ ॥ वैश्य और क्षत्रिय यदि अरक्षिता ब्राह्मणी गमन करें" तो वैश्यको पांच सौ पण और क्षत्रियको एक सौ पण दण्ड होगा, यत्नपूर्व्वक रक्षिता ब्राह्मणीगमन करनेसे वैश्यको एकवर्ष कारावास और सर्व्वस्व-हरण दण्ड होगा क्षत्रियके ऐसा करनेपर उसे एक हजार पण दण्ड और गधेके मूत्रसे उसका सिर मुंड़ाया जायगा ॥ ३७५ ॥ वैश्य और क्षत्रिय यदि अरक्षिता ब्राह्मणी गमन करें, तो वैश्यको पांच सौ और क्षत्रियको एकहजार पण दण्ड होगा ॥ ३७६ ॥ वैश्य और क्षत्रिय यदि गुणवती रक्षिता ब्राह्मणी गमन करें तो उन्हें शूद्रकी भांति दण्ड होगा; अथवा दाभ वा सरपतसे उन्हें जला देवे ॥ ३७७ ॥ ब्राह्मण यदि रक्षित ब्राह्मणीको बलपूर्व्वक गमन करे तो उसे एक हजार पण तथा सकामा ब्राह्मणी गमन करनेसे पांच सौ पण दण्ड होगा ॥ ३७८ ॥ प्राणदण्ड न देके ब्राह्मणका सिर मुण्डन करा देवे और अन्य वर्णोंको प्राणान्त दण्ड हो सकता है ॥ ३७९ ॥ सब पापोंका पापी होने पर भी ब्राह्मणका कदापि वध न करे, बरन्‌ उसे अक्षत शरीरसे राज्यसे निकाल देवे ॥ ३८० ॥ ब्राह्मणवधके समान दूसरा पाप पृथिवीमें नहीं है, इसलिये

वैश्यां वा क्षत्रियो भजेत् । यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥३८२॥
सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते भजन् । शूद्रायां क्षत्रियविशोः
साहस्रो वै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥ क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः ।
मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥ अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये
शूद्रां वा ब्राह्मणो भजन् । शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात् सहस्रन्त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥
३८५ ॥ यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् । न साहसिक-
दण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥ एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां
विषये स्वके । साम्राज्यकृत् सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७ ॥
ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यमृत्विक् त्यजेद्यदि । शक्तं कर्मण्यदुष्टञ्च

राजा उनसे भी ब्राह्मणवधका विचार न करे ॥ ३८१ ॥ वैश्य यदि रक्षित
क्षत्रिया स्त्रीसे गमन करे और क्षत्री भी इसी प्रकार वैश्यासे गमन करे
तो अरक्षिता ब्राह्मणी गमनसे जो दण्ड निर्दिष्ट है; इन दोनोंको वही
दण्ड होगा ॥ ३८२ ॥ ब्राह्मण यदि रक्षित क्षत्रिया वा वैश्या स्त्रीसे गमन
करे तो उसे एक हजार पण दण्ड होगा और क्षत्रिय तथा वैश्य यदि
इसी भांति रक्षायुक्त शूद्रा स्त्रीसे गमन करें, तो उन्हें भी एक हजार पण
दण्ड होगा ॥ ३८३ ॥ वैश्य यदि अरक्षित क्षत्रियासे गमन करे, तो उसे
पांचसौ पण दण्ड और क्षत्रियको ऐसा करने पर गधेके मूत्रसे उसका सिर
मुंड़ाकर पांचसौ पण जुर्माना करे ॥ ३८४ ॥ अरक्षित क्षत्रिया और
वैश्या गमन करनेसे ब्राह्मणको एकहजार पण दण्ड होगा; चांडाली
आदि स्त्री गमन करनेसे भी ब्राह्मको यही दंड होगा ॥ ३८५ ॥ जिस
राजाके राज्यमें चोर, परस्त्रीगामी, कठोरवादी, साहसिक वा डाकू
बदमाश नहीं हैं, वह राजा इन्द्रलोकवासी होता है ॥ ३८६ ॥ उक्त
चोर आदि पांचों पुरुषोंको निग्रह करनेवाला राजा इस लोकमें साम्राज्य
करता और यश पाता है ॥ ३८७ ॥ कार्य्य करने योग्य ऋत्विक यजमानको

तयोश्च: शत शतम् ॥ ३८८ ॥ न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति । त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्य: शतानि षट् ॥ ३८९ ॥ आश्रमेषु द्विजातीनां कार्य्ये विवदतां मिथ: । न विब्रुयान्नृपो धर्म्मं चिकीर्षन् हितमात्मन:॥ ३९० ॥ यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणै: सह पार्थिव: । सान्त्वेन प्रशम्य्यादौ स्वधर्म्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥ प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे । अर्हावभोजयन् विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥ ३९२ ॥ श्रोत्रिय: श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् । तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यञ्चैव माषकम् ॥ ३९३ ॥ अन्धो जड़: पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च य: । श्रोत्रियेषूपकुर्व्वंश्च न दाप्या: केनचित् करम् ॥ ३९४ ॥ श्रोत्रियं व्याधितार्त्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् । महाकुलीनमार्य्यञ्च राजा संपूजयेत् सदा ॥३९५॥ शाल्मली-

---

त्याग तथा दोष रहित ऋत्विक्को यजमान त्याग करे तो दोनोंकोही एक सौ पण दंड होगा ॥ ३८८ ॥ माता, पिता, स्त्री और पुत्र यदि पतित न हों, तो उन्हें त्यागनेवालेको छ सौ पण जुर्माना करे ॥ ३८९ ॥ द्विजातियोंके गार्हस्थादि आश्रमोंके बीच धर्म्मसम्बन्धमें यदि किसी प्रकारका विवाद हो तो राजा धीरज देके उनके क्रोधको शान्त करे और उनको धर्म्मविषय समझा देवे ॥ ३९०।३९१ ॥ यदि किसी मङ्गलकार्य्यमें बीस ब्राह्मण भोजन कराना हो, तो यदि गृहस्थ उन ब्राह्मणोंको अतिक्रम करके अन्य ब्राह्मणोंको भोजन करावे, तो उसे एक माषा रूपा दंड होगा ॥ ३९२ ॥ स्वयं श्रोत्रिय होकर प्रतिवेशी वा अनुवेशी श्रोत्रिय साधुको यदि कोई विवाह आदि कार्य्योंमें भोजन न करावे, तो उसे भोजनसे दूनी खानेकी चीजें देनी होंगी ॥ ३९३ ॥ अन्ध, जड़, टूटी पीठवाले तथा धन धान्यसे जो पुरुष श्रोत्रियोंका सदा उपकार करते हैं,—उनसे राजा किसी प्रकारका कर न लेवे ॥ ३९४ ॥ विद्याचारयुक्त, रोगी, आर्त्त, बालक, बूढ़े, दरिद्र, महाकुलीन और आचार्य्यका राजा

फलके सल्ले नेनिज्यान्नेजकः शनैः। न च वासांसि वासोभिर्निहरेन्न च वासयेत् ॥ ३९६ ॥ तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम्। अतोऽन्यथा-वर्त्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ३९७ ॥ शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्व्वपण्य-विचक्षणाः। कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥ राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च। तानि निर्हरतो लोभात् सर्व्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥ शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी। मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥ आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धि-क्षयावुभौ। विचार्य्य सर्व्वपण्यानां कारयेत् क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥ पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते। कुर्व्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

दान मानसे सम्मान करे ॥ ३९५ ॥ सेमलके चिकने फलकसे धोबी वस्त्र धोवे और एकके वस्त्रसे दूसरेका वस्त्र न मिलावे अथवा एकका वस्त्र दूसरेको पहरनेके लिये न देवे ॥ ३९६ ॥ कपड़ा बुननेवाला गृहस्थसे दस पल सूता लेवे और माड़ी आदि उसमें लगानेके कारण ग्यारह पलके परिमाणसे वस्त्र देवे; इससे कम देनेसे बारह पण दंड होगा ॥ ३९७ ॥ वेंचने योग्य वस्तुओंके लेनमोल जाननेवाले लोग वस्तुका जो मूल्य निर्णय करें, राजा उस प्राप्त अंशमेंसे बीसवां हिस्सा ग्रहण करे ॥ ३९८ ॥ राजाकी निजकी विक्रय वस्तुओं तथा राजनिषिद्ध चीजोंको वेंचनेके लिये देशा-न्तरोंमें लेजानेवालोंका राजा सर्व्वस्व हरण करे ॥ ३९९ ॥ कर न देनेके लिये गुप्त मार्गसे जानेवालों तथा रातके समय बचने खरीदनेवालों किंवा चीजोंकी संख्या छिपानेवालोंको आठ गुणा दंड करे ॥ ४०० ॥ कितनी दूरसे वस्तु आई है, कहां जायगी, कितने दिनतक रखनेसे कितना मूल्य होगा इत्यादि सब विषयोंको विचारके राजा बेंचनेकी चीजोंका मूल्य निश्चय करे ॥ ४०१ ॥ चीजोंको समझके पांच दिन वा पन्द्रह दिनके बाद राजा मूल्य जाननेवालोंके सामने उसका मूल्य निर्णय करे ॥ ४०२

तुलामानं प्रतीमानं सर्वञ्च स्यात् सुलक्षितम्। षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥ पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्द्धपणं तरे। पादं पशुश्च योषिच्च पादार्द्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥ भाण्डपूर्णानि यानानि तार्य्यं दाप्यानि सारतः। रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित् पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥४०५ दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्। नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥ गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः। ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥ यन्नावि किञ्चि-द्दाशानां विशीर्य्येतापराधतः। तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽंशतः ॥ ४०८ ॥ एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः। दाशापराधतस्तोये

तौलनेके लिये तराजू और धान्य आदि मापनेके वास्ते प्रस्थको राजा विशेष लक्ष्य करके स्थिर करे और छः महीने बीते उनकी फिर परीक्षा करे ॥ ४०३ ॥ अतिरिक्त शकट आदि पार करना हो तो एक पण, एक पुरुषको ढोने योग्य भारमें आधा पण और पशु तथा स्त्रियोंके पार उतारनेमें चौथाई हिस्सा और बोझा रहित मनुष्यको पार करनेमें आठवां हिस्सा शुल्क लगेगा ॥ ४०४ ॥ बोझोंसे परिपूरित सवारियोंके पार करनेमें वस्तुओंके सार असारके अनुसार शुल्क लेना होगा। द्रव्य रहित शून्य, ढोल प्रभृति खाली भारमें थोड़ा शुल्क लेना होगा। दरिद्र लोगोंको बहुत थोड़ा पार जानेका महसूल लगेगा ॥ ४०५ ॥ नदीके रस्ते दूरतक आने जानेमें नदीकी प्रबलता, स्थिरता और ग्रीष्म वर्षा आदिका समय विचारके मूल्यनिश्चय करे। समुद्रमें जैसा योग्य हो वैसा पण लेवे ॥ ४०६ ॥ दो महीनेसे ज्यादेकी गर्भिणी स्त्री, परिव्राजक, भिक्षुक, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मणके पार जानेमें महसूल न लेवे ॥ ३०७ ॥ केवटके दोषसे नौका पर चढ़े हुए लोगोंकी वस्तु नष्ट होनेपर वह अपने अंशसे उसकी नुकसानी भर देगा ॥ ४०८ ॥ नौकापरके यात्रियोंकी

दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥ वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च। पशूनां रक्षणञ्चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥ क्षत्रियञ्चैव वैश्यञ्च ब्राह्मणो वृत्तिकर्षितौ। बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्म्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥ दास्यन्तु कारयँल्लोभाद्‌ब्राह्मणः संस्कृतान् द्विजान्। अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ४१२ ॥ शूद्रन्तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा। दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा ॥ ४१३ ॥ न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते। निसर्गजं हि तत् तस्य कस्तस्मात् तदपोहति ॥ ४१४ ॥ ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ। पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥ भार्य्या पुत्त्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत् ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥ विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्‌द्रव्योपादानमाचरेत्। न हि तस्यास्ति किञ्चित् स्वं

चोरी होनेपर मल्लाहको नुकसानी भर देनी होगी; किन्तु दैवसंयोगसे नष्ट होनेपर नौकावालेको हर्जा न देना होगा ॥ ४०९ ॥ क्षत्रिय और वैश्य यदि अपनीवृत्तिसे अपना भरण पोषण न करे, तो ब्राह्मण उन्हें उनका कार्य्य कराके अनृशंस भावसे प्रतिपालन करे ॥ ४१०।४११ ॥ ब्राह्मण यदि प्रभुता वा लोभसे अनिच्छक ब्राह्मणसे पैर धुलावे वा दासका कार्य्य करावे, तो राजा उसे छ सौ पण जुर्माना करे; परन्तु शूद्रसे वह दासका कार्य्य करा लेवे; क्योंकि विधाताने दासकर्म्मके वास्ते शूद्रोंको उत्पन्न किया है ॥ ४१२।४१३ ॥ शूद्र स्वामीसे विरक्त होनेपर भी दासपनेसे न छूटेगा, क्योंकि दासपना उसका स्वभाविक कार्य्य है ॥ ४१४ ॥ युद्ध जीतने से प्राप्त हुआ, दूसरेका दास, गृहस्थ दासीका पुत्र, दूसरेका दिया हुआ, पैत्रिक, और राजाका दिया हुआ दास,—ये सातो दासकहाते हैं ॥ ४१५ ॥ भार्य्या पुत्र, दास, ये तीनो शास्त्रमें निर्द्धन कहाते हैं; ये जो कुछ धन पैदा करें उसपर उनके स्वामीका ही अधिकार होता है ॥ ४१६ ॥ ब्राह्मण

भर्तृहार्य्यधनो हि सः॥ ४१७॥ वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्म्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्॥ ४१८॥ अहन्यहन्यवेक्षेत कर्म्मान्तान् वाहनानि च। आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोषमेव च॥ ४१९॥ एवं सर्व्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्। व्यपोह्य किल्बि सर्व्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥ ४२०॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायामष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

विशुद्धचित्तसे दासका धन लेसकता है; क्योंकि उसका निजस्व कुछ भी नहीं है, उसका सारा धन ही उसके स्वामीका होसकता॥ ४१७॥ राजा यत्नपूर्व्वक वैश्य और शूद्रको उनके निज कार्य्योंमें लगा रखे; क्योंकि इनके निज निज कार्य्योंसे पृथक् होनेसे जगत्में क्षोभ उत्पन्न होता है॥ ४१८॥ राजा प्रतिदिन साधारण गुरुतर कार्य्यों और वाहनों हाथी, घोड़ों, आय, व्यय, खान और खजानाको विचारता रहे॥ ४१९॥ राजा इसही प्रकार सारे व्यवहारोंको समाप्त कर सब पापोंसे छूटकर परम गति पाता है॥ ४२०॥

आठ अध्याय समाप्त।

नवमोऽध्यायः ।

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः । संयोगे विप्रयोगे च धर्म्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥ अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् । विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥ पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने । रक्षन्ति स्थविरे पुत्त्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥ कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः । मृते भर्त्तरि पुत्त्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥ सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः । द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥ इमं हि सर्व्व-

---

नवम अध्याय ।

धर्म्ममार्गमें स्थित स्त्री-पुरुष और इन दोनोंके संयोग तथा वियोग अवस्थाके प्रतिपादन करने योग्य नित्यधर्म्म वर्णन करता हूं, सुनो ॥ १ ॥ पति आदि स्वजन लोग दिन रात्रिके बीच स्त्रियोंको कभी स्वतन्त्र रीतिसे न रहने दें ; वल्कि सदा उन्हें धर्म्ममें तत्पर रखें ॥ २ ॥ स्त्रीकी कुमारी अवस्थामें पिता रक्षा करे युवा अवस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्र रक्षा करे ; स्त्रियां कदापि स्वतन्त्र न रहें ॥ ३ ॥ विवाहके योग्य समयमें कन्या यदि पात्रको दान न की जावे, तो पिता निन्दनीय है और ऋतुकालमें यदि पति स्त्री सङ्गम न करे, तो वह भी निन्दाके योग्य हुआ करता है तथा पिताके परलोकगामी होनेपर उसके पुत्रलोग यदि अपनी माताकी रक्षा न करें तो वे भी निन्दनीय हैं ॥ ४ ॥ स्त्रियां अत्यन्त सामान्य दुःसङ्गसे

वर्णानां पश्यन्तो धर्म्ममुत्तमम्। यतन्ते रक्षितुं भार्य्यां भर्त्तारो दुर्ब्बला अपि ॥ ६ ॥ स्वां प्रसूतिं चरित्रञ्च कुलमात्मानमेव च। स्वञ्च धर्म्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ ७ ॥ पतिर्भार्य्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥ यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्। तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः ॥ ९ ॥ न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्। एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥ अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्। शौचे धर्म्मेऽन्नपक्त्याञ्च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ ११ ॥ अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः। आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

भी यत्नपूर्व्वक रक्षणीय हैं; क्योंकि उस विषयमें थोड़ा भी उपेक्षा करनेसे वह स्त्री पिता और पति दोनों कुलके सन्तापकी कारण होती है ॥ ५ ॥ भार्य्या रक्षणधर्म्मकी श्रेष्ठताको जानकर दुर्ब्बल, अन्धे और लूला प्रभृति सब लोगोंको चाहिये कि अपनी अपनी स्त्रियोंकी रक्षा करनेमें यत्नवान होवें ॥ ६ ॥ जो लोग अपनी स्त्रीकी रक्षा करते हैं, वे अपने वंश परम्परा तथा अपने चरित्रको भी रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥ पति भार्य्याके शरीरमें प्रविष्ट होके पुत्र रूपसे जन्मता है; स्त्रीसे पुनर्व्वार जन्मनेके कारण भार्य्याका जाया नाम होता है ॥ ८ ॥ जो स्त्री जैसे पतिकी सेवा करती है, ठीक वैसेही पुत्रको उत्पन्न करती है; इस लिये सत्पुत्र पानेकी इच्छासे उत्तम भार्य्याकी सदा रक्षा करे ॥ ९ ॥ बलसे कोई स्त्रीकी रक्षा नहीं कर सकता, तब नीचे कहे हुए उपायसे स्त्रीकी रक्षा करनी योग्य है ॥ १० ॥ अर्थसंग्रह और व्ययके कार्य्यों अपनी शरीर तथा गृह आदिकी शुद्धि, अन्नपाक करने तथा घरकी सामग्रियोंपर दृष्टि रखनेके लिये स्त्रियोंको सदा नियुक्त करना योग्य है ॥ ११ ॥ जो स्त्री दुःशीलतासे स्वयं अपनी रक्षा करनेका यत्न नहीं करती, उसको स्वजन

पानं दुर्ज्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्। स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारी संदूषणानि षट्॥१३॥ नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः। सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते॥१४॥ पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैःस्नेह्याच्च स्वभावतः। रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्व्वते॥१५॥ एवं स्वभावं ज्ञात्वासां प्रजापतिनिसर्गजम्। परमं यत्नमातिष्ठेत् पुरुषो रक्षणं प्रति॥१६॥ शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्ज्जवम्। द्रोहभावं कुचर्य्याञ्च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत्॥१७॥ नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्म्मे व्यवस्थितिः। निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥१८॥ तथा

लोग घरमें बन्द रखके भी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होते; परन्तु जो सदा अपनी रक्षामें तत्पर है,—कोई उसकी रक्षा न करे, तो भी वह सुरक्षिता रहती है॥१२॥ मद्य पीना, दुर्ज्जनोंका संसर्ग, पतिका विरह इधर उधर घमना, असमयमें सोना, और दूसरेके घरमें रहना,—ये छः हों व्यभिचार दोषके कारण हैं॥१३॥ स्त्रिया सुन्दरताईकी उपेक्षा नहीं करतीं, अवस्था विशेषपर भी इनका अनुराग नहीं रहता, पुरुषको पानेसेही उससे सम्भोग किया करती हैं॥१४॥ पुरुषको देखतेही उसे भोगनेकी अभिलाषसे स्वाभाविक चित्तकी चञ्चलता और स्नेहहीनतासे स्वामीके द्वारा उत्तम रीतिसे रक्षित होने परभी स्त्रियां पतिके विरुद्ध व्यभिचार किया करती हैं॥१५॥ विधाताने स्वभावसेही स्त्रियोंको इसही प्रकार बनाया है,—इसे जानके स्त्रीकी रक्षाके लिये पुरुषको यत्नवान होना उचित है॥१६॥ महर्षि मनु कहते हैं, कि स्त्रियोंसेही शयन आसन भूषणशीलता, काम, क्रोध, परहिंसा, कुटिलता और कुत्सिताचार उत्पन्न होते हैं॥१७॥ शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार स्त्रियोंके जातकर्म्मादि संस्कार मन्त्रसे पूरे नहीं होते; स्मृति और धर्म्मशास्त्रमें इन्हें अधिकार नहीं है तथा किसी मन्त्रमें भी इनको अधि-

च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि। स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः॥ १९॥ यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता। तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम्॥ २०॥ ध्यायत्यनिष्टं यत् किञ्चित् पाणिग्राहस्य चेतसा। तस्यैव व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते॥ २१ यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि। तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥ २२॥ अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताधमयोनिजा। शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥ २३॥ एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः। उत्कर्ष योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः॥ २४॥ एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा। प्रेत्येह च सुखोदर्कान् प्रजाधर्मान् निबोधत॥ २५॥ प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।

कार नहीं है; इस लिये ये बहुतही हीन और अपदार्थ हैं॥ १८॥ श्रुति अर्थात् वेदमें भी स्त्रियोंका व्यभिचार प्रकाशित है और इनके लिये श्रुतिमें व्यभिचारका प्रायश्चित्त वर्णित है॥ १९॥ "हमारी माता जो असती भावयुक्त हुई है, उसे पिता शुद्ध करे"—इसही प्रकार अर्थवाले मन्त्र वेदमें वर्णित है॥ २०॥ पराये पुरुषसे व्यभिचारकी इच्छा करके स्त्री अपने पतिके साथ जो अप्रिय आचरण करती है, उस पापको छुड़ानेके वास्ते यह मन्त्र कहा है॥ २१॥ जैसे नदीका जल समुद्रमें मिलनेसे खारा होजाता है, वैसेही स्त्रियां सज्जन वा दुष्ट पुरुषोंके साथ विवाहिता होनेसे उन्हींके समान गुणयुक्त हो जाती हैं॥ २२॥ निकृष्ट कुलमें उत्पन्न हुई अक्षमाला और पक्षिणी शारङ्गी क्रमसे वशिष्ठ और मन्दपाल ऋषिके साथ विवाहिता होनेसे परम माननीय हुई थीं॥ २३॥ ऊपर कही हुई दोनों स्त्रियें तथा सत्यवती प्रभृति और भी कितनीही स्त्रियां निकृष्ट योनिमें उत्पन्न होके भी पतिके गुणसे श्रेष्ठताको प्राप्त हुई थीं॥ २४॥ स्त्री पुरुषोंकी नित्य वा शुभलोकयात्रा वर्णित हुई अब इसलोक तथा

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥ उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् । प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥ अपत्यं धर्म्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा । दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणा- मात्मनश्च ह ॥ २८ ॥ पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता । सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९ ॥ व्यभिचारात्तु भर्त्तुः- स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् । शृगालयोनिञ्चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥ पुत्त्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्व्वजैश्च महर्षिभिः । विश्वजन्यमिमं पुण्य- मुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥ भर्त्तुः पुत्त्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधन्तु भर्त्तरि ।

परलोकके लिये सुखदायक प्रजाधर्म्म कहता हूं, सुनिये ॥ २५ ॥ घरकी भूषण स्त्रियां सदा कल्याणकारी, पुत्र उत्पन्न करनेसे अनेक प्रकारसे कल्याणकी पात्री और माननीया हुआ करती हैं ; इसलिये घरके बीच श्री और स्त्रीमें कुछ भी विशेषता नहीं है ॥ २६ ॥ सन्तानोत्पत्ति, पुत्रको पालन करना और लोकयात्रा तथा अतिथिसत्कार आदि सांसारिककार्य्य निभानेके वास्ते भार्य्याही मुख्य साधन है ॥ २७ ॥ धर्म्मकार्य्य, सन्तान- प्राप्ति, सेवा, श्रेष्ठरति और पितरों तथा अपने स्वर्गप्राप्तिके कार्य्य केवल भार्य्याकेही आधीन हैं ॥ २८ ॥ जो स्त्री शरीर और वचनसे पतिके विषयमें व्यभिचार नहीं करती, इस लोकमें उसकी प्रशंसा होती और मरनेपर स्वामीके सहित स्वर्गलोक मिलता है ॥ २९ ॥ व्यभिचार करने- वाली स्त्रीकी इस लोकमें निन्दा होती और मरनेके बाद वह सियार- योनिमें उत्पन्न होती तथा क्षयी रोग आदिसे पीड़ित हुआ करती है ॥ ३० ॥ मनु आदि प्राचीन ऋषियोंने पुत्रोत्पत्ति विषयमें जो पुराना इति- हास कहा है, वह जगदुपकारक पवित्र उपाख्यान कहता हूं सुनो ॥ ३१ ॥ मुनि लोग कहते हैं कि पुत्र पतिकाही होता है ; परन्तु पतिके सम्बन्धमें श्रुतिद्वैध है एक श्रुतिमें कहा है "यथार्थ सन्तानोत्पन्न करनेवालेका

आहुरुत्पादकं केचिदपरे चेत्रिणं विदुः॥ ३२॥ चेत्रभूता स्मृता नारी वीजभूतः स्मृतः पुमान्। चेत्रवीजसमायोगात् सम्भवः सर्व्वदेहिनाम्॥ ३३॥ विशिष्टं कुत्रचिद्वीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्। उभयन्तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते॥ ३४॥ वीजस्य चैव योन्याश्च वीजमुत्कृष्टमुच्यते। सर्व्वभूतप्रसूतिर्हि वीजलचणलचिता॥ ३५॥ यादृशन्तूप्यते वीजं चेत्रे कालोपपादिते। तादृग्रोहति तत् तस्मिन् वीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः॥ ३६॥ इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते। न च योनिगुणान् कांश्चिद्वीजं पुष्यति पुष्टिषु॥ ३७॥ भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि क्वषीवलैः। नानारूपाणि जायन्ते वीजानीह स्वभावतः॥ ३८॥ व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः। यथावीजं प्ररोहन्ति लशुनानीचवस्तथा॥ ३९॥ अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते। उप्यते

ही पुत्रके ऊपर स्वामित्व होता है और दूसरे स्थानमें श्रुतिमें वर्णित है, कि विवाहकर्त्ता चेत्रस्वामीका ही पुत्रके ऊपर स्वामित्व है।"॥ ३२॥ स्त्री चेत्ररूपी और पुरुष बीज स्वरूप है; चेत्र और वीजके संयोगसे सारे जीव उत्पन्न हुआ करते हैं॥ ३३॥ किसी स्थानमें बीजकी प्रधानता है और कहीं चेत्र और वीज दोनोंकी समानता रहती है; न—इन दोनोंके मेलसे जो सन्तान उपजती है, वह बहुतही श्रेष्ठ गिनी जाती है॥ ३४॥ वीज और चेत्रके बीच बीजकी ही प्रधानता दीखती है; क्योंकि बीजके लचणोंसे युक्त होकरही सब प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं॥ ३५॥ यथासमय पर जोते हुए खेतमें जिस प्रकार बीज बोया जाता है, उस बीजके गुण अनुसार अंकुर उत्पन्न हुआ करता है॥ ३६॥ यह पृथिवी प्राणियोंके उत्पत्तिकी नित्यायोनि कही जाती है, परन्तु अंकुर उपजनेमें खेतके अनुरूप कोई गुणही नहीं देखा जाता,—व्रीहि, मूंग, शाली, उड़द, लसून यव और ऊख प्रभृति सब शस्य अपने अपने बीजके अनु-

यद्धि यद्बीजं ततःतद्देव प्ररोहति ॥ ४० ॥ तत् प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञान-वेदिना । आयुष्कामेण वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥ अत्र गाथा वायुगीताः कीर्त्तयन्ति पुराविदः । यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥ नश्यतीषुर्यथाविद्धः खे विद्धमनुविध्यतः । तथा नश्यति वै चिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥ पृथोरपीमां पृथिवीं भार्य्यां पूर्व्वविदो विदुः । स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥ ४४ ॥ एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह । विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥ न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्त्तुर्भार्य्या विमुच्यते । एवं धर्म्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्म्मितम् ॥ ४६ ॥ सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते ।

रूप हुआ करते हैं ॥ ३७।३९ ॥ एक बीज बोनेसे उसमेंसे दूसरे बीजका अंकुर कदापि उत्पन्न नहीं होता, जब जैसा बीज बोया जायगा, उसका अंकुर निश्चय ही उसी अनुरूप पैदा होगा; इसे स्थिर सिद्धान्त जानो ॥ ४० ॥ प्राज्ञ, विनीत, वेद आदि शास्त्रोंके जाननेवाले और दीर्घजीवी होनेकी इच्छा करनेवाले पुरुष कदापि पराये क्षेत्रमें बीज न बोयें, ॥ ४१ ॥ इस विषयमें पण्डित लोग वायुप्रणीत गाथा कहा करते हैं, कि पुरुष कभी पराये क्षेत्रमें बीज न बोवे ॥ ४२।४३ ॥ पहिले समयमें पण्डितोंने पृथि-वीको राजा पृथुकी भार्य्या माना था। इसही प्रकार जो पुरुष जिस भूमिको कर्षण करके ठीक करते हैं, वह भूमि उन्हींकी है; जैसे एक शिकारीके द्वारा विद्ध हुए हरिण दूसरेके द्वारा विद्ध होनेपर भी उसीके होते हैं ॥ ४४ ॥ मनुष्य पुत्र कलत्रके सहित पूर्ण अवस्थाको प्राप्त होता है "पतिभी स्त्रीसे पृथक् नहीं है"—ऐसा वेद जाननेवाले पण्डितलोग कहते हैं ॥ ४५ ॥ पतिके साथ पत्नीका जो सम्बन्ध है, वह कदापि दान, विक्रय वा त्यागसे विनष्ट नहीं हो सकता। यह नियम विधाताके द्वारा बना है ॥ ४६ ॥ सज्जनोंके द्वारा पैतृक सम्पत्ति विभक्त वा दान होनेसे किसी समय

सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ ४७ ॥ यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च । नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥ येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः । ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥ यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् । गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥ ५० ॥ तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः । कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥ फलन्त्वनभिसन्धाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा । प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥ क्रियाभ्युपगमात् त्वेतद्बीजार्थं यत् प्रदीयते । तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥ ओघवाताहृतं बीजं यस्य

उसमें अन्यथा होनेकी सम्भावना नहीं है ॥ ४७ ॥ गऊ, बैल, घोड़े भैंसे आदि जन्तु जैसे अपने स्वामीके अधिकारमें रहते हैं, वैसेही पराये क्षेत्रमें दूसरा पुरुष बीज बोवे, तो उसके फलभोगनेमें क्षेत्र स्वामीको ही अधिकार है ॥ ४८ ॥ जिसके क्षेत्र नहीं है, केवल बीज है, वह यदि दूसरेके क्षेत्रमें बीज बोवे, तो उससे उसको कुछ भी फल नहीं मिलता क्षेत्रस्वामी ही यह फल भोग किया करता है ॥ ४९ ॥ यदि एक बैल अपने स्वामीके अतिरिक्त दूसरोंकी गऊमें सैकड़ों बछड़े उत्पन्न करे, तो वे सब बछड़े उस गो-स्वामीके ही हुआ करते हैं ॥ ५० ॥ क्षेत्ररहित पुरुष अपना बीज पराये क्षेत्रमें बोवे, तो बीज बोनेवाला उसके फल भोगका अधिकारी नहीं होता क्षेत्रस्वामीही फलभोगका अधिकारी होता है ॥ ५१ ॥ क्षेत्रस्वामी और बीज बोनेवालेसे परस्पर अभिसन्धि न रहनेसे फललाभ स्पष्ट रीतिसे क्षेत्रस्वामीको ही हुआ करता है ; क्योंकि बीजसे क्षेत्रकाही गौरव अधिक है ॥ ५२ ॥ जब बीजवाले पुरुष और भूमि अधि-कारीके सम्मतिक्रमसे बीज रोपन किया जाता है, तब दोनो ही शस्यके फलभोगी होते हैं ॥ ५३ ॥ बीज,—वायु वा जलके सहारे खेतमें

क्षेत्रे प्ररोहति। क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम्॥५४॥ एष धर्म्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च। विहङ्गमहिषीणाञ्च विज्ञेयः प्रसवं प्रति॥५५॥ एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्त्तितम्। अतःपरं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्म्ममापदि॥५६॥ भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्य्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा। यवीयसस्तु या भार्य्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥५७॥ ज्येष्ठो यवीयसो भार्य्यां यवीयान् वाग्रजस्त्रियम्। पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि॥५८॥ देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥५९॥ विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि। एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन॥६०॥

पड़नेसे यदि शस्य उत्पन्न हो, तो उसके फलका क्षेत्रस्वामी ही अधिकारी होता है; बीजवाला उसके फलको नहीं पाता॥५४॥ ऊपर कहा हुआ नियम घरमें पाले हुए गऊ, घोड़े तथा भेड़ आदिके वास्ते निर्दिष्ट है; क्योंकि उनमेंसे उत्पन्न हुई सन्तति प्रतिपालककी ही होती है॥५५॥ क्षेत्र और बीजके परस्पर सम्बन्धमें उपरोक्त नियम कहे गये, अब जिन्हें स्वामीसे सन्तान उत्पन्न नहीं हुआ है, उनका विषय कहा जाता है॥५६॥ देवरके वास्ते जेठे भाईकी स्त्री माताके समान और छोटे भाईकी स्त्री जेठे भाईके पक्षमें पुत्रवधू तुल्य है॥५७॥ जेठे और छोटे भाई सन्तान रहते यदि एक दूसरेकी स्त्रीसे गमन करें तो पतित होंगे॥५८॥ निज स्वामीसे सन्तानोत्पत्ति न होनेपर स्त्री भली भांति नियुक्त होनेपर अपने देवर तथा अन्य पुरुषसे पुत्रलाभ करे॥५९॥ रात्रिके समय-चुपचाप वा स्वामी गुरुके द्वारा नियुक्त पुरुष शरीरमें घी लगाकर केवल एक पुत्र उत्पन्न कर सकता है; परन्तु दूसरा पुत्र किसी प्रकार भी नहीं उत्पन्न कर सकता॥६०॥ कोई कोई स्त्री-तत्वके जाननेवाले आचार्य्य कहते हैं,—एक सन्तानसे नियोजकका नियोगोद्देश्य

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः। अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्म्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥ विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि। गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥ नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्त्तयातान्तु कामतः। तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषाग-गुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥ नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्म्मं हन्युः सनातनम् ॥ ६४ ॥ नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः। मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेणे राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥ स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा। वर्णानां सङ्कर चक्र

सिद्ध नहीं हो सकता; इस लिये वह स्त्री तथा नियोजित पुरुष द्वितीय सन्तान उत्पन्न कर सकता है ॥ ६१ ॥ उद्देश्य सफल होनेसे पूर्व्वोक्त भावा तथा भ्रातृवधू पहिलेकी भांति परस्परमें स्नेह वा सम्मानसूचक व्यवहार करे ॥ ६२ ॥ नियोजित जेठा वा लहुरा भाई यदि शास्त्रका अनुगामी न होकर केवल इन्द्रिय सुखमें रत होवे, तो जेठा भाई पुत्रवधू गमन और लहुरा भाई गुरुपत्नी गमनका पापी होगा ॥ ६३ ॥ द्विजातियोंकी विधवा वा सन्तानरहित स्त्रियां स्वामीके लिये दूसरे पुरुषसे गमन करनेके लिये हो सकती, जो लोग नियुक्त करते हैं वे आर्य्यधर्म्मके उल्लङ्घन करनेवाले हैं ॥ ६४ ॥ विवाहके जो सब मन्त्र हैं, उसमें ऐसा नहीं प्रकाशित है; कि "एककी स्त्रीसे दूसरेका नियोग होता है" और विवाह-शास्त्रमें ऐसी विधि नहीं है कि "विधवाओंका पुनर्विवाह हो सके" ॥ ६५ ॥ यह पशुधर्म्म कहानेसे सुशिक्षित शास्त्र जाननेवाले द्विजातियोंके बीच निन्दित है। कहते हैं, पहिले वेणु राजाके राज्य-शासनके समय यह रीति मनुष्योंके बीच प्रचलित हुई थी ॥ ६६ ॥ उन्होंने अपने भुजबलसे सारी पृथिवीके अधीश्वर तथा राजर्षियोंमें

कामोपहतचेतसः ॥ ६७ ॥ ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम्। नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥ यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥ यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्। मिथो भजेताप्रसवात् सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७० ॥ न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः। दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥ विधिवत् प्रतिगृह्यापि त्यजेत् कन्यां विगर्हिताम्। व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥ यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत्। तस्य तद्वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥ विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान् नरः।

अग्रगण्य होके पापमें आसक्त और कामादिके वशमें होके ही अपने शासनके समयमें यह विधि प्रचलित करके वर्णसङ्करोंको उत्पन्न किया। तबसे मरे हुए भाईकी स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न करनेके लिये जो पुरुष मोहके वशमें होके नियोग करता है, साधु लोग उसकी बहुत निन्दा करते हैं ॥ ६७।६८ ॥ विवाहके पहिले किसी वाग्दत्ता कन्याके वरकी मृत्यु होनेपर उसके देवरके साथ उस कन्याके समागमकी विधि है ॥ ६९ ॥ विवाह-विधिके नियम अनुसार उसका पाणिग्रहण करके जबतक उस कन्याको उत्तम सन्तान उत्पन्न हो, तबतक उसका देवर प्रतिऋतु समयमें वैधव्यचिन्हसूचक सफेद वस्त्र पहरनेवाली उस स्त्रीके पास जावे ॥ ७० ॥ एकको वाग्दान करके ज्ञानी पुरुष अपनी कन्या दूसरेको समर्पण न करे,—अन्यको समर्पण करनेसे उसे सारे मनुष्योंके ठगनेका पाप लगेगा ॥ ७१ ॥ यदि स्त्रीमें अलक्षण दोष हों, रोगिणी, क्षतयोनि और ठगहारीपनेसे प्रदत्त होनेसे वर विधिपूर्व्वक ताका प्रतिग्रह करके भी उसे त्यागकर सकता है ॥ ७२ ॥ कन्याका दोष विना कहे प्रदान करनेसे वर उस कन्याको न ग्रहण करके उस मन्द बुद्धि कन्यादाताका दान व्यर्थ करे ॥ ७३ ॥

अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥ विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता। प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥ प्रोषितो धर्म्मकार्य्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः। विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तुवत्सरान् ॥ ७६ ॥ संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः। ऊर्द्ध्वं संवत्सरात् त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥ अतिक्रामेत् प्रमत्तं या मत्तं रोगार्त्तमेव वा। सा त्रीन् मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥ उन्मत्तं पतितं क्लीवमवीजं पापरोगिणम्। न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्त्तनम् ॥ ७९ ॥ मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रति-

---

प्रयोजनके अनुसार बहुत समयतक विदेशमें रहना हो, तो पत्नीको भरणपोषणके योग्य वृत्ति देकर स्वामीको विदेश जाना उचित है; क्योंकि जीविकाका कुछ उपाय न रहनेपर उत्तम चरित तथा धर्म्ममें निष्ठावाली स्त्रियां भी कुमार्गगामिनी हो सकती हैं ॥ ७४ ॥ भरणपोषणके योग्य वृत्ति देकर जबतक पति विदेशमें रहे, तबतक स्त्री दृढ़ रीतिसे धर्म्मके सहारे समय बितावे ॥ ७५ ॥ पति धर्म्मकार्य्यके लिये विदेशमें जावे, तो आठ वर्ष विद्या पढ़ने वा यशप्राप्तिके लिये छः, और धन वा किसी प्रकार इन्द्रिय उपभोगके वास्ते पतिके विदेश जानेपर तीन वर्षतक स्त्री उसकी प्रतीक्षा करे; तिसके अनन्तर भरणपोषणके लिये उसके यहां जावे ॥ ७६ ॥ निज द्वेषी स्त्रीकी, स्वामी एक वर्षतक प्रतीक्षा करे, इतने दिनमें उसका द्वेषभाव न छूटे, तो उसे भूषण आदि सम्पत्तिसे पृथक् करके उसका सङ्ग छोड़ देवे ॥ ७७ ॥ जो स्त्री जुआ खेलने मत्त वा व्याधिग्रस्त होनेसे स्वामीकी अवज्ञा करे, उसे वस्त्र भूषण आदि न देके तीन महीनेतक त्याग करे ॥ ७८ ॥ उन्मत्त और ब्रह्महत्या आदि दोषसे पतित पतिकी जो स्त्री सेवा नहीं करती, वह परित्यागके योग्य तथा भूषण आदि नहीं पा सकती ॥ ७९ ॥ मद्य पीनेवाली

कूला च या भवेत्। व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्रार्थघ्नी च सर्व्वदा ॥ ८० ॥ वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रिय-वादिनी ॥ ८१ ॥ या रोगिणी स्यात् तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२ ॥ अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात्। सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुल-सन्निधौ ॥ ८३ ॥ प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि। प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥ ८४ ॥ यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः। तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥ भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्म्मकार्य्यञ्च नैत्यकम्। स्वा चैव कुर्य्यात् सर्व्वेषां नास्व

दुश्चरित्रा, पतिसे द्वेष करनेवाली, असाध्य व्याधिग्रस्त, बुराई करनेवाली बुरे लक्षणोंसे युक्त धन नष्ट करनेवाली स्त्रीके रहते भी दूसरा व्याह करे ॥ ८० ॥ स्त्रीके वन्ध्या होनेपर प्रथम ऋतुसे लेकर आठवें वर्ष और केवल कन्या प्रसव करनेवाली स्त्रीको ग्यारह वर्षतक उपेक्षा करके अधिवेदन (दूसरा विवाह) करे ; परन्तु अप्रियवचन बोलनेवाली होनेपर तुरन्त ही दूसरा विवाह करे ॥ ८१ ॥ रोगिणी, पतिमें रत और पति प्राणा सुशीला स्त्रीकी अनुमति लेकर पति दूसरा विवाह करे उसकी अवमानना न करे ॥ ८२ ॥ स्त्री क्रोधके वशमें होकर गृह त्यागनेके लिये उद्यत हो, तो उसे अवरुद्ध कर रखे वा स्वजनोंसे मिलने न देवे ॥ ८३ ॥ परन्तु जो क्षत्रिय आदिकी स्त्रियां पतिके द्वारा रोकी जानेपर भी उत्सव आदिके समय मद्य पीने वा नाचनेकी जगह तथा मेलाके बीच जावे, राजा उसे छः रत्ती सुवर्ण दंड देवे ॥ ८४ ॥ द्विज लोगोंके स्वजातीय वा विजातीय स्त्री ग्रहण करनेपर उनकी जेष्ठताके अनुसार निवासस्थान वा सम्मान प्राप्त होगा ॥ ८५ ॥ स्वामीके शरीरकी सेवा टहल, नित्यकी गृहकार्य्य धर्म्म सम्बन्धी सब कार्म्म केवल स्वजातीय स्त्री ही करेगी परन्तु

जातिः कथञ्चन ॥ ८६ ॥ यस्तु तत् कारयेन्मोहात् सजात्या स्थितयान्यया । यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्व्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥ उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च । अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद् यथाविधि ॥ ८८ ॥ काममा मरणात् तिष्ठेद्गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि । न चैवैनां प्रयच्छेत् तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥ त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्य्यृतुमती सती । ऊर्द्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥ अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम् । नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥ ९१ ॥ अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा । मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥ ९२ ॥ पित्रे न दद्याच्छुल्कन्तु कन्यामृतुमतीं हरन् । स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥ त्रिंशद्वर्षोद्वहेत् कन्यां हृद्यां

जो मूढ़ पुरुष स्वजातीय स्त्रीके रहते अन्य जातिकी स्त्रीसे इन कार्य्योंको कराते हैं, वे ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुए चण्डाल तुल्य हैं ॥ ८६ ॥ ८७ सब अंग सुन्दर और कुलशीलमें श्रेष्ठ रूपवान वर पानेसे कन्या विवाह योग्य न होनेपर भी उसे विधिपूर्व्वक दान करे ॥ ८८ ॥ ऋतुमती होनेपर भी चाहे कन्या जीवन पर्य्यन्त गृहमें भले ही रहे, परन्तु निर्गुण पात्रको कदापि दान न करे ॥ ८९ ॥ ऋतुमती होनेपर तीन वर्षतक कुमारी उपेक्षा करे तिसके अनन्तर अपने उपयुक्त पति निश्चय कर लेवे ॥ ९० ॥ पिता आदिके दान न करनेपर कन्या यथा समय स्वयं किसी पुरुषको पतिरूपसे वरण करनेपर उसे कुछ पाप न होगा ॥ ९१ ॥ इस प्रकार स्वयं वर प्राप्त करनेवाली कन्या पिता, माता वा भाईके दिये हुए भूषणादि लेवे तो वह चोरी रूपसे गिना जायगा ॥ ९२ ॥ ऋतुमती कुमारीका पाणिग्रहण करनेवालेको कन्याके पिताको शुल्क न देना होगा क्योंकि ऋतु रोध करनेसे आत्मरोधी होनेके कारण पिताका उस कन्याके ऊपरसे आधिपत्य जाता रहता है ॥ ९३ ॥ तीस वर्षका युवा इच्छानुसार बारह

द्वादशवार्षिकीम्। त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः॥९४॥ देवदत्तां पतिर्भार्य्यां विन्दते नेच्छयात्मनः। तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन्॥९५॥ प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थञ्च मानवाः। तस्मात् साधारणो धर्म्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः॥९६॥ कन्यायां दत्त-शुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः। देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते॥९७॥

वर्षकी कन्याको और चौबीस वर्षका पुरुष आठ वर्षकी कन्याको पत्नीरूपसे ग्रहण करे*; परन्तु यदि धर्म्मनाशका सन्देह हो तो शीघ्र विवाह कर सकता है॥९४॥ पति अपनी इच्छासे भार्य्या नहीं पाने सकता देव निर्दिष्ट भार्य्या ही प्राप्त हुआ करती हैं; इसलिये देवताओंकी प्रसन्नताकी अभिलाषसे पत्नीका भरणपोषण करे॥९५॥ गर्भधारणके वास्ते स्त्री और गर्भाधानके लिये पुरुष उत्पन्न हुआ है, स्वामी गर्भोत्पादनकी भांति सब धर्म्म कार्य्योंको पूरा करे, ऐसा वेदमें वर्णित है‡॥९६॥ विवाहके लिये यदि कोई किसी कन्याको शुल्क देकर विवाहके पहले मर जाय, तो कन्या सहमतमत होनेसे शुल्कदेनेवालेके

---

* कुल्लूभट्ट कहते हैं,—"कन्याका यह अवस्था निर्द्धारण इस वचनका तात्पर्य्य यहीं नहीं है; परन्तु वरको उमरसे प्राय तीन हिस्सों में कन्याकी उमर एक हिस्सा होनेका नियम है,—यही जाना गया है"। हम कहते हैं, "दश वार्षिकी" शब्दसे द्वादशवर्ष प्रहत्ता। द्वादशशब्दसे० गर्भद्वादश। ऐसा होनेसे दसवर्ष दो महीना उमरवाली ही द्वादश वार्षिकी शब्दका अर्थ है। यही कन्या विवाह हद समय जानो। ऐसा होनेपर सब मुनियोंके वचनका सामञ्जस्य रक्षित होता है।

‡ कुल्लूभट्टने इस श्लोकके शेषचरणकी व्याख्या इस तरह की है,—गृहीत वेद उपकुर्व्वाणक ब्रह्मचारी शीघ्रही गृहस्थ धर्म्म अवलम्बन करे

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत् । शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥ एतत् तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः । यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥ नानुशुश्रुम जात्वेतत् पूर्वेष्वपि हि जन्मसु । शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥ अन्योऽन्यस्याव्यभी-चारो भवेदामरणान्तिकः । एष धर्म्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥ तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ । यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥ एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्म्मो वो रतिसंहितः । आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥ ऊर्द्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् । भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

दूसरे भाईके साथ उसका विवाह कर देवे ॥ ९७ ॥ परन्तु कन्याके विवाह उपलक्ष्यमें शूद्रका शुल्क ग्रहण करना उचित नहीं है, ऐसा शुल्क लेना अप्रकाश्य भावसे कन्याका बेंचना सिद्ध होता है ॥ ९८ ॥ प्राचीन वा आधुनिक लोगोंके बीच किसीने एक पात्रको वाग्दान करके कदापि अपनी कन्या दूसरे पात्रको प्रदान नहीं किया ॥ ९९ ॥ पहिले कल्पमें भी शुल्क लेकर गुप्त भावसे कन्या बेंचनेकी वार्त्ता नहीं है ॥ १०० ॥ संक्षेप रीतिसे जीवन पर्य्यन्त परस्पर अव्यभिचारी अवस्थामें निवास करना ही स्त्री पुरुषका धर्म्म है ॥ १०१ ॥ विवाहित स्त्री और पुरुष परस्पर किसी प्रकार व्यभिचार न करें—इस विषयमें सदा सावधान रहना आवश्यक है ॥ १०२ ॥ स्त्री-पुरुषोंके परस्पर रतिसंहित धर्म्म तथा सन्तान प्राप्तिकी बात कही गई ; अब दायभागकी विधि कहता हूं सुनो ॥ १०३ ॥ पिताके परलोकगामी होनेपर सब भाई एकत्रित होकर पितामाताके धनको समान हिस्सेमें बांटके ले सकते हैं ; परन्तु पिता यदि अपनी इच्छासे स्वयं न बांट देवे, तो पिता माताके जीवित रहते पुत्रोंको उस धनमें कुछ भी अधिकार नहीं है ॥ १०४ ॥ जेठा भाई सारी पैतृक

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं
तथा॥१०५॥ ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः। पितृणाम-
नृणश्चैव स तस्मात् सर्व्वमर्हति॥१०६॥ यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्य-
मश्नुते। स एव धर्म्मजः पुत्रः कामजानितरान् विदुः॥१०७॥ पितेव पालयेत्
पुत्रान् जेष्ठोऽभ्रातॄन् यवीयसः। पुत्रवच्चापि वर्त्तेरन् जेष्ठे भ्रातरि धर्म्मतः॥
१०८॥ जेष्ठः कुलं वर्द्धयति विनाशयति वा पुनः। जेष्ठः पूज्यतमो लोके
ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः॥१०९॥ यो जेष्ठो जेष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात् स संपूज्यस्तु बन्धुवत्॥११०॥ एवं सह वसेयुर्वा
पृथग्वा धर्म्मकाम्यया। पृथग्विवर्द्धते धर्म्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया॥१११॥

सम्पत्तिका अधिकारी हो सकता है,—यदि अन्यान्य भाई भोजन
वस्त्रादि लेनेके लिये जेठे भाईके ऊपर पिताकी भाँति निर्भर करके उसके
अधीनमें वास करें॥१०५॥ जेठे पुत्रके जन्मते ही मनुष्य पुत्रवान होता
है और पितरोंके समीप अऋणी होता है, इस लिये जेठा पुत्र सर्व्वस्व
पानेके योग्य है॥१०६॥ जिस जेठे पुत्रके उत्पन्न होते ही पिता पितरोंके
ऋणसे छूटता और अमरत्व पाता है, वह जेठा पुत्र धर्म्मसे उत्पन्न पुत्र
है; अन्यान्य सन्तान केवल कामज है॥१०७॥ जेठा भाई लहुरे
भाईयोंको पुत्रकी भाँति पालन करे और लहुरे भाई धर्म्मपूर्व्वक जेठे-
भाईको पिताकी भाँति भक्ति करें॥१०८॥ जेठे भाईके अनुयायिक
कुलकी उन्नति होती है और अवनति भी हो सकती है। लोक पूजा
और सज्जन समाजमें अनिन्दनीय जेठेके योग्य कर्त्तव्य कार्य्योंको करने
वाला जेठा भाई पिता माताके समान पूज्य है; परन्तु यदि अन्यथाचरण
करे, तो बधु सदृश पूजा करता है॥१०९॥११०॥ भाई लोग ऊपर कही
रीतिसे अविभक्त भावसे एकत्रमें वास करें अथवा धर्म्मके अभिलाषी
होकर पृथक् पृथक् वास करें पृथक् रहनेसे धर्म्मकी वृद्धि होती है, इस

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्व्वद्रव्याच्च यद्वरम् । ततोऽर्द्धं मध्यमस्य स्यात् तुरीयन्तु यवीयसः ॥ ११२ ॥ ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् । येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥ सर्व्वषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः । यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥ उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्म्मसु । यतकिञ्चिदेव देयन्तु ज्यायसे मानवर्द्धनम् ॥ ११५ ॥ एवं समुद्धतोद्धारे समानंशान् प्रकल्पयेत् । उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥ एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्त्रोऽध्यर्द्धं ततोऽनुजः । अंशमंशं यवीयांस इति धर्म्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥ स्वेभ्योऽंशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् । स्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागं

लिये पृथक रखना धर्म्मसङ्गत है ॥ १११ ॥ पिताका धन बांटनेके समय सब वस्तुओंके बीच बीसवां हिस्सा और सबसे श्रेष्ठ चीजें जेठे पुत्रको मिलेंगी; मझलेको चालीसवा हिस्सा और लहुरेको अस्सी हिस्सेमेंसे एक हिस्सा अधिक मिलेगा—शेष बचा हुआ धन सब पुत्रोंको समान हिस्सेमें मिलेगा ॥ ११२ । जेठ और लहुरे पुत्रका हिस्सा ऊपर लिखे अनुसार है; इन दोनोंके बीच अन्यान्य सब भाई चालीसवे हिस्सेके अधिकारी हैं ॥ ११३ ॥ जेठा गुणवान और अन्य सब भाई निर्गुण हों, तो सब वस्तुओंके बीच श्रेष्ठ चीजें और दस गौओंके बीच एक श्रेष्ठ गऊ उसे मिलेगी ॥ ११४ ॥ सब भाइयोंके समान गुणवान् होनेपर ऊपर कही हुई दस वस्तुओंके बीच एक वस्तु जेठको अधिक नहीं दी जा सकती; हां जेठेके सम्मानके लिये कुछ अधिक देना योग्य है ॥ ११५ ॥ पैतृक धन ऊपर कही हुई रीतिसे बंट जानेपर शेष रहे धनको सब भाई समान हिस्सेमें बांट लेवें; उसमें अन्यथा होनेपर पैतृकधन नीचे कही रीतिसे बांटा जावेगा ॥ ११६ ॥ पैतृकधन बांटनेके समय जेठे पुत्रको दूना हिस्सा और अन्यान्य पुत्रोंको एक एक हिस्सा मिलता है ॥ ११७ ॥

पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥ अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् । अजाविकन्तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥ यवीयान् ज्येष्ठभार्य्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि । समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्म्मो व्यवस्थितः ॥ १२० ॥ उपसर्ज्जनं प्रधानस्य धर्म्मतो नोपपद्यते । पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्म्मेण तं भजेत् ॥ १२१ ॥ पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायाञ्च पूर्व्वजः ॥ कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत् संशयो भवेत् ॥ १२२ ॥ एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्व्वजः । ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥ ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः । ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति

बिना विवाही भगिनियोंके विवाहके लिये हर एक भाईको अपने अपने हिस्सेमेंसे चौथा हिस्सा अवश्य देना होगा ; न देनेवाला भाई पतित होगा ॥ ११८ ॥ भेड़ बकरी और घोड़े आदि पशु समाय हिस्सेमें बंटनेके अयोग्य होनेपर अतिरिक्त पशु जेठा भाई पावेगा ॥ ११९ ॥ लहुरा भाई जेठे भाईकी स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करे, तो वह पुत्र पितामहका धन बंटनेके समय अपने चाचा लोगोंके समान अंशभागी होगा ॥ १२० ॥ लहुरेके द्वारा जेठे भाईकी स्त्रीमें उत्पन्न होनेपर भी वह जेठेकी भांति अंशभागी नहीं हो सकता ; निज क्षेत्रमें सन्तान उत्पन्न करनेके वास्ते क्षेत्री ही मुख्य है, इस लिये पहिले निर्णय किया हुआ दायभाग ही न्याय्य है ॥ १२१ ॥ पहिली विवाहिता स्त्रीमें यदि लहुरा पुत्र पैदा हो और पीछेकी विवाहिता स्त्रीमें यदि जेठा पुत्र उत्पन्न हो, तो सन्देह हो सकता ॥ १२२ ॥ पहिली स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न सन्तान कनिष्ठ होनेपर भी उसे एक वृषभ अधिक मिलेगा और उसके अनन्तर अन्यके गर्भसे उत्पन्न पुत्र जेठे होनेपर भी अपनी माताके लहुरी होनेसे एक एक साधारण बैल अधिक पावेंगे ॥ १२३ ॥ परन्तु पहिली विवाहिता स्त्रीमें जेठा पुत्र उत्पन्न होनेसे उसे पन्द्रह गऊ और एक वृषभ मिलेगा

धार्य्या ॥ १२४ ॥ सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः । न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ १२५ ॥ जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् । यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥ अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् । यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥ अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः । विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥ ददौ स दश धर्म्माय कश्यपाय त्रयोदश । सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥ यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा । तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥ मातुस्तु यौतुकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः । दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥ दौहित्रो ह्यखिलं

अन्य पुत्रोंको उनकी माताकी श्रेष्ठतानुसार गौवें बांटी जावेंगी ॥ १२४ ॥ सवर्णा स्त्रीमें उत्पन्न पुत्रोंके माताकी जेष्ठता नहीं मानी जाती वहां पुत्रकी जेष्ठतानुसार हिस्सा बांटा जाता है ॥ १२५ ॥ ज्योतिष्टोम यज्ञमें सुब्रह्मण्याख्य मन्त्रसे इन्द्रका आवाहन पुत्रको ही करना योग्य है । यमज दो सन्तानोंके बीच प्रथम भूमिष्ठ सन्तान ही जेठा है ॥ १२६ ॥ "इस कन्यासे जो पुत्र जन्मेगा, वह हमारा श्राद्धाधिकारी होगा" अपुत्रक पुरुष ऐसी व्यवस्था करके जो कन्या प्रदान करता है, उस कन्याको पुत्रिका कहते हैं । स्वयं दक्ष प्रजापतिने अपने वंशकी वृद्धिके लिये पहिले समयमें ऐसाही किया था ॥ १२७।१२८ ॥ दक्ष प्रजापतिने प्रसन्नचित्तसे धर्म्मको दस, कश्यपको तेरह और चन्द्रमाको सत्ताइस कन्यादान की थी ॥ १२९ ॥ पुत्र आत्म सदृश है और कन्या भी वैसी ही, इस वास्ते पुत्रिका कन्याके रहते दूसरे लोग धनभागी नहीं होते ॥ १३० ॥ माताके यौतुकमें प्राप्त धन कुमारीको मिलना चाहिये और अपुत्रकका सारा धन दौहित्रको मिलना योग्य है ॥ १३१ ॥ अपुत्रक मातामहका

हिक्थमपुत्त्रस्य पितुर्हरेत्। स एव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥ पौत्त्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्म्मतः। तयोर्हि माता-पितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥ पुत्त्रिकायां कृतायान्तु यदि पुत्त्रोऽनुजायते। समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ १३४ ॥ अपुत्त्रायां मृतायान्तु पुत्त्रिकायां कथञ्चन। धनं तत्पुत्त्रिकाभर्त्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥ अकृता वा कृता वापि यं विन्देत् सदृशात् सुतम्। पौत्त्री मातामहस्तेन दद्यात् पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥ पुत्त्रेण लोकान् जयति पौत्त्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्त्रस्य पौत्त्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥ पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात् पुत्त्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ १३८ ॥ पौत्त्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते। दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्त्रवत् ॥ १३९ ॥ मातुः प्रथमतः पिण्डं

धन पुत्रिका पुत्र लेगा और दौहित्र मातामह तथा पिता दोनोको पिण्डदान करेगा ॥ १३२ ॥ लोक समाजमें पौत्र और दौहित्रमें कुछ भी इतर विशेष नहीं है; क्योंकि एकहीसे पुत्र कन्या दोनो उत्पन्न हुए हैं॥ १३३ ॥ पुत्रिका ग्रहण करनेपर यदि किसी पुरुषके पुत्र जन्मे, तो पुत्रिका और पुत्र दोनो समान हिस्सेके भागी होंगे ॥ १३४ ॥ पुत्रिका अपुत्रिक अवस्थामें परलोकगामी हो, तो उसकी प्राप्य सम्पत्ति उसका पति पावेगा ॥ १३५ ॥ कृतपुत्रिका वा अकृत पुत्रिकाके गर्भसे समान जातीय पतिसे उत्पन्न हुआ पुत्र मातामहका पौत्रविशेष होगा और वह दौहित्र पिण्ड देकर मातामहका धन लेगा ॥ १३६ मनुष्य पुत्रके सहारे सब लोगोंको पाता है, पौत्रसे अमरत्वप्राप्ति और प्रपौत्रसे सूर्य्य लोकप्राप्त हुआ करता है ॥ १३७ ॥ पुत्र पिताको पुन्नाम नरकसे परित्राण करता है, इसीसे ब्रह्माने स्वयं "पुत्र"—ऐसा नाम रखा है ॥ १३८ ॥ लोकके बीच पौत्र और दौहित्रमें कुछ भी इतर विशेष नहीं दीखता, क्योंकि दौहित्र परलोकमें पौत्रकी

निर्व्वपेत् पुत्त्रिकासुत: । द्वितीयन्तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितु:पितु: ॥१४०॥ उपपन्नो गुणै: सर्व्व: पुत्त्रो यस्य तु दत्त्रिम: । स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रत: ॥ १४१ ॥ गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिम: क्वचित् । गोत्ररिक्थानुग: पिण्डो व्यपैति ददत: स्वधा ॥ १४२ ॥ अनियुक्तासुतश्चैव पुत्त्रिण्याप्तश्च देवरात् । उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ ॥ १४३ ॥ नियुक्तायामपि पुमान् नार्य्यां जातोऽविधानत: । नैवार्ह: पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि स: ॥ १४४ ॥ हरेत् तत्र नियुक्तायां जात: पुत्त्रो यथौरस: । क्षैत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्म्मत: प्रसवश्च स: ॥ १४५ ॥ धनं यो बिभृयाद्भ्रातु-

---

भांति मातामहको परित्राण करता है ॥ १३९ ॥ पुत्रिका पुत्र पहले माताको पिण्ड देवे, उसके बाद नाना और फिर परनानाको देवे ॥ १४० ॥ दत्तक पुत्र लेनेके बाद यदि औरस पुत्र जन्मे और वह पुत्र यदि सब गुणोंसे युक्त हो, तो वह औरस पुत्रका छठा हिस्सा धनभागी हुआ करता है ॥ १४१ ॥ दत्तक पुत्र जन्मदाताका गोत्र और धन नहीं पा सकता जो जिसे पिण्ड देनेमें समर्थ है, वही उसका धनभागी हुआ करता है । दत्तकपुत्र जन्मदाताके श्राद्धादिमें अधिकारी नहीं हो सकता ॥ १४२ ॥ गुरुजनोंकी बिना अनुमतिके यदि कोई स्त्री अन्य पुरुषके सहारे सन्तान उत्पन्न करे, वा सन्तान रहते देवरसे सन्तान पैदा करावे, तो ये दोनो तरहके सन्तान जारज और कामज होनेसे पितृधनके अधिकारी नहीं हो सकते ॥ १४३ ॥ गुरुजनोंकी आज्ञा पाके भी यदि कोई स्त्री अवधिसे सन्तान पैदा करे तो वह पुत्र पतितके द्वारा पैदा होनेसे पितृधनका अधिकारी न होगा ॥ १४४ ॥ गुरुजनकी आज्ञासे अविधिपूर्व्वक पैदा हुआ पुत्र औरस पुत्रकी भांति पैतृक धनका अधिकारी होगा। क्योंकि उस बीजमें क्षेत्रस्वामीका ही अधिकार है और सन्तान भी धर्म्मपूर्व्वक पैदा हुई है ॥ १४५ ॥ कोई पुरुष सम्पत्ति रखके निःसन्तान

र्मृतस्य स्त्रियमेव च। सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात् तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥
या नियुक्तान्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात्। तं कामजमरिक्थीयं वृथो-
त्पन्न प्रचक्षते ॥ १४७ ॥ एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु। बह्वीषु
चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥ ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु
यदि स्त्रियः। तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ १४९ ॥
कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च। विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च
प्रधानतः ॥ १५० ॥ त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः। वैश्याजः
सार्द्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५१ ॥ सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा
परिकल्प्य च। धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्म्मवित् ॥ १५२ ॥
चतुरोंशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः। वैश्यापुत्रो हरेद्द्व्यंशमंशं

मर जावे, तो उसका लहुरा भाई जेठे भाईकी स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करके
जेठे भाईकी सब सम्पत्ति उसी देवे ॥ १४६ ॥ गुरु आदिकी आज्ञासे
यदि कोई स्त्री देवरसे वा दूसरे किसी पुरुषसे कामके वशमें होकर
पुत्र उत्पन्न करावे, तो वह पुत्र कामज होनेसे पैतृक धनका अधिकारी
नहीं हो सकता ॥ १४७ ॥ सवर्णा स्त्रीमें उत्पन्न हुए पुत्रोंका विभाग
कहा गया अब अनेक वर्णोंकी स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्रोंके विभागका विषय
वर्णन करते हैं ॥ १४८ ॥ ब्राह्मणके द्वारा क्रमसे विवाही हुई चारों
वर्णों की स्त्रियोंमें पैदा हुए सन्तानोंका विभाग विषय नीचे वर्णित है ॥
१४९ ॥ ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र एक हल, एक बैल, एक
सवारी, आभूषण, एक घर और अन्य सम्पत्तियोंमें प्रधान हिस्सा
पावेगा ॥ १५० ॥ ब्राह्मणीका पुत्र तीन हिस्सा, वैश्यका पुत्र डेढ़ और
शूद्रा स्त्रीका पुत्र एक हिस्सा पावेगा ॥ १५१ ॥ अथवा विभागधर्म्म जानने-
वाला एक पुरुष सारी सम्पत्ति दस हिस्सोंमें करके नीचे लिखी रीतिसे
हिस्सा बाँटेगा ॥ १५२ ॥ ब्राह्मणी पुत्रको चार हिस्सा, क्षत्रियासुत तीन

शूद्रासुतो हरेत ॥ १५३ ॥ यद्यपि स्यात् तु सत्पुत्रो ह्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्। नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥ ब्राह्मणक्षत्रिय विशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्। यदेवास्य पिता दद्यात तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥ समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम्। उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ १५६ ॥ शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते। तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत ॥ १५७ ॥ पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायम्भवो मनुः। तेषां षड् बन्धुदायादाः षड् दायाद-बान्धवाः ॥ १५८ ॥ औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नो-

---

वैश्यापुत्र दो हिस्सा और शूद्राके पुत्र एक हिस्सा पावेगा ॥ १५३ ॥ ब्राह्मणी क्षत्राणी वा वैश्या—इनमेंसे किसीके औरस हो वा न हो, पर शूद्रा स्त्रीसे पैदा हुए पुत्रको दसवें हिस्सेसे अधिक न मिलेगा ॥ १५४ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्यकी अनूढ़ा शूद्रा स्त्रीसे पैदा हुआ पुत्र धनभागी नहीं होता। पिता अपनी इच्छासे जो कुछ उसे देवे, वह उसे ही पावेगा ॥ १५५ ॥ द्विजातियोंकी समान वर्णवाली स्त्रीमें पैदा हुए पुत्रोंके बीच जेठेको उद्धारांश देवे फिर बाकी रही सम्पत्तिमेंसे सब पुत्र जेठेके बराबर हिस्सा लेवें ॥ १५६ ॥ शूद्रको स्वजातीयके सिवाय दूसरी स्त्रियें नहीं हो सकती—इस लिये उनसें एक सौ पुत्र उत्पन्न होनेपर भी सबको समान हिस्सा मिलेगा ॥ १५७ ॥ स्वायम्भुव मनुने * जो बारह प्रकारके पुत्रोंकी बात कही है, उनमें पहिलेके छः स्वगोत्रके दावीदार और बान्धव हैं, परन्तु अन्य छः केवल बान्धव हैं,—गोत्रके दावीदार नहीं हैं ॥ १५८ ॥ औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ़ रीतिसे उत्पन्न और अपविद्ध,—

---

* कलियुगके पहिले समयसे औरस और दत्तक—ये दो तरहके पुत्र ही व्यवस्थित हुए हैं, अन्य पुत्रोंका पुत्रत्व नहीं है, उसे करना भी न चाहिये।

ऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥१५९॥ कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा। स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः॥१६०॥ यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः सन्तरन् जलम्। तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः सन्तरंस्तमः॥१६१॥ यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ। यस्य यत् पैतृकं रिक्थं स तद्गृह्णीत नेतरः॥१६२॥ एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः। शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम्॥१६३॥ षष्ठन्तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात् पैतृकाद्धनात्। औरसो विभजन् दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा॥१६४॥ औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ। दशापरे तु

ये छः तरहके पुत्र गोत्रके दावीदार और बान्धव गिने जाते हैं॥१५९॥ कानीन, सहोढ़ क्रीत, पौनर्भव स्वयंदत्त और और शौद्र,—ये छः प्रकारके पुत्र गोत्रके दावीदार नहीं हो सकते। केवल बान्धव ही कहाते हैं। पितामह आदिके उत्तराधिकारियोंको गोत्रका दायाँद (दावीदार) कहते हैं॥१६०॥ टूटी नौकासे पार जानेवाले मनुष्योंको जैसा फल मिलता है, कुपुत्रोंसे उसही प्रकार परलोकवाली लोगोंको कष्टभोग करना होता है॥१६१॥ एक पुरुषके औरस और क्षेत्रज दो तरहकी सन्तान रहनेपर इन सन्तानोंको अपने अपने जन्मदाताओंकी सम्पत्ति प्राप्त होगी। १६२॥ औरस पुत्रही केवल पितृधनका अधिकारी है, तब निठुराई प्रकाशित न हो इस लिये क्षेत्रज इत्यादि पुत्रोंको भी भोजन वस्त्रादि देके प्रतिपालन करे॥१६३॥ पितृधन बांटनेके समय औरस पुत्र उस धनमेंसे क्षेत्रजको अपने हिस्सेका छठा भाग अथवा पांचवां हिस्सा देवे; गुणागुणके अनुसार इस विकल्पकी व्यवस्था समझनी होगी। क्षेत्रजके जन्मदाताके भी यदि औरस पत्र रहे तब भी ऐसा ही नियम है॥१६४॥ औरस तथा क्षेत्रज ऊपर कही रीतिसे पिताके धनके भागी हैं। परन्तु अन्य दत्तक आदि दस पुत्र गोत्र तथा ऊपरवालोंके न रहनेपर

क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायान्तु स्वयं मुत्पादयेद्धि यम् । तमौरसं विजानीयात् पुत्त्रं प्राथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥ यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीवस्य व्याधितस्य वा । स्वधर्म्मेण नियुक्तायां स पुत्त्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७ ॥ माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्त्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥ १६८ ॥ सदृशन्तु प्रकुर्य्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् । पुत्त्रं पुत्त्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥ उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः । स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥ मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा । यं पुत्त्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ १७१ ॥ पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्त्रं जनयेद्रहः । तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः

धनभागी होंगे ॥ १६५ ॥ विवाह संस्कारसे युक्त सवर्णा स्त्रीमें उत्पन्न सन्तानको औरस पुत्र कहते हैं । औरस पुत्र ही मुख्य है ॥ १६६ ॥ अपुत्रक मृतपुरुष, क्लीव अथवा व्याधिग्रस्त पुरुषकी स्त्रीमें धर्म्मपूर्व्वक नियुक्त होकर जो देवर आदि सपिण्डोंके द्वारा सन्तान उत्पन्न होती है, उसे क्षेत्रज सन्तान कहते हैं ॥ १६७ ॥ पितामाता दुर्भिक्ष आदि आपत्कालमें अथवा प्रतिग्रहीके पुत्र अभाव प्रभृति आपत्के समयमें जिस समान जातीय पुत्रको प्रीतिपूर्व्वक जल ग्रहण करके प्रतिग्रहीताको दान करते हैं, इस पुत्रको कृत्रिम वा दत्तक पुत्र कहते हैं ॥ १६८ ॥ गुण दोषको विचारनेमें समर्थ, गुणयुक्त तथा स्वजातीय बालकको पुत्रत्वमें ग्रहण करनेसे उसे कृत्रिम पुत्र कहते हैं ॥ १६९ ॥ अपनी स्त्रीमें बिन जाने स्वजातीय पुरुषके द्वारा उत्पन्न पुत्रको गूढ़ोत्पन्न कहते हैं ॥ १७० ॥ पिता माताने जिसे छोड़ दिया हो अथवा दोनोंमेंसे एकने ही त्याग किया हो, वैसे पुत्रको जो पुरुष ग्रहण करता है, प्रतिग्रहीताका वह अपविद्ध नाम पुत्र कहाता है ॥ १७१ ॥ पिताके घरमें रहके कन्या गुप्तभावसे सवर्ण

कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥ या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती। वोढ़ुः स गर्भो भवति सहोढ़ इति चोच्यते ॥ १७३ ॥ क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् । स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥१७४ ॥ या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया। उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥ सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा। पौनर्भवेण भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥ मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् । आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥ १७७ ॥ यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत् सुतम् । स पारयन्नेव शवस्तस्मात्

पुरुषके द्वारा जिस पुत्रको उत्पन्न करती है, उस पुत्रको कन्याके विवाह करनेवाले पुरुषका कानीन पुत्र कहते हैं ॥ १७२ ॥ ज्ञातगर्भा वा अज्ञात-गर्भा कन्याको ब्याहनेपर उससे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे विवाह करनेवालेका सहोढ़ पुत्र कहते हैं ॥ १७३ ॥ पुत्रके निमित्त जो उसके माता पिताको मूल्य देकर लेते हैं, वह सवर्ण हो वा न होवे; खरीदने-वालेका पुत्र होगा ॥ १७४ ॥ पतिके द्वारा परित्याग हुई अथवा विधवा स्त्री स्वेच्छापूर्वक फिर दूसरेकी भार्या बनकर जो पुत्र उत्पन्न करती है, उसे पौनर्भव पुत्र कहते हैं ॥ १७५ ॥ यह स्त्री यदि अक्षतयोनि रहके दूसरे पुरुषके पास जाय अथवा पूर्वपतिके पास लौटे तो पति उसका फिरसे विवाह-संस्कार कर लेवे। यह स्त्री पतिकी पुनर्भू पत्नी होगी ॥ १७६ ॥ पिता मातासे रहित अथवा उनके द्वारा बिना कारणके ही परित्यक्त पुत्र यदि अपनेको स्वयं दान करे, तो वह प्रतिग्रहीताका स्वयंदत्तपुत्र कहा जाता है ॥ १७७ ॥ ब्राह्मण कामके वशमें होकर निज परिणीता शूद्रा स्त्रीमें जिस पुत्रको उत्पन्न करता है, उस पुत्रको पारशव कहते हैं। पार अर्थात् श्राद्ध आदि जाननेवाला होनेपर भी शव अर्थात् मृतदाके समान अनधिकारी है, इस लिये यह पुत्र पारशव

पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥ दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् । सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १७९ ॥ क्षेत्रजादीन् सुतानेता-नेकादश यथोदितान् । पुत्त्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥ १८० ॥ य एतेऽभिहिताः पुत्त्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः । यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥ भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत् पुत्त्रवान् भवेत् । सर्व्वांस्तांस्तेन पुत्त्रेण पुत्त्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥ सर्व्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्त्रिणी भवेत् । सर्व्वास्तास्तेन पुत्त्रेण प्राह पुत्त्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥ श्रेयसः श्रेयसोऽभावे पापीयान् रिक्थमर्हति । बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्व्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥ न भ्रातरो न पितरः पुत्त्रा रिक्थहराः पितुः ।

कहाता है ॥ १७८ ॥ दासी वा दासकी स्त्रीमें शूद्रका जो पुत्र होता है, वह शूद्र पिताकी आज्ञानुसार उसके औरस पुत्रोंके तुल्यभागी होगा—यह शास्त्रकी विधि है ॥ १७९ ॥ श्राद्ध आदि लोप न हो, इस लिये क्रमसे कहे हुए ग्यारह प्रकारके पुत्रोंको मनीषी लोग पुत्र कहते हैं ॥ १८० ॥ प्रसङ्गवशसे दूसरेके वीर्य्यसे पैदा हुए जिन पुत्रोंकी बात कही गई, वे जिसके वीर्य्यसे उत्पन्न हुए हैं, यथार्थमें उसीकी सन्तान हैं,—दूसरेके नहीं। इस लिये औरस पुत्रके रहते इन पुत्रोंको ग्रहण करना उचित नहीं है, ऐसा ही समझना होगा ॥ १८१ ॥ एक तनसे पैदा हुए सहोदर भाइयोंके बीच यदि एकहीके पुत्र हो, तो उस एक पुत्रसे सब भाई अपनेको पुत्रवान् जानें—ऐसा मनुने कहा है ॥ १८२ ॥ जिन स्त्रियोंके एकही पति है, उनके बीच यदि कोई स्त्री पुत्रवती हो, तो उस एक पुत्रसे सब स्त्रियां अपनेको पुत्रवती जानें—ऐसा मनुने कहा ॥ १८३ ॥ औरस आदि क्रमसे जिन सब पुत्रोंकी बात कही गई, उनके बीच उत्तमजन्मा और उनके न रहनेपर पापजन्मा पुत्रगण धनाधिकारी होंगे और यदि सब समान वर्ण हों, तो वे तुल्यांशभागी

पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥ त्रयाणामुदकं कार्य्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तते । चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥ अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् । अत ऊर्द्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्य्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥ सर्व्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः । त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्म्मो न हीयते ॥ १८८ ॥ अहार्य्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः । इतरेषान्तु वर्णानां सर्व्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥ संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात् पुत्रमाहरेत् । तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्

होंगे ॥ १८४ ॥ सहोदर भाई और पिता भी धनाधिकारी न होगा, परन्तु औरस आदि पुत्र ही पिताके धनाधिकारी होंगे, पर मुख्य मुख्य पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, पत्नी, और कन्यारहित पुरुषका धनाधिकारी पिता ही होगा और उसके न होनेपर भाई अधिकारी होगा ॥ १८५ ॥ पिता पितामह और प्रपितामह—इन तीनोंको जलदान वा तर्पण करना चाहिये,—इन तीनोंको ही पिण्ड देना योग्य है। चौथे पुत्र आदि पिण्डोदक दाता इस विषयमें पांचवेंका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस लिये अपुत्रक पितामह आदिके धनमें गौण पौत्रका भी अधिकार होगा ॥ १८६ ॥ चाहे स्त्री हो वा पुरुष हो, जो सपिण्डका अत्यन्त निकटवर्त्ती अर्थात् शारीरिक सम्बन्धी होगा, वही सबसे पहिले धनाधिकारी होगा,—सपिण्डके न रहनेपर समानोदक, उनके न रहनेपर आचार्य्य और उसके अभावमें शिष्य धनाधिकारी होगा ॥ ८७ ॥ कोई न हो, तो तीनो वेदोंको जाननेवाला, पवित्र जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही इस धनका अधिकारी होगा।—इस प्रकार ब्राह्मणके धनाधिकारी होनेसे मृत पुरुषके श्राद्ध आदिकी कुछभी हानि नहीं होती ॥ १८८ ॥ ब्राह्मणोंका धन कदापि राजाको लेना उचित नहीं है,— यही नित्य व्यवस्था है। तब सबकोईके अभावमें अन्य वर्णोंके धनमें राजाको अधिकार है ॥ १८९ ॥ पुत्ररहित मृत

तत् तस्मिन् प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥ द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने। तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात् तत् स गृह्णीत नेतरः ॥१९१॥ जनन्यां संस्थितायान्तु समं सर्व्वे सहोदराः। भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥ यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः। मातामह्या धनात् किञ्चित् प्रदेयं प्रीतिपूर्व्वकम् ॥ १९३ ॥ अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तञ्च प्रीतिकर्म्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥ अन्वाधेयञ्च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्। पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥ १९५ ॥ ब्राह्म-दैवार्ष-गान्धर्व्व-प्राजापत्येषु यद्वसु। अप्रजायामती-

---

पुरुषकी स्त्री समान गोत्रवाले पुरुषसे पुत्र उत्पन्न करके मरे हुए पुरुषका सारा धन उसही पुत्रको देवे ॥ १९० ॥ माताके रहते यदि स्वभर्त्तृज, पौनर्भव वा गोलक पुत्रोंके बीचमें धनके वास्ते विवाद होवे, तो जो धन जिसके जन्मदाताका हो उसे वही धन देवे ॥ १९१ ॥ माताके मरनेपर उसका धन सहोदर भाई और कुमारी बहिन—सब कोई समान भाग करके लेवें। विवाहिता कन्या रहनेपर उसे अपने हिस्सेमेंसे चौथा भाग देवें ॥ १९२ ॥ यदि इन कन्याओंके भी कन्या हो अर्थात् दौहित्री रहे, तो उसके सम्मानके लिये नानीके धनमेंसे कुछ देना योग्य है ॥ १९३ ॥ स्त्रीधन छः प्रकारका है;—"अध्यग्नि, अध्यावाहनिक, प्रीतिसे दिया हुआ, माताका दिया हुआ, पिता और भ्राताका दिया हुआ।" विवाहके होमके समय जो धन मिलता है, उसे अध्यग्नि और पतिके घरमें आनेके समय जो धन मिले, उसे अध्यावाहनिक वा व्यवहारिक स्त्री धन और सम्भोग समय वा अन्य समयमें पतिके द्वारा जो धन मिले उसे प्रीतिदत्त धन कहते हैं ॥ १९४ ॥ विवाहके अनन्तर पिता, माता, पति, पिता मामा वा पतिकुलसे जो धन मिले, उसे अन्वाधेय कहते हैं। यह अन्वाधेय और प्रीतिके द्वारा प्राप्त हुआ स्त्रीधन पतिके

भर्त्तुरेव तदिष्यते॥ १९६॥ यत् तस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु। अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते॥ १९७॥ स्त्रियान्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन। ब्राह्मणी तद्धरेत् कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्॥ १९८॥ न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात्। स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्त्तुरनाज्ञया॥ १९९॥ पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत्। न तं भजेरन् दायादा भजमानाः पतन्ति ते॥ २००॥ अनंशौ क्लीवपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा। उन्मत्त-जड़-मूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः॥ २०१॥ सर्व्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा।

जीवित अवस्थामें स्त्रीको सन्तानोंको मिलेगा॥ १९५॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, गन्धर्व्व और प्राजापत्य,—इन पांच प्रकारके विवाहमें प्राप्त हुआ जो छ तरहका स्त्रीधन होता है, वह स्त्रीके सन्तान रहित मर जानेपर उसके पति हीको मिलता है॥ १९६॥ असुर राक्षस और पैशाच विवाहसे प्राप्त हुआ स्त्रीधन स्त्रीके निःसन्तान मरनेपर पहिले माताको प्राप्त होगा और उसके अभावमें पिताका होगा॥ १९७॥ ब्राह्मणसे विवाही हुई अनेक जातिकी बीच यदि कोई निःसन्तान मरे, तो उसके पिताका दिया हुआ स्त्रीधन सपत्नी ब्राह्मणकी कन्या लेगी, उसके न रहनेपर उसकी सन्तान पावेगी॥ १९८॥ अविभक्त परिवारके बीच रहके कोई स्त्री साधारण धनमेंसे आभूषणके लिये कुछ धन सञ्चय न कर सकेगी और बिना पतिकी आज्ञाके पतिका धनभी न ले सकेगी॥ १९९॥ पतिके जीवित रहते स्त्रियां जो आभूषण पहनती हैं, भर्त्ताके मरनेपर उसके पुत्र आदि दावीदार लोग उस स्त्रीके जीवित रहते न ले सकेंगे यदि लेवें तो वे पापी होंगे॥ २००॥ क्लीव, पतित, जन्मान्ध जन्मसे बहिरे, उन्मत्त, जड़ गूंगे और काने इत्यादि इन्द्रिय रहित पुरुष पितृधनके अधिकारी नहीं हैं॥ २०१॥ धन लेनेवाला इन क्लीव आदिको न्यायपूर्व्वक

ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२ ॥ यद्यर्थिता तु दारैः स्यात् क्लीवादीनां कथञ्चन । तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥ यत्किञ्चित् पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति । भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः ॥ २०४ ॥ अविद्यानान्तु सर्व्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् । समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥ २०५ ॥ विद्याधनन्तु यद्यस्य तत् तस्यैव धनं भवेत् । मैत्रमौद्वाहिकञ्चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥ भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्म्मणा । स निर्भाज्यः स्वकादंशात् किञ्चिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥ २०७ ॥ अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्ज्जयेत् । स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥ पैतृकन्तु पिता द्रव्य-

---

खाने पहरनेको देवे, यदि न दे तो वह पापी होगा ॥ २०२ ॥ क्लीब आदिको यदि विवाहकी इच्छा हो और उस स्त्रीमें यदि क्षेत्रज पुत्र जन्मे तो वह पितामहका धन पावेगा ॥ २०३ ॥ पिताके मरनेपर भाइयोंके साथ अविभक्त जेठा भाई अपनी सामर्थसे धन पदा करे, तो उसमें विद्या पढ़नेवाले लहुरे भाईका हिस्सा होगा ॥ २०४ ॥ पिताका धन न रहनेपर यदि सब भाई चेष्टा करके गृहस्थ धर्म्म निभावें, तो हिस्सा बांटनेके समय वे सब समान भागी होंगे कम वेशी पैदा करनेवालोंके बीच किसीको कम और किसीको ज्यादे हिस्सा न मिलेगा और कोई उद्धार अंश भी न पावेगा ॥ २०५ ॥ विद्यासे प्राप्त हुआ धन जिसकी विद्या हो उसहीका है, मित्रसे प्राप्त धन, विवाहके समय श्वशुर आदिसे और यज्ञमें प्राप्त धन दावीदारोंके बीच नहीं बंट सकता ॥ २०६ ॥ जो पुरुष स्वयं उपार्ज्जन करनेमें समर्थ होनेसे पिताके धनकी इच्छा नहीं करता, उसे पितृधनमेंसे उपजीवनरूपी कुछ धन देकर अलग कर देवे ॥ २०७ ॥ पिताके धनको नष्ट न करके जो पुरुष अपने परिश्रमसे धन पैदा करता है, उसकी यदि इच्छा न हो, तो वह अपने परिश्रमसे पैदा किये हुए धनमेंसे किसीको

मनवाप्तं यदाप्नुयात्। न तत् पुत्रैर्भजेत सार्द्धमकामः स्वयमर्ज्जितम्॥ २०९॥ विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि। समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते॥ २१०॥ येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः। म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते॥ २११॥ सोदर्य्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम्। भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः॥ २१२॥ यो ज्येष्ठो विनिकुर्व्वीत लोभाद्भ्रातॄन् यवीयसः। सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः॥ २१३॥ सर्व्व एव विकर्म्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्। नचादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्व्वीत यौतकम्॥ २१४॥ भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत् सह। न पुत्रभागं विषमं पिता दद्याद्

कुछ न दे॥ २०८॥ पैतृक सम्पत्ति यदि पिताकी असमर्थतासे स्थानान्तरित हुई हो और पुत्र अपनी शक्तिसे उसे उद्धार करे, तो वह धन उसका निज उपार्ज्जित समझा जावेगा, उसकी इच्छा न हो तो वह अन्य पुत्रोंको उसमेंसे हिस्सा न देवे॥ २०९॥ भाईलोग यदि पहिले अलग होके पीछे फिर एकत्रित होकर रहें, तो फिर हिस्सा बांटनेके समय सबको बराबर भाग मिलेगा। जेठा उद्धारांश न पावेगा॥ २१०॥ हिस्सा बांटनेके समय भाइयोंके बीच जेठा वा लहुरा भाईके प्रव्रज्या वा मरनेसे अंश रहित होनेपर भी उसका हिस्सा लुप्त न होगा। सब सहोदर भाई इकट्ठे होकर उस हिस्सेको बांट लेवें। सहोदर भाई और कुमारी बहिनको इसमेंसे समान हिस्सा मिलेगा॥ २११॥ २१२॥ जो जेठा लोभसे भाइयोंको ठगे, वह जेठेकी तरह माननीय नहीं —जेठेके मिलने योग्य उद्धारांश भी नहीं पा सकता और राज्यके द्वारा वह दण्डनीय है॥ २१३॥ कुकर्म्ममें फंसे हुए भाई धन पाने योग्य नहीं हैं, लहुरे भाइयोंको बिना दिये जेठा भाई साधारण धनमेंसे अपने वास्ते सञ्चय न करे॥ २१४॥ अविभक्त भाईलोग यदि एकमें रहके धन पैदा करें, तो बांटनेके समय

कथंचन ॥ २१५ ॥ ऊर्द्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् । संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥ अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्य्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥ ऋणे धने च सर्व्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि । पश्चाद्दृश्येत यत्किञ्चित् तत् सर्व्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥ वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः । योगक्षेमं प्रचारञ्च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥ अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणाञ्च क्रियाविधिः । क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्म्मान् निबोधत ॥ २२० ॥ द्यूतं समाह्वयञ्चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् । राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥ प्रकाशमेतत् तास्कर्य्यं यद्देवनसमाह्वयौ । तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत् ॥ २२२ ॥ अप्राणिभिर्यत् क्रियते तल्लोके

पिता उनमेंसे किसीको कम बेशी हिस्सा न देवे ॥ २१५ ॥ धन बंटनेपर यदि कोई पुत्र जन्मे, तो उसे भी पितृधनमें हिस्सा मिलेगा । यदि भाईलोग एकमें रहें तो उनके निकट उसे हिस्सा मिलेगा ॥ २१६ ॥ निःसन्तान पुत्रका धन माता पावेगी, माताके मरनेपर दादीको मिलेगा—माध्यमिक अधिकारीके न रहनेपर भी यही नियम लागे ॥ २१७ ॥ शास्त्रकी विधि अनुसार सब ऋण और धन बांटनेके अनन्तर यदि छिपा हुआ पैतृक ऋण वा धन कहीं दीखे, तो उसमें भी पहिलेकी भांति सबको समान हिस्सा मिलेगा ॥ २१८ ॥ वस्त्र सवारी, आभूषण चावल, जल दासी आदि स्त्रियां पुरोहित और गऊ चरानेके स्थानोंका विभाग न होगा ॥ २१९ ॥ यह तुमसे विभागकी व्यवस्था और क्षेत्रज आदि पुत्रोंका प्रकरण कहा, अब द्यूत धर्म्म कहता हूं, सुनो ॥ २२० ॥ राजा अपने राज्यमें जूआका खेलना और समाह्वय बन्द करे, ये दोनों दोष राजाओंके राज्य नाशक हैं ॥ २२१ ॥ जूआ और समाह्वय प्रकाश्य चोरी ही है, इसलिये इसे रोकनेमें राजा सदा यत्नवान रहैं ॥ २२२ ॥ पाशा आदि खेलनेको जूआ

द्यूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥ द्यूतं समाह्वयञ्चैव यः कुर्य्यात् कारयेत वा । तान् सर्व्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥ कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान् । विकर्म्मस्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात् ॥ २२५ ॥ एते राष्ट्रे वर्त्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः । विकर्म्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥ द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत् । तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥ प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः । तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥ क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् । आनृण्यं कर्म्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः

और घोड़ा, मेढ़े आदि प्राणियोंके द्वारा बाजी बदके जो खेल होता है, उसे समाह्वय कहते हैं ॥ २२३ ॥ जो पुरुष जूआ वा समाह्वय स्वयं करता वा दूसरेसे कराता है, राजा उन सबको ही अपराधके अनुसार हाथ काटना वा प्राणवध पर्य्यन्त दण्ड दे और द्विजचिन्हधारी शूद्रको भी ऐसा ही दण्ड देवे ॥ २२४ ॥ कितव अर्थात् जूआ समाह्वय करनेवाला, नटवृत्तिवाला, चोर, वेदद्रोही, पराये धर्म्ममें रत और शौण्डिक आदिको पुरके भीतर न बसने देवे ॥ २२५ ॥ ये सब छिपे हुए तस्कर राज्यमें निवास करनेसे अनेक तरह ठगहारी अधर्म्म करके उत्तम प्रजाको बहुत क्लेश देते हैं ॥ २२६ ॥ जूआ महत् शत्रुताको करनेवाला है, ऐसा पुराण कथामें भी देखाता है, इसलिये बद्धिमान पुरुष हंसीमें भी जूवा न खेले ॥ २२७ ॥ छिपके वा प्रकाश रूपसे जो पुरुष जूआ खेलता है, राजा उसे पूरा दण्ड देवे ॥ २२८ ॥ क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यदि जुर्माना देनेमें असमर्थ हो, तो राजा उनके जातिके योग्य कार्य्य कराकर जुर्माना का बदला चुकावेवे । परन्तु ब्राह्मणको जुर्मानाके धनके लिये परिश्रम न करावे, परन्तु उससे काल अनुसार थोरे थोरे जुर्मानेका धन वसूल

धमः ॥ २२९ ॥ स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणाञ्च रोगिणाम्। शिफाविदल-रज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥ ये नियुक्तास्तु कार्य्येषु हन्युः कार्य्याणि कार्य्यिणाम्। धनोष्मणा पच्यमानास्तान् निःस्वान् कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥ कूटशासनकर्त्तॄंश्च प्रकृतीनाञ्च दूषकान्। स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्द्विट्सेविनस्तथा ॥ २३२ ॥ तीरितञ्चानुशिष्टञ्च यत्र क्वचन यद्भवेत्। कृतं तद्धर्म्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्त्तयेत् ॥ २३३ ॥ अमात्याः प्राड्विवाको वा यत् कुर्य्युः कार्य्यमन्यथा। तत् स्वयं नृपतिः कुर्य्यात् तान् सहस्रञ्च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥ ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः। एते सर्व्वे पृथग् ज्ञेया महा-पातकिनो नराः ॥ २३५ ॥ चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्व्वताम्।

करे ॥ २२९ ॥ स्त्रियां, बालक उन्मत्त, बूढ़े, दरिद्र और रोगी इन्हें धन दण्डके बदले, शिफा वा वृक्षकी जटा विदल अर्थात् बेंत वा चमड़े आदिकी रस्सीसे दण्ड देवे ॥ २३० ॥ प्राक् विवाक आदि राज कर्म्मचारी यदि लोभसे घूस लेकर वादी प्रतिवादीके कार्य्योंको नष्ट करें, तो राजा एकबारगी उनका सर्व्वस्व हर लेवे ॥ २३१ ॥ मिथ्या राजाज्ञा पत्र बनानेवाले, प्रजाओंमें भेद करानेवाले, स्त्री बालक और विप्रहत्यारे तथा शत्रुकी सेवा करनेवालेका राजा वध करे ॥ २३२ ॥ व्यवहार विषयमें किसी पक्षको सत् वा असत् कहके सभ्योंने जो एक दफे निश्चय किया है अथवा जो दण्ड धार्य्य हुआ हो—वह धर्म्मपूर्व्वक किया गया है—ऐसा समझके उसकी फिर आलोचना न करे ॥ २३३ ॥ मन्त्री वा प्राक्विवाक आदि किसी वादी प्रतिवादीके कार्य्यको अन्यथा सिद्ध कर दें, तो राजा फिरसे उस मुकदमेंको स्वयं विचारे और अन्याय विचार करनेवालोंको एक सहस्र पण दण्ड देवे ॥ २३४ ॥ ब्राह्मणघाती मद्यपीनेवाला द्विजाति सुवर्ण चुरानेवाले और गुरुपत्नीगामी पुरुषोंको महापापी जाने ॥ २३५ ॥ ये चार महापातकी यदि शास्त्रविधिसे प्रायश्चित्त न करें, तो राजा उन्हें

शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥ गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ २३७ ॥ असम्भोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याविवाहिनः । चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्व्वधर्म्मबहिष्कृताः ॥ २३८ ॥ ज्ञातिसम्बन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः । निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ २३९ ॥ प्रायश्चित्तन्तु कुर्व्वाणाः सर्व्वे वर्णा यथोदितम् । नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥ २४० ॥ आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः । विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात् सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥ २४१ ॥ इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः । सर्व्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥ नाददीत नृपः साधुर्महा-

---

धनसंयुक्त नीचे लिखा शारीरक दण्ड देवे ॥ २३६ ॥ गुरुपत्नीगामीके माथामें भगका, मद्य पीनेवालेके माथेपर मद्यपात्रका, सोना चुरानेवालेके मस्तकपर कुत्तेके पांवका और ब्रह्महत्यारेके माथेपर रुण्ड कबन्ध पुरुषका चिन्ह लोहेको तपाकर सदाके वास्ते अङ्कित कर देवे ॥ २३७ ॥ ये चिन्हित महापातकी भोजन कराने योग्य नहीं हैं, याजनीय और अध्यापनीय भी नहीं हैं, इनके साथ कन्यादानका सम्बन्ध रखना उचित नहीं है। ये सब धर्मोंसे बाहिर होकर पृथिवीमें घूमते फिरेंगे ॥ २३८ ॥ इन चिन्हित महापापियोंको स्वजन तथा अन्यान्य सम्पर्कीय लोग एकबारगी त्याग करें, उनपर कुछ भी दया न करें,—उन्हें नमस्कार भी न करें, यह मनुकी आज्ञा है ॥ २३९ ॥ ये सब महापातकी यदि अपने अपने वर्णके अनुसार प्रायश्चित्त करें, तो उनके माथेमें ऐसा चिन्ह नहीं अङ्कित होगा; परन्तु राजा उन्हें उत्तम साहस दण्ड देगा ॥ २४० ॥ ब्राह्मण अकामकृत यह सब पातक करे, तो राजा उसे मध्यम साहस दण्ड देवे और कामकृत होनेपर उसे धन वस्त्रके सहित राज्यसे बाहिर कर दे ॥२४१ क्षत्रियादि अकामसे यदि इन सब महापापोंको करें, तो उन्हें सर्वस्व

पातकिनो धनम्। आददानस्तु तल्लोभात् तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥ अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत्। श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥ ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः। ईशः सर्व्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥ यत्र वर्ज्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम्। तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥ निष्पद्यन्ते च शस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक्। बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ ४४७ ॥ ब्राह्मणान् बाधमानन्तु कामादवरवर्णजम्। हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥ यावानवध्यस्य वधे तावान् वध्यस्य मोक्षणे। अधर्म्मो नृपतेर्दृष्टो धर्म्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥ उदितोऽयं

हरण दण्ड होगा और कामसे करनेपर वे देश बाहिर किये जायंगे ॥२४२॥ साधुराजा महापातकीका धन कदापि न लेवे। लोभसे लेवा करनेपर महापातकका अंशभागी होता है ॥ २४३ ॥ महापातकीको दण्डदेनेसे जो धन प्राप्त हो वह वरुण देवताके उद्देश्यसे जलमें फेंके अथवा वृत्त स्वाध्याययुक्त ब्राह्मणको अर्पण करे ॥ २४३ ॥ क्योंकि वरुणदेव राजाओंके शासक हैं, इस लिये वह इस धनको लेनेमें समर्थ हैं, तथा वेद पढ़नेवाला ब्राह्मण सारे जगत्का प्रभु होनेसे यह भी इस धनको लेनेमें समर्थ है ॥ २४५ ॥ जिस देशमें राजा पापियोंका धन नहीं लेता, वहां मनुष्य उचित समयमें जन्मते और दीर्घजीवी होते हैं; वहां वैश्य लोग जैसा अन्न बोते हैं, सब शस्य भी उस ही भांति उपजते हैं,—बालक अवस्थामें कोई नहीं मरता और विकल पुरुष भी नहीं जन्मते ॥ २४६।२४७ ॥ शूद्र यदि कामसे ब्राह्मणको शारीरिक वा आर्थिक क्लेश देवे, तो राजा उद्वेगजनक नाक कान काटना प्रभृति अनेक प्रकारके वधरीतिसे उसे मारे ॥ २४८ ॥ अवध्यको मारनेसे जिस प्रकार राजाको पाप होता है, वध्यकी रक्षा करनेसे भी उस ही भांति पाप जानो; परन्तु शास्त्रके

विस्तरशो मिथो विवदमानयोः। अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः॥ २५० ॥ एवं धर्म्म्याणि कार्य्याणि सम्यक् कुर्व्वन् महीपतिः। देशानलब्धान् लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत्॥ २५१॥ सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः। कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्॥ २५२॥ रक्षणादार्य्यवृत्तानां कण्टकानाञ्च शोधनात्। नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः॥ २५३॥ अशासंस्तस्करान् यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः। तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते॥ २५४॥ निर्भयन्तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम्। तस्य तद्वर्द्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः॥ २५५॥ द्विविधांस्तस्करान् विद्यात् परद्रव्यापहारकान्। प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः॥ २५६॥ प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः। प्रच्छन्न-

---

अनुसार दण्ड देना ही राजाका धर्म्म है॥ २४६॥ आपसमें झगड़नेवाले वादी प्रतिवादीका व्यवहार निर्णय जो ऋणदान इत्यादि अट्ठारह तिस्में बंटा है, यह विस्तारपूर्व्वक कहा गया॥ २५०॥ राजा धर्म्मपूर्व्वक इस ही भांति व्यवहार निर्णय करते हुए अप्राप्त देशोंके पानेकी इच्छा करे और प्राप्त राज्यको प्रतिपालन करे॥ २५१॥ शास्त्रमें जैसा कहा है,—राजा सब लोगोंके रक्षित किला बनाकर वहां वास करे और और साहसिक इत्यादि कण्टकरूपी छोटे छोटे शासकोंको नष्ट करनेमें सर्व्वदा यत्नवान होवे॥ २५२॥ सदाचारी लोगोंकी रक्षा और दुष्टोंको दण्ड देनेवाला राजा स्वर्गमें जाता है॥ २५३॥ चोरोंको बिना दण्ड दिये जो राजा प्रजासे कर लेता है, उसका राज्य क्षुब्ध होता और उसे स्वर्गलोक नहीं मिलता॥ २५४॥ जिस राजाके भुजाबलके सहारे सब कोई निर्भय होके बसते हैं, वह राजा इस प्रकार बढ़ता है, जैसे जल सींचनेसे वृक्ष बढ़ते हैं॥ २५५॥ राजा दूतोंके द्वारा प्रकाश और गुप्त दोनो तरहके चोरोंको मालूम करे॥ २५६॥ अनेक व्यवसायी वंचनेकी चीजोंके रूप

वञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः॥ २५७॥ उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा। मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह॥ २५८॥ असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः। शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः॥ २५९॥ एवमादीन् विजानीयात् प्रकाशाँल्लोककण्टकान्। निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्य्यलिङ्गिनः॥ २६०॥ तान् विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्म्मकारिभिः। चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत्॥ २६१॥ तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्म्मणि तत्त्वतः। कुर्व्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः॥ २६२॥ न हि दण्डादृते शक्यः कर्त्तुं पापविनिग्रहः।

वा परिमान आदिमें ठगहारी करते हैं, इस लिये उन्हें प्रकाश्य वञ्चक और जो सन्धि छेदनादिसे सहारे छिपके चोरी करते हैं, तथा जङ्गलमें रहके पराया धन हरते हैं उन्हें गुप्तवञ्चक जानो॥ २५७॥ घूस लेनेवाले, झूठी भय दिखाके पर धन हरनेवाले और जुआड़ी,—कितव "तुम्हें धनसम्पत्ति मिलेगी" ऐसा झूठा वचन कहके खुशामद करनेवाले, भीतरी पाप छिपाके ऊपरी उत्तम वेशसे पराये धनको हरनेवाले जो हाथकी रेखा देखके शुभाशुभ फल कहकर जीविका निभाते हैं, अशिक्षित महावत, चिकित्सक, शिल्पका उत्साह देके लोगोंका धन हरते हैं, वशीकरण आदि कार्य्योंमें निपुण और वेश्या स्त्री—उन्हें प्रकाश्य लोककण्टक जानो; उन्हें तथा द्विज वेषधारी शूद्रोंको राजा दूतोंके जरिये मालूम करे॥ २५८।२६०॥ इन दुष्कर्म्मी पुरुषोंको भी उनके समान कार्य्य करनेवाले अनेक कपट दूतोंके द्वारा आत्मीयता दिखाकर शीघ्रमें राजा अपने वशमें करे॥ २६१॥ राजा उनके दोषोंको प्रकाश्य घोषणा करके पीछे उनके अपराधके अनुसार दण्ड देवे॥ २६२॥ चोर पापबुद्धि और गुप्त रीतिसे विचरनेवाले पुरुषोंको दण्डके बिना पापसे नहीं रोका जा सकता॥ २६३॥ सभा, जलदानगृह, पिष्टक आदि विक्रय

स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥२६३॥ सभा प्रपा पूपशाला वेश्यामद्यान्नविक्रयाः। चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥२६४॥ जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च। शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥२६५॥ एवंविधान् नृपो देशान् गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः। तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥२६६॥ तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्म्मप्रवेदिभिः। विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥२६७॥ भक्ष्यभोज्यापदेशैश्च ब्राह्मणानाञ्च दर्शनैः। शौर्य्यकर्म्मापदेशैश्च कुर्य्युस्तेषां समागमम् ॥२६८॥ ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये। तान् प्रसह्य नृपो हन्यात् समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥२६९॥ न होढ़ेन विना चौरं घातयेद्धार्म्मिको नृपः। सहोढ़ं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥२७०॥

गृह वेश्यालय, मद्य बेंचनेके स्थान, चौराहा, प्रधान वृक्षमूल, लोगोंके एकत्र होनेके स्थान, रमणीय पुराने घर, जङ्गल, शिल्पगृह, निर्ज्जन घर, वन और उपवन—ऐसे स्थानोंमें तस्करता रोकनेके वास्ते राजा स्थावर जङ्गम सेना और दूतोंको नियुक्त करके सदासर्व्वदा लक्ष्य रखे ॥२६४।२६६॥ जो लोग चोरोंके सहायक, अनुगत वा चोरोंकी भांति सन्धिच्छेद आदि कार्य्योंमें निपुण हों वा पहिलेके चोर हों—उन्हीं लोगोंके सहारे राजा चोरोंको जानके उन्हें विनष्ट करे ॥२६७॥ भक्ष्य वा भोजनका लोभ दिखाकर अथवा ब्राह्मण दर्शनके तथा शौर्य्यकर्म्म दिखानेके छलसे राजा दूतोंकी मारफत सब लोगोंको बुलाकर एकत्र करे ॥२६८॥ दूतोंके बुलानेपर भी जो शङ्का करके न आवें, अकस्मात् राजा स्वयं उन पुरुषोंका स्त्री पुत्रोंके सहित वध करे ॥२६९॥ धर्म्मात्मा राजा "वमाल न रहनेसे चोरका निश्चय न होनेपर उसे विनष्ट न करे, परन्तु चोरीकी सामग्रियों तथा चुराई हुई वस्तुओंके सहित चोर निश्चित होनेपर कुछ भी विचार न करके उसका वध करे ॥२७०॥ राज्यके बीच यदि

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः। भाण्डावकाशदाश्चैव सर्व्वांस्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥ राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान् सामन्तांश्चैव चोदितान्। अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥ २७२ ॥ यश्चापि धर्म्मसमयात् प्रच्युतो धर्म्मजीवनः। दण्डेनैव तमप्योषेत् स्वकाद्धर्म्माद्धि विच्युतम् ॥ २७३ ॥ ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने। शक्तितो नाभिधावन्तो निर्व्वास्याः सपरिच्छदाः ॥२७४॥ राज्ञः कोषापहर्त्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्। घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणाञ्चोपजापकान् ॥ २७५ ॥ सन्धिं छित्त्वा तु ये चौर्य्यं रात्रौ कुर्व्वन्ति तस्कराः। तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णशूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥ अङ्गुली ग्रन्थिभेदस्य च्छेदयेत् प्रथमे ग्रहे। द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये

कोई ग्राम सुनके भी चोरको खानेको दे अथवा भाण्ड वा अवकाश स्थान दे, तो राजा उसका भी वध करे ॥ २७१ ॥ जो लोग राज्यके बीच रक्षाकार्य्यमें नियुक्त तथा सीमानदार हों,—वे यदि चोरीकार्य्यके उपद्रवमें मध्यस्थ हों, तो राजा चोरकी भांति उन्हें भी शीघ्रही शासन करे ॥ २७२॥ धर्म्मजीवी ब्राह्मण यदि निजधर्म्मसे भ्रष्ट हो, तो राजा उसे भी दण्ड आदिसे पीड़ित करे ॥ २७३ ॥ गांव लूटनेवाले, पुल तोड़नेवाले तथा रस्तेमें चोर चोरी करके जाते हों,—उन्हें देख सुनके भी जो लोग उन्हें पकड़नेके वास्ते न दौड़ें, राजा उन्हें वस्त्रधनके सहित देशसे निकाल देवे ॥ २७४ ॥ राज्यकोष हरनेवाले राजाके विरोधी और राजाके साथ शत्रुके बैर बढ़ानेवाले लोगोंको अनेक प्रकारका दण्ड देकर राजा उनका वध करे ॥ २७५ ॥ जो सब चोर सेंध लगाकर रातको चोरी करते हैं, राजा उनका दोनो हाथ काटके तीक्ष्णशूलमें लटका देवे ॥ २७६ ॥ जो लोग ग्रन्थिभेद करके वा गांठ काटके चोरी करते हैं उनका पहिली बार अंगूठा और तर्ज्जन अंगुली कटवा देवे, दूसरी बार हाथ पाव बेखटक और तीसरी बार प्राणवध दण्ड देवे ॥ २७७ ॥ सेंध

वधमर्हति ॥ २७७ ॥ अग्निदान् भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्। सन्निधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥ तड़ागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा। तद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥ कोष्ठागारायुधागार-देवतागारभेदकान्। हस्त्यश्व-रथ-हर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥ यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तड़ागस्योदकं हरेत्। आगमं वाप्यपां भिन्द्यात् स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥ समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि। स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यञ्चाशु शोधयेत् ॥ २८२ ॥ आपद्गतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा। परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥ चिकित्सकानां सर्व्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः। अमानुषेषु

जानके वा गांठ काटनेवाले चोरोंको जान सुनके भी जो लोग अग्नि, भात, शस्त्र और अवकाश स्थानके देते हैं अथवा उनकी चुराई हुई चीजोंको रखते हैं,—राजा उन्हें चोरकी भांति दण्ड देवे ॥ २७८ ॥ तड़ागभेद करनेवाले पुरुषको जलमें डुबा कर मारे अथवा साधारण रीतिसे वध करे, परन्तु यदि वह तड़ाग तोड़के फिर पहिलेकी भांति बना दे, तो उसे उत्तम साहस दण्ड देवे ॥ २७९ ॥ राजसम्बन्धीय धान्य, इत्यादि गृह, धनागार, अस्त्र शस्त्रोंके गृह और देवप्रतिमा गृह जो पुरुष विनष्ट करे, अथवा राजाके हाथी घोड़ोंको हरे, तो कुछ भी विचार न करके राजा उसका वध करे ॥ २८० ॥ जो पुरुष साधारण लोगोंके वास्ते बने हुए तालावका जल एकबारगी नष्ट करे अथवा खेतके सहारे जलका मार्ग बन्द करे, राजा उसे प्रथम साहस दण्ड देवे ॥ २८१ ॥ जो पुरुष अनापतकालमें राजमार्गोंमें मलत्याग करे, उसे राजा दो कार्षापण जुर्माना करे और वह विष्ठा उस हीके द्वारा साफ करावे ॥ २८२ ॥ यदि विपतमें पड़े हुए बूढ़े गर्भिणी वा बालक ऐसा करे तो उसकी निन्दा करे और उनसे विष्ठा साफ करावे ॥ २८३ ॥

प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥ संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानाञ्च भेदकः । प्रतिकुर्य्याच्च तत् सर्व्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥ अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा । मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥ समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा । स प्राप्नुयाद्दमं पूर्व्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥ बन्धनानि च सर्व्वाणि राजमार्गे निवेशयेत् । दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥ प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणाञ्च पूरकम् । द्वाराणाञ्चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥ अभिचारेषु सर्व्वेषु कर्त्तव्यो द्विशतो दमः । मूलकर्म्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥ अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टा तथैव च । मर्य्यादाभेदकश्चैव विकृतं

चिकित्सक लोग यदि चिकित्सा करें; तो गऊ आदिकी चिकित्साके प्रबन्धमें प्रथम साहस और मनुष्य चिकित्साके सम्बन्धमें उन्हें उत्तम साहस दण्ड होगा ॥ २८४ ॥ संक्रम अर्थात् सीढ़ी, ध्वजा, यष्टि और प्रतिमा तोड़नेवालेको राजा पांच सौ पण जुर्माना करे और इन सब वस्तुओंको नवीन करा लेवे ॥ २८५ ॥ अदूषित चीजोंके दूषित करने, तोड़ने अथवा मणि भेदने वा मुक्ता प्रवाल आदिको अयोग्य स्थानमें भेद करनेवालेको प्रथम साहस दण्ड होगा ॥ २८६ ॥ जो पुरुष समतुल्य देनेवालेके साथ उत्कृष्ट वा निकृष्ट चीजोंमें विषम व्यवहार करता है अथवा समान मूल्यकी चीज एकको अधिक मूल्य तथा दूसरेको थोड़े मूल्यमें देता है, राजा उसे प्रथम वा मध्यम साहस दण्ड देवे ॥ २८७ ॥ कारागार आदि बन्धन गृह प्रकाश्य राजपथमें बनावे—जिससे दुःखित विकृत पापी लोगोंको सब कोई देख सकें ॥ २८८ ॥ गृह वा पुर आदिकी दीवार तोड़नेवाले और खाईका द्वार भङ्ग करनेवाले लोगोंको राजा तुरन्त देशसे बाहिर करे ॥ २८९ ॥ दूसरेके मारनेके लिये अनेक तरहके अभिचारिक, वशीकरण तथा अनेक प्रकारके कार्य्योंमें दोसौ पण जुर्माना

प्राप्नुयादवधम् ॥ २९१ ॥ सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारन्तु पार्थिवः । प्रवर्त्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥ सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च । कालमासाद्य कार्य्यञ्च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥ स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत् तथा । सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥ सप्तानां प्रकृतीनान्तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥ सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् । अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥ तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते । येन यत् साध्यते कार्य्यं तत् तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥ चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्म्मणाम् । स्वशक्तिं परशक्तिञ्च

होगा ॥ २९० ॥ जो खेतीको बीच बढ़के वा निकृष्ट बीजको उत्तम बीज बताकर बेचे और जो गांवकी सीमा नष्ट करे, राजा उसका नाक कान और पांव कटवा देवे ॥ २९१ ॥ सारे पापियोंमें सुवर्णकार ज्यादा पापी है, इस लिये सुवर्ण चुराना आदि अन्यायमें प्रवृत्त होनेसे राजा छूरासे उसे टुकड़े टुकड़े करके काटनेकी आज्ञा देवे ॥ २९२ ॥ हल कुदाल कृषिसम्बन्धीय चीजोंको शस्त्र अथवा औषधियोंके हरनेसे राजा समय और प्रयोजनको समझके दण्ड देवे ॥ २९३ ॥ राजा, मन्त्री, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड और सुहृत्—ये सातों राजके अङ्ग हैं, इस लिये राज्यको सप्ताङ्ग कहा जाता है ॥ २९४ ॥ प्रकृत पदार्थों इन सप्ताङ्गोंके बीच पूर्व पूर्व अङ्गका विनाशरूपी व्यसनको बहुत ही महत् जानो ॥ २९५ ॥ जैसे यतीके त्रिदण्डके बीच किसी दण्डकी अधिकता नहीं है, वैसे ही इन सप्त अङ्गके बीच किसी अङ्गकी विशेष अधिकता नहीं है—वे आपसमें एक दूसरेके सहायक हैं ॥ २९६ ॥ तब जिस अङ्गसे जो कार्य्य पूरा होता है, उस कार्य्यसम्बन्धमें वही अङ्ग श्रेष्ठ कहना होता है ॥ २९७ ॥ दूतोंको उत्साह देके और अपने कार्य्योंको देखकर राजा अपनी शक्ति और

नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥२९८॥ पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च। आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥२९९॥ आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनःपुनः। कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥३००॥ कृतं त्रेतायुगञ्चैव द्वापरं कलिरेव च। राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥३०१॥ कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम्। कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥३०२॥ इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च। चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥३०३॥ वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति। तथाभिवर्षेत् स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥३०४॥ अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः। तथा

अपनी शक्तिको मालूम करे ॥२९८॥ महामारी इत्यादि रोग अथवा अन्य अनेक तरहके पीड़नस्थान और आत्म-पर-कृत व्यसन—इनकी गुरुता तथा लाघवकी अच्छी विवेचना करके राजा शत्रुके साथ सन्धि विग्रह आदि कार्य आरम्भ करे ॥२९९॥ राज्यरक्षा आदि कार्योंमें बारबार श्रान्त होनेपर भी राजा कार्यारम्भसे विरत न होवे; क्योंकि कार्यारम्भ करनेवाले पुरुषकी लक्ष्मी स्वयं ही सेवा करती है ॥३००॥ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये राजाके ही चेष्टित हैं, इस वास्ते राजाको ही युग कहा जाता है ॥३०१॥ जब राजा प्रजाकी श्रीवृद्धिके विषयमें चेष्टा बन्द करके सोता रहता है, तब कलियुग प्रवर्त्तित होता है; जब वह राज्यके विषयमें जागरुकदृष्टिसे देखता है, तब द्वापरयुग; जब राजकार्य करनेके लिये प्रस्तुत रहता है, तब त्रेता; और जब राजा शास्त्रके अनुसार सब कार्योंको करते हुए स्वच्छन्द विचरता रहता है, तब सत्ययुग प्रवर्तित होता है ॥३०२॥ राजा—इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि, और पृथिवीके पराक्रम अनुसारस्वरूप चरित अवलम्बन करे ॥३०३॥ जैसे इन्द्र वर्षाके समय अपर्य्याप्त जल बरसाता है, वैसे ही

हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ३०५ ॥ प्रविश्य सर्व्वभूतानि यथा चरति मारुतः। तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥ यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्तकाले नियच्छति। तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ॥ ३०७ ॥ वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते। तथा पापान् निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥ परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः। तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥ प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात् पापकर्म्मसु। दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥ यथा सर्व्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्। तथा सर्व्वाणि

राजा इन्द्रव्रतधारी होकर प्रजाके प्रार्थित विषयोंको बरसाया करे ॥ ३०४ ॥ जैसे सूर्य्य धीरे धीरे आठ महीनेतक अपनी किरणोंके द्वारा पृथिवीके रसको खींचता है, राजा भी उसही भांति धीरे धीरे राज्यसे कर ग्रहण करे ॥ ३०५ ॥ जैसे वायु सब भूतोंमें प्रविष्ट होकर विचरता है, राजा भी उस ही भांति वायुव्रत होकर दूतोंके द्वारा सर्व्वत्र प्रविष्ट रहके राजकार्य्य देखे ॥ ३०६ ॥ समय पहुंचनेपर जैसे यम प्रिय और अप्रियका विचार नहीं करता, राजा भी दण्डविधानके समय प्रिय और द्वेषीका विचार न करके न्याय अनुसार दण्डविधान करे—यही उसका यमव्रत है ॥ ३०७ ॥ जैसे वरुणकी फांसी दृढ़ बन्धन है, राजा भी पापियोंको उसही प्रकार निग्रह करे—यही उसका वरुणव्रत है ॥ ३०८ ॥ जैसे पूर्णचन्द्रको देखकर लोग आनन्दित होते हैं, उस ही भांति जिस राजाको प्राप्त होनेसे प्रजा आनन्दित होवे, वही चन्द्रव्रतधारी राजा कहा जाता है ॥ ३०९ ॥ जो राजा पापियोंके वास्ते प्रतापयुक्त, सदा तेजस्वी और दुष्टोंको मारनेवाला होता है, उसे आग्नेयव्रतधारी कहते हैं ॥३१०॥ जैसे पृथिवी सब भूतोंको समभावसे धारण किये है, वैसे ही जो राजा सारी प्रजाको समभावसे प्रतिपालन करता है, उसे पृथिवी व्रतधारी

भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥ एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः । स्तेनान् राजा निगृह्णीयात् स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥ परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान् न प्रकोपयेत् । ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥ यैः कृतः सर्व्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः । क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत् प्रकोप्य तान् ॥३१४॥ लोकानन्यान् सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः। देवान् कुर्य्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान् समृध्नुयात् ॥ ३१५ ॥ यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्व्वदा। ब्रह्मचैव धनं येषां को हिंस्यात् तान् जिजीविषुः ॥ ३१६ ॥ अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् । प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥ श्मशानेष्वपि तेजस्वी

कहा जाता है ॥ ३११ ॥ इन सब तथा अन्यान्य उपायोंसे राजा सदा आलस्यरहित रहके निजराज्य और पर राज्यमें चोरोंको निग्रह करे ॥३१२ राजा अत्यन्त विपद्ग्रस्त होनेपर भी कभी ब्राह्मणको क्रोधित न करे; क्योंकि ब्राह्मण लोग कुपित होनेसे बल और वाहनयुक्त राज्यको उसही समय नष्टकर सकते हैं ॥ ३१३ ॥ जिन ब्राह्मणोंने क्रुद्ध होकर अग्निको सर्व्वभक्षी बनाया है—जिन्होंने समुद्रका जल अपेय किया है, जिन्होंने चन्द्रमाको क्षयीरोगयुक्त करके फिर पूरण किया है, ऐसे ब्राह्मणोंको क्रोधित करके कौन नष्ट न होगा ॥ ३१४ ॥ जो स्वर्गादि लोक और लोकपालोंकी सृष्टि कर सकते हैं,—क्रुद्ध होनेसे जो कोग देवताओंको अदेवता कर सकते हैं, वैस ब्राह्मणोंको क्रुद्ध करके किसकी बढ़ती हुआ करती है ॥ ३१५ ॥ जिनके आसरे सब लोग और देवता निवास करते हैं,—ब्रह्मही जिनका धन है; जीवनकी इच्छा रहनेसे कौन उनकी हिंसा करेगा ? ॥ ३१६ ॥ चाहे संस्कारयुक्त हो वा असंस्कारयुक्त ही होवे, जैसे अग्नि महत् देवता है, वैसे ही चाहे अविद्वान् हो वा विद्वान् हो ब्रो ब्राह्मण महादेवता स्वरूप है ॥ ३१७ ॥ जैसे महातेजस्वी अग्नि-

पावको नैव दुष्यति । हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते ॥३१८॥ एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्व्वकर्म्मसु । सर्व्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥३१९॥ क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्व्वशः । ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥३२०॥ अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् । तेषां सर्व्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥३२१॥ नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते । ब्रह्म क्षत्रञ्च सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते ॥३२२॥ दत्त्वा धनन्तु विप्रेभ्यः सर्व्वदण्डसमुत्थितम् । पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्व्वीत प्रायणं रणे ॥३२३॥ एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्म्मेषु पार्थिवः । हितेषु चैव लोकस्य सर्व्वान् भृत्यान् नियोजयेत् ॥३२४॥ एषो

श्मशानमें रहनेपर भी अपवित्र नहीं होता बल्कि यज्ञकार्य्यमें हुत होकर वृद्धिको प्राप्त हुआ करता है, वैसे ही ब्राह्मण यदि निन्दित कार्य्यमें प्रवृत्त रहे, तोभी वह सबका पूजनीय है ; क्योंकि ब्राह्मण परम देवता-स्वरूप है ॥३१८-३१९॥ क्षत्रिय लोग अधिक बढ़नेपर यदि ब्राह्मणके विरुद्ध उठ खड़े हों तो ब्राह्मण लोग उन्हें शासन करें ; क्योंकि क्षत्रिय लोग ब्राह्मणोंसे उत्पन्न हुए हैं ॥३२०॥ जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे अस्त्रशस्त्र उत्पन्न हुए हैं, इसीसे इनका तेज सर्व्वगामी होनेपर भी निज निज उत्पत्ति स्थानमें जाकर शान्त हो जाता है। जलमें अग्निका, ब्राह्मणमें क्षत्रिय और पत्थरमें अस्त्रशस्त्र शान्त होता होता है ॥३२१॥ ब्राह्मण रहित क्षत्रियकी श्री बढ़ती नहीं होती— क्षत्रियके बिना ब्राह्मणकी भी वृद्धि नहीं होती—क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व एक मिलनेहीसे दोनों लोकमें बढ़ती होती है ॥३२२॥ जब राजा मृत्यु-कालको निकट आया जाने, तब दण्डसे प्राप्त हुआ धन ब्राह्मणोंको दानकर और पुत्रको राज्य सौंपके संग्राम वा अनशन व्रतके सहारे प्राणत्याग करे ॥३२३॥ सदा इस ही प्रकार राजधर्म्ममें तत्पर रहके

खिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः। इमं कर्म्मविधिं विद्यात् क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥ वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम्। वार्त्तायां नित्ययुक्तः स्यात् पशूनाञ्चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥ प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्। ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्व्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७ ॥ न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति। वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥ ३२८ ॥ मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च। गन्धानाञ्च रसानाञ्च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ३२९ ॥ बीजानामुप्तिविच्च स्यात् क्षेत्रदोषगुणस्य च। मानयोगञ्च जानीयात् तुलायोगांश्च सर्व्वशः ॥ ३३० ॥ सारासारञ्च भाण्डानां देशानाञ्च गुणागुणान्। लाभालाभञ्च पण्यानां

सब सेवकोंको लोगोंके हितके लिये कार्य्यमें लगावे ॥ ३२४ ॥ राजाकी सनातन कार्य्यविधि पूरी रीतिसे आप लोगोंसे कहा, अब वैश्य और शूद्रोंकी कर्म्मविधि सुनो ॥ ३२५ ॥ वैश्य उपवीत होनेपर दार परिग्रह करके कृषि और वाणिज्य आदि कार्य्योंमें सदा रत रहे तथा पशुओंकी रक्षा करे ॥ ३२६ ॥ प्रजापतिने पशुओंको उत्पन्न करके उनका भार वैश्यको अर्पण किया और सारी प्रजाकी सृष्टि करके उनका भार राजा और ब्राह्मणको दिया ॥ ३२७ ॥ वैश्य लोग ऐसा कभी न समझें कि, "हम लोग कभी पशुपालन न करेंगे; वैश्य पशुपालन करनेकी इच्छा करनेपर अन्य कोई भी पशुपालनका अधिकारी नहीं होगा ॥ ३२८ ॥ वैश्य—मणि, मोती, प्रवाल सुवर्ण आदि, गन्ध सुगन्धित चीजें और नमक प्रभृति रस इत्यादि चीजोंके मूल्य तथा उत्तम मध्यमके विषयमें अभिज्ञ होवे ॥ ३२९ ॥ वैश्य सब प्रकारके बीज बोनेकी रीति जाने; भूमिके गुण दोष सम्बन्धमें अभिज्ञ होवे और प्रस्थ द्रोण आदि सब तरहके परिमाण वा तौल भी जाने ॥ ३३० ॥ सब चीजोंकी उत्तमता, हीनता, देशोंके गुण दोष, बिक्रीके चीजोंका लाभ नुकसान, पशुओंके बढ़ानेका उपाय,

पशूनां परिवर्द्धनम् ॥ ३३१ ॥ भृत्यानाञ्च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम्। द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ३३२ ॥ धर्म्मेण च द्रव्यवृद्धावा-तिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्। दद्याच्च सर्व्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥ विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्। शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्म्मो नैःश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥ शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्म्मृदुवागनहङ्कृतः। ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३३५ ॥ एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्म्मविधिः शुभः। आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३३६ ॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रमजीवियोंकी मजूरी, भिन्न भिन्न देशोंकी भाषा, सब पदार्थोंके स्थान और उनके परस्पर संयोगविषयक ज्ञान तथा बेंचने खरीदनेके सब जानने योग्य विषयोंको वैश्य मालूम करे ॥ ३३१ । ३३२ ॥ वैश्य धर्म्म पूर्व्वक धन-वृद्धिके वास्ते विशेष यत्नवान रहै और पूरे यत्नके सहित सब प्राणियोंको अन्नदान करे ॥ ३३३ ॥ वेदज्ञ, गृहस्थ और धर्म्मकार्य्योंमें यशयुक्त ब्राह्मणकी सेवा करना ही शूद्रका परम कल्याणकारी धर्म्म है ॥ ३३४ ॥ बाहिर भीतरसे पवित्र, श्रेष्ठ जातिकी सेवा करनेवाला, मीठी बात बोलनेवाला अहङ्काररहित और ब्राह्मणादिके आसरेमें सदा रहनेवाला शूद्र क्रमसे श्रेष्ठ जातिभावयुक्त होता है ॥ ३३५ ॥ ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके अनापद्कालकी शुभ विधि कही गई; अब इनके आपत्कालकी धर्म्मक्रमको सुनो ॥ ३३६ ॥

नवम अध्याय समाप्त।

दशमोऽध्यायः।

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः। प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः॥ १॥ सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान् यथाविधि। प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयञ्चैव तथा भवेत्॥ २॥ वैशेष्यात् प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्। संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः॥ ३॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥ ४॥ सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन

दशम अध्याय।

शास्त्रमें कहा है, कि द्विजन्मा तीनों वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य,—ये सदा निजधर्म्ममें रत रहके वेद पढें, परन्तु ब्राह्मण ही केवल वेद पढ़ावेगा;—वेद पढ़ाना कदापि वैश्य और क्षत्रियका कार्य्य नहीं है॥ १॥ शास्त्रके अनुसार सब वर्णोंके जीवन-उपायको जानकर और स्वयं सदा शास्त्रसम्मत कर्म्मानुष्ठानमें रत रहके ब्राह्मण सब वर्णोंको इस ही उपायसे उपदेश देवे॥ २॥ वेदको पढ़ने, पढ़ाने और व्याख्यान-विषयमें विशेष उपयुक्तता रहने—उपनयन संस्कारकी विशिष्टता, वर्णोंके अग्रज और ब्रह्माके उत्तमाङ्गज होनेसे ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है॥ ३॥ उपनयन संस्कारयुक्त होनेसे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजोपाधिको प्राप्त हुए हैं। उपनयन-संस्काररहित चौथा वर्ण शूद्र द्विज नहीं है। इनके सिवा पांचवां वर्ण नहीं है अर्थात् उक्त चारों वर्णोंके अतिरिक्त सब सङ्कर जाति हैं॥ ४॥ निज विवाहिता

सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥५॥ स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान् सुतान्। सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान्॥६॥ अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः। द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम्॥७॥ ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते। निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते॥८॥ क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्। क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते॥९॥ विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः। वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् षडेतेऽपसदाः

स्त्रीमें ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न सन्तान—ब्राह्मण क्षत्रियके द्वारा क्षत्रिया पत्नीमें पैदा हुई सन्तानको क्षत्रिय; वैश्यके द्वारा विवाहिता वैश्या स्त्रीमें पैदा हुआ पुत्र वैश्य और शूद्रके द्वारा विवाहिता शूद्रा स्त्रीमें पैदा हुई सन्तानको शूद्र कहते हैं इनके सिवा असवर्ण भार्यामें उत्पन्न सन्तान जन्मदाताके सवर्ण नहीं होते। वे निश्चय ही जात्यान्तर हुआ करते हैं॥५॥ मनु आदि ऋषियोंने कहा है, कि द्विजोंके द्वारा अनुलोम क्रमसे अनन्तर वर्णका पत्नीके गर्भसे उत्पन्न भये सन्तान माताकी हीनजातियुक्त होनेसे पिताकी जातिसे न मिलके माताकी जाति सदृश जातिको प्राप्त हुआ करते हैं॥६॥ पतिसे समाय अनुलोम क्रमसे उत्पन्न पुत्रोंके विषय वर्णित हुए। अब पतिसे एक वर्णान्तरजा और द्विवर्णान्तरजा पत्नीके गर्भसे उत्पन्न पुत्रोंका वृत्तान्त वर्णन करता हूं॥७॥ ब्राह्मणके द्वारा विवाहिता वैश्या स्त्रीके गर्भसे पैदा हुई सन्तान "अम्बष्ठ" और विवाही शूद्राके गर्भसे उत्पन्न सन्तानको 'निषाद' वा "पारशव" पदवी हुआ करती है॥८॥ क्षत्रियके द्वारा शूद्राके गर्भसे पैदा हुई सन्तानका उग्रनाम होता है—और पिता माताके स्वभाव अनुसार वह क्रूर चेष्टावाला तथा क्रूरकर्मा हुआ करता है॥९॥ ब्राह्मणके द्वारा क्षत्रियादि तीनों स्त्रियोंके गर्भसे पैदा हुए; क्षत्रियके वैश्या आदि

स्मृताः ॥ १० ॥ क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः। वैश्यान्मागध-वैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥ शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डाल-श्चाधमो नृणाम्। वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥ १२ ॥ एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ। क्षत्तवैदेहकौ तद्वत् प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥ पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम्। ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात् प्रचक्षते ॥ १४ ॥ ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते। आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यान्तु धिग्वणः ॥ १५ ॥ आयोगवश्च क्षत्ता च चाण्डालश्चाधमो नृणाम्। प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदा-

---

दोनों स्त्रियोंके गर्भसे और वैश्यके द्वारा शूद्र स्त्रीके गर्भसे पैदा हुए—ये छः प्रकारके पुत्र सवर्ण पुत्रसे नीच हैं ॥ १० ॥ क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न पुत्र 'सूत' वैश्यके द्वारा क्षत्रिया स्त्रीके गर्भसे पैदा हुई सन्तान "मागध" और ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न सन्तानकी "वैदेह" उपाधि हुआ करती है ॥ ११ ॥ शूद्रके द्वारा वैश्याके गर्भसे उत्पन्न सन्तानको 'आयोगव'—क्षत्रियाके गर्भसे पैदा हुई सन्तानको 'क्षत्ता' और ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न सन्तानकी मनुष्योंमें अधम "चाण्डाल" उपाधि प्राप्त हुआ करती है। शूद्रसे उत्पन्न ये तीनो वर्णोंकी सङ्कर वर्णमें गिनती होती है ॥ १२ ॥ अनुलोम क्रमसे एकान्तरवर्णज 'अम्बष्ठ' और उग्रजातिको जिस प्रकार स्पर्शके योग्य कहा, उसी भांति प्रतिलोम क्रमसे एकान्तर वर्णका 'क्षत्ता' और वैदेह' जाति भी स्पर्शयोग्य हुआ करती है ॥ १३ ॥ द्विजन्मा लोगोंके अनुलोमक्रमसे अनन्तर वर्णज, एकान्तर वर्णज और व्यान्तरवर्णज सन्तान मातृदोषसे दूषित होनेसे मातृजाति-संस्कारयुक्त होंगे ॥ ४ ॥ ब्राह्मणके द्वारा उग्रकन्या गर्भसे उत्पन्न पुत्र 'आवृत' अम्बष्ठ कन्याके गर्भसे पैदा हुआ पुत्र 'आभीर' और अयोगव-कन्याके गर्भसे उत्पन्न सन्तानकी "धिग्वण" उपाधि हुआ करती है ॥ १५ ॥

स्त्रयः ॥ १६ ॥ वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात् सूत एव तु। प्रतीपमेते जायन्तेऽपरेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥ जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः। शूद्राज्जातो निषाद्यान्तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥ क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते। वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ १९ ॥ द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्। तान् सावित्री-परिभ्रष्टान् व्रात्या इति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥ व्रात्यात् तु जायते विप्रात् पापात्मा भूर्जकण्टकः। आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ २१ ॥ झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च। नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड़

शूद्रके जरिये प्रतिलोम क्रमसे उत्पन्न अयोगव, क्षत्ता और चाण्डाल इन तीनोंको उर्द्धदेहिक पितृकार्य्योंमें कुछ भी अधिकार नहीं है, इस लिये वे नराधम गिने गये हैं ॥ १६ ॥ वैश्यके द्वारा प्रतिलोम क्रमसे पैदा हुए मागध और वैदेह तथा प्रतिलोम क्रमसे उत्पन्न 'सूत'—इन तीन जातियोंको भी उर्द्धदेहिक आदि किसी प्रकारके पितृकार्य्यमें अधिकार नहीं है ॥ १७ ॥ निषादके द्वारा शूद्रकन्यामें उत्पन्न सन्तानको 'पुक्कस' और शूद्रके जरिये निषाद-कन्याके गर्भसे उत्पन्न सन्तानकी 'कुक्कुटक' उपाधि होती है ॥ १८ ॥ क्षत्ताके द्वारा उग्रकन्यामें पैदा हुई सन्तानको "श्वपाक" और वैदेहके जरिये अम्बष्ठकन्यामें उत्पन्न पुत्रकी 'वेण' संज्ञा हुआ करती है ॥ १९ ॥ द्विजातियोंके द्वारा विवाहिता सवर्णा स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न पुत्रोंका उपनयन संस्कार न होनेपर उनकी 'व्रात्य' संज्ञा हुआ करती है और वे प्रतिलोमज पुत्रोंकी तरह उर्द्धदेहिक पितृकार्य्यमें भी अधिकारी नहीं होते ॥ २० ॥ व्रात्य ब्राह्मणकी सवर्णा स्त्रीमें उत्पन्न पुत्रोंकी "भूर्जकण्टक" संज्ञा होती है। देशविशेषमें इनके और चार नाम हैं—जैसे 'आवन्त्य' 'वाटधान' 'पुष्पध' और 'शैख' ॥ २१ ॥ व्रात्य क्षत्रियकी सवर्णा स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रोंकी देशविशेषमें

एव च॥२२॥ वैश्यात् तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च। कारूषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च॥२३॥ व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः॥२४॥ सङ्कीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः। अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥२५॥ सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः। मागधः क्षत्तृजातिश्च तथायोगव एव च॥२६॥ एते षट् सदृशान् वर्णान् जनयन्ति स्वयोनिषु। मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु॥२७॥ यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते। आनन्तर्यात् स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात्॥२८॥ ते चापि बाह्यान् सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान्। परस्परस्य दारेषु

सात प्रकारकी उपाधि हुआ करती है; यथा—झल्ल, मल्ल, निच्छवि, नट, करण, खस, और द्रविड़॥२२॥ व्रात्य वैश्यकी सवर्णा स्त्रीसे उत्पन्न हुए पुत्रोंकी ये कई एक उपाधि होती है; जैसे—"सुधन्वा" "आचार्य" "कारुष" "विजन्मा" "मैत्र", और "सात्वत"॥२३॥ अन्यान्य स्त्री गमन, सगोत्रमें विवाह और उपनयन आदि निज धर्मत्याग करनेसे ब्राह्मण प्रभृति तीनों वर्णोंके बीच वर्णसङ्कर हुआ करते हैं॥२४॥ अन्यान्य स्त्रियोंमें आसक्ति होनेसे जो अनुलोम वर्णसङ्कर पैदा होते हैं; वह सब कहता हूं, सुनो॥२५॥ मनुष्योंमें अधम चाण्डाल, सूत, वैदेह अयोगव और मागध सङ्कर, वर्ण हैं॥२६॥ ये छः सङ्करवर्ण निज जाति, मातृजाति और श्रेष्ठ जातिकी कन्यामें भी सदृशवर्ण पुत्र उत्पन्न किया करते हैं॥२७॥ क्षत्रिया और वैश्या पत्नीमें ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न सन्तान और ब्राह्मणके सवर्णा स्त्रीसे उत्पन्न सन्तान जैसे द्विज कहाते और शूद्रसे माननीय हैं, वैसे ही इतर जातिके बीच वैश्यके द्वारा क्षत्रिया स्त्रीमें पैदा हुई सन्तान और क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे पैदा हुई सन्तान,—शूद्रके प्रतिलोमज सन्तानसे कुछ श्रेष्ठ हैं॥२८॥

जनयन्ति विगर्हितान्॥ २९॥ यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते। तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते॥ ३०॥ प्रतिकूलं वर्त्तमाना बाह्या बाह्यतरान् पुनः। हीना हीनान् प्रसूयन्ते वर्णान् पञ्चदशैव तु॥ ३१॥ प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम्। सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे॥ ३२॥ मैत्रेयकन्तु वैदेहो माधूकं सम्प्रसूयते। नॄन् प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये॥ ३३॥ निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम्। कैवर्त्तमिति यं प्राहुरार्य्यावर्त्तनिवासिनः॥ ३४॥ मृतवस्त्रभृत्सु

अयोगव आदि छः तरहकी सङ्करजातिवाले अनुलोम वा प्रतिलोम क्रमसे तथा परस्पर सजातीय स्त्रियोंमें जो सन्तान उत्पन्न करते हैं, वे सन्तान अपने पिता आदिसे सब प्रकार हीन, निन्दाई और सत्क्रियाके बाहिर हैं॥ २९॥ शूद्रके द्वारा ब्राह्मणीमें पैदा हुए चाण्डाल आदि जैसे नीच गिने गये हैं, वैसे चाण्डालादि छः तरहके सङ्करवर्णोंके द्वारा ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंमें उत्पन्न सन्तान उनसे सहस्रगुणा हीन और निन्दनीय है॥ ३०॥ अयोगव आदि छः प्रकारकी हीनजातिवाले आपसमें मिश्रितभावसे परस्पर वर्णोंका स्त्रियोंमें जो सन्तान उत्पन्न करते हैं, वे पन्द्रह तरहकी हैं, वे अपने पिताके भी नीच हैं॥ ३१॥ डाकूजातिके द्वारा अयोगव स्त्रीके गर्भसे जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसे सैरिन्ध्र कहते हैं; यह जाति शृङ्गारकर्ममें चतुर होती है—यद्यपि यह जन्मसे दास नहीं है तोभी दासवृत्तार्थ उपजीवी तथा पाशसे हरिण आदि मारके जीविका निभाते हैं॥ ३२॥ वैदेह जातिके द्वारा अयोगव स्त्रीमें जो सन्तान जन्मती है, उसे 'मैत्रेय' कहते हैं। यह स्वभावसे ही मीठी बात बोलनेवाली और भोरके समय घण्टा बजाकर राजा प्रभृतिकी स्तुति करना उसका कार्य है॥ ३३॥ निषादके द्वारा अयोगव स्त्रीमें जन्मी हुई सन्तानको 'मार्गव' वा दास कहते हैं; ये

नार्यासु गर्हितान्नाशनासु च। भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः॥३५॥ कारावरो निषादात् तु चर्मकारः प्रसूयते। वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ॥३६॥ चाण्डालात् पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान्। आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते॥३७॥ चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान्। पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः॥३८॥ निषादस्त्री तु चाण्डालात् पुत्रमन्त्यावसायिनम्। श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम्॥३९॥ संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः। प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः॥४०॥

नौका चलाके जीविका निभाते हैं और आर्यावर्त्तके निवासी इन्हें कैवर्त्त या केवट कहते हैं॥३४॥ जूठा खानेवाली तथा मुर्देका वस्त्र पहरनेवाली आयोगवी स्त्रीके गर्भसे जन्मदाता भेदसे सैरिन्ध्र, मैत्रेय और मार्गव—ये तीन जाति उत्पन्न होती हैं॥३५॥ निषादके द्वारा वैदेही स्त्रीमें 'कारावर' सन्तान पैदा होती है; वह चर्मच्छेद करनेवाली है। और वैदेह जातिके द्वारा कारावरी स्त्रीमें और निषादी स्त्रीमें 'मेद' जाति जन्मती है; वह गांवके बाहिर बसती है॥३६॥ चाण्डालसे वैदेही स्त्रीमें बांसुरी बेचके जीविका निभानेवाली पाण्डुपाक जाति और निषादसे वैदेही स्त्रीमें 'आहिण्डिक' जाति जन्मती है॥३७॥ चाण्डालसे पुक्कसी स्त्रीमें जो पापी जाति जन्मती है, उसका नाम 'सोपाक' है। साधुओंसे निन्दित और अत्यन्त पापजनक 'जल्लाद'का कार्य्य इस जातिकी उपजीविका है॥३८॥ चाण्डालसे निषादी स्त्रीके गर्भसे 'अन्त्यावसायी' 'गङ्गापुत्र' जाति जन्मती है। श्मशान-कार्य्य इनकी उपजीविका है और यह बाहरी दूषित जातिसे भी दूषित है॥३९॥ इसी भांति निर्दिष्ट समस्त सङ्करजातिके पितामाताका नाम वर्णन किया; इनके सिवा अन्यान्य छिपी हुई वा प्रकाशमान जाति कार्य्यसे मालूम होती

स्वजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्म्मिणः। शूद्राणान्तु सधर्म्माणः सर्व्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥ तपोवीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे। उत्कर्षञ्चापकर्षञ्च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥ शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविड़ाः काम्बोजा जवनाः शकाः। पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥ मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो वहिः। म्लेच्छवाचश्चार्य्यवाचः सर्व्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ४५ ॥ ये द्विजानामपसदा

हैं ॥ ४० ॥ ब्राह्मण आदि तीनों द्विजोंकी सजातीय स्त्रियोंमें जन्मी हुई तीन प्रकारकी सन्तान और अनुलोम क्रमसे ब्राह्मणके वीर्य्यसे पैदा हुई दो तरहकी सन्तान क्षत्रियसे वैश्यामें जन्मी हुई सन्तान—ये छः प्रकारकी सन्तान द्विज धर्म्मावलम्बी हैं और ये उपनयन आदि द्विजसंस्कारके योग्य हैं; परन्तु इन तीनों द्विजोंके प्रतिलोमज सन्तान शूद्रधर्म्मी हुआ करती हैं अर्थात् इनका उपनयन आदि कुछ संस्कार ही नहीं है ॥ ४१ ॥ उक्त प्रकारकी जाति युगयुगमें तपस्याके प्रभाव और वीर्य्यकी उत्कर्षतासे मनुष्योंकेबीच जैसे जातिमें श्रेष्ठ हुआ करता है; उसी भांति उसके विपरीत होनेसे वह जाति नीच हुआ करती है ॥ ४२ ॥ संस्कारहीन नीचे लिखे क्षत्रियोंने शूद्रत्व लाभ किया है ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रक, उड्र, द्राविड़, काम्बोज, जवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश—इन कई एक देशोंमें जन्में क्षत्रिय पहिले कहे हुए कर्म्मदोषसे शूद्रत्वको प्राप्त भये हैं ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके बीच क्रिया लोप इत्यादि कारणोंसे जो लोग वाह्यजाति कहके गिने गये हैं—चाहे साधुभाषावाले हों वा म्लेच्छभाषी हों—उन्हें डाकूकी पदवी प्राप्त हुआ करती है ॥ ४५ ॥ द्विजातियोंकी अनुलोम क्रमसे उत्पन्न सन्तानको अपसद और प्रतिलोमज सन्तानको

ये चापध्वंसजाः स्मृताः । ते निन्दितैर्वर्त्तयेयुर्द्विजानामेव कर्म्मभिः ॥ ४६ ॥ सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सितम् । वैदेहकानां स्त्रीकार्य्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥ मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च । मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ४८ ॥ क्षत्त्रुग्रपुक्कसानान्तु बिलौकोवधबन्धनम् । धिग्वणानां चर्म्मकार्य्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥ चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च । वसेयुरेते विज्ञाता वर्त्तयन्तः स्वकर्म्मभिः ॥ ५० ॥ चण्डालश्वपचानान्तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः । अपपात्राश्च कर्त्तव्या धनमेषां श्वगर्द्दभम् ॥ ५१ ॥ वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् । कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥ न तैः समयमन्विच्छेत्

अपध्वंसज कहते हैं; द्विजोंसे वर्ज्जित कर्म्म ही इनकी उपजीविका है ॥ ४६ ॥ सूत जातिकी वृत्ति रथका सारथी, अम्बष्ठकी चिकित्सा, वैदेहककी अन्तःपुर 'रनिवास' रखा और मागध जातिकी वृत्ति स्थल वा जलमें वाणिज्य करना है ॥ ४७ ॥ निषाद जातिकी वृत्ति मछली मारना; अयोगवकी काष्ठ चीरना और मेद, चंचु, अन्ध्र और मद्गु—इन चारों जातियोंकी वृत्ति जङ्गली पशुओंकी हिंसा है ॥ ४८ ॥ क्षत्त, उग्र, और पुक्कस—इन तीनों जातियोंकी वृत्ति बिलमें बसनेवाले जीवोंको मारना वा बांधना है; धिग्वण जातिका चर्म्मकार्य्य और वेण जातिकी वृत्ति करतालमृदङ्ग बजाना है ॥ ४९ ॥ ये सब जातियां अपनी अपनी वृत्ति अवलम्बन करके जीवन धारण करती हुई चैत्यवृक्षकी जड़, पर्व्वतके निकट, श्मशान और उपवनमें वास किया करती हैं ॥ ५० ॥ चाण्डाल और श्वपच जातिको गांवके बाहिर बसाना चाहिये और इन्हें पात्ररहित रखना योग्य है; केवल गधे और कुत्ते इनके धन हैं। मुर्देका वस्त्र पहरना, टूटे वर्त्तनमें खाना और लोहेका आभूषण पहरना तथा एक जगह न रहके सब ठौर घूमना इनका नित्यका कार्य्य है ॥ ५१।५२॥

पुरुषो धर्ममाचरन्। व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥ ५३॥ अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने। रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च॥ ५४॥ दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः। अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः॥ ५५॥ वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया। वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च॥ ५६॥ वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम्। आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत्॥ ५७॥ अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता। पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥ ५८॥ पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा। न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥ ५९॥ कुले

जिस समय साधु पुरुष धर्म वैधकर्म करनेमें तत्पर रहते हैं; तब इनका दर्शन आदि व्यवहार मना है; इनका विवाहकार्य सजातियोंके साथ होगा॥ ५३॥ इन्हें अन्न देना हो, तो श्रेष्ठ लोग दूसरोंके द्वारा टूटे पात्रमें देवें और गांव वा नगरमें रातके समय इनका आना जाना स्वच्छन्दतासे मना है॥ ५४॥ राजाके ख्यापित किये हुए चिह्नसे चिह्नित होकर निज कार्यसाधनके वास्ते ये लोग दिनके समय इधर उधर घूमेंगे और अनाथ मुर्दोंको गांवसे बाहिर फेंकेंगे॥ ५५॥ राजदण्डसे जिनके प्राणनाशकी आज्ञा हो, ये उनका वध करेंगे और उन मरे हुओंके वस्त्र शय्या आदि इन्हें मिलेंगे॥ ५६॥ वर्णसे बाहिर विशेष रीतिसे अविदित, संकर जातिमें उत्पन्न देखनेमें आर्यपुरुषकी भांति, परन्तु यथार्थमें नीच—ऐसे पुरुषोंके कार्यको देखकर उनकी जाति निर्णय करे॥ ५७॥ अनार्यता, निठुरता और वधकार्य करना—ये सब मनुष्योंकी नीच जातित्व प्रकाश करते हैं॥ ५८॥ अधमवंशमें उत्पन्न पुरुष पितृप्रकृति वा मातृप्रकृति अथवा दोनों प्रकृतियुक्त होवे पर—अपने नीचकुलके स्वभावको किसी प्रकार छिपा नहीं सकते॥ ५९॥

मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः। संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥ यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः। राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥ ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः। स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥ अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥ शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत् प्रजायते। अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥ ६४ ॥ शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात् तथैव च ॥ ६५ ॥ अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात् तु यदृच्छया। ब्राह्मण्यामप्यनार्यात् तु

उत्तम कुलमें भी जन्मनेमें कोई दोष रहे, तो अवश्य ही चाहे थोड़ा हो, या अधिक हो—अपने पितृस्वभावका अनुसरण करेगा ॥ ६० ॥ जिस राज्यमें वर्ण दूषित सङ्कर जाति उत्पन्न होती है, वह राज्य शीघ्र ही राज्यवासी प्रजाओंके सहित नष्ट हो जाता है ॥ ६१ ॥ पुरस्कारकी आशा न करके गऊ, ब्राह्मण, स्त्री और बालक—इनमेंसे किसीको भी विपत् छुड़ानेकी इच्छासे प्राणत्याग करना प्रतिलोमज जातिवालोंको स्वर्गप्राप्तिका कारण हुआ करता है ॥ ६२ ॥ अहिंसा, सत्यबोलना, पवित्रता और इन्द्रियसंयम—ये कई एक सर्वसाधारण चारोंवर्ण और सङ्कीर्ण जातियोंके अनुष्ठेय धर्म महात्मा मनुने कहे हैं ॥ ६३ ॥ ब्राह्मणके द्वारा शूद्रा स्त्रीमें जन्मी पारशव नामक कन्या यदि ब्राह्मणसे विवाह करे और उसकी कन्यासे दूसरे ब्राह्मणका विवाह हो,—इसी प्रकार यदि ब्राह्मणसम्बन्ध लगातार सात पीढ़ीतक हो, तो सातवें जन्ममें वह पारशवाख्य वर्ण बीजकी श्रेष्ठतासे ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है। परन्तु इस ही भांति जैसे शूद्र ब्राह्मण होता है, उसी प्रकार ब्राह्मण भी शूद्रत्वको प्राप्त होता—क्षत्रिय और वैश्यके सम्बन्धमें भी ऐसा ही

श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥ जातो नार्य्यामनार्य्यायामार्य्यादार्य्यो भवेद्गुणैः। जातोऽप्यनार्य्यादार्य्यायामनार्य्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥ तावुभावप्यसंस्कार्य्याविति धर्म्मो व्यवस्थितः। वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥ सुबीजञ्चैव सुक्षेत्रे जातं सम्पद्यते यथा। तथार्य्याज्जात आर्य्यायां सर्व्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥ बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः। बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयन्तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥ अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति। अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥ यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्य्यग्जा ऋषयोऽभवन्। पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्-

---

जानो ॥ ६४।६५ ॥ ब्राह्मणके द्वारा शूद्रा स्त्रीमें पैदा हुई सन्तान और शूद्रसे ब्राह्मणी स्त्रीमें जन्मी सन्तान—इन दोनोंके बीच कौन श्रेष्ठ है? इस प्रश्नका उत्तर यह है, कि ब्राह्मणसे शूद्रामें जन्मी सन्तान पाकयज्ञानुष्ठान गुणयुक्त होनेसे विशेष श्रेष्ठ गिनी जाती है; परन्तु शूद्रसे ब्राह्मणीके गर्भसे पैदा हुई सन्तान स्वभावसे निश्चय ही नीच हुआ करती है ॥ ६६।६७ ॥ मनुके कहे नियम अनुसार पारशव वा चाण्डाल इन दोनोंके बीच कोई भी उपनयन संस्कारके योग्य नहीं है, क्योंकि पहिला तो निकृष्ट क्षेत्रसे जन्मा और दूसरा प्रतिलोमज है ॥ ६८ ॥ उत्तम खेतमें बढ़ियां बीज बोनेसे जैसे बहुत उत्तम शस्य उत्पन्न होता है, वैसे ही द्विजातियोंके द्वारा अनुलोम क्रमसे द्विजाति स्त्रियोंमें पैदा हुई सन्तान उपनयन आदि सब प्रकारसे द्विजसंस्कारके योग्य होती है ॥ ६९ पण्डितोंके बीच कोई बीजकी प्रशंसा, कोई क्षेत्रकी प्रशंसा करते और कोई क्षेत्र-बीज दोनोंकी ही प्रशंसा किया करते हैं—इस सन्देहके स्थानमें नीचे कही हुई व्यवस्था उत्तम है ॥ ७० ॥ ऊसर भूमिमें बोनेसे बीज किसी तरह अंकुरित न होके नष्ट हो जाते हैं और विना बीज बोये उर्व्वरा भूमि भी निष्फल होती है—इस लिये उत्तम बीज और

बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥ अनार्यमार्यकर्म्माणमार्यं चानार्यकर्म्मिणम्। सम्प्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ ७३ ॥ ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्म्मण्यवस्थिताः। ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्म्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्म्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥ षण्णान्तु कर्म्मणामस्य त्रीणि कर्म्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥ त्रयो धर्म्मा निवर्त्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति। अध्यापनं याजनञ्च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥ वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्त्तेरन्निति स्थितिः। न तौ प्रति हि तान् धर्म्मान् मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥ शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।

उत्तम बीज दोनोंकी प्रशंसा की गई ॥ ७ ॥ केवल बीजके प्रभावसे ही तिर्य्यग जातिमें उत्पन्न ऋष्यशृङ्ग प्रभृति ऋषित्वको प्राप्त होकर वेद विज्ञान आदिसे श्रेष्ठ तथा सब लोगोंमें पूजित हुए थे, इस लिये उत्तम बीज सदा प्रशंसित हुआ करता है ॥ ७२ ॥ ब्रह्माने विशेष रीतिसे यह निश्चय किया है, कि द्विजकर्म्म करनेवाला शूद्र और शूद्रका कार्य्य करनेवाला द्विज—ये दोनो न समान हैं और न असम ही हैं ॥ ७३ ॥ जो विप्र ब्रह्मयोनिमें रत हैं, उन्हें विधिपूर्व्वक अध्यापन आदि षट्कर्म्ममें रत रहना आवश्यक है ॥ ७४ ॥ अङ्गसहित वेद पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान लेना और दान देना—ब्राह्मणके ये षट्कर्म्म हैं ॥ ७५ ॥ षट्कर्म्मके बीच पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना ये तीनों ब्राह्मणोंकी उपजीविका कही गई है ॥ ७६ ॥ परन्तु यज्ञ कराना, पढ़ाना और दान लेना ये तीनों क्षत्रियके वास्ते वर्जित हैं। केवल पढ़ना यज्ञ करना और दान देना ये ही तीन कर्म्म क्षत्रियको करना चाहिये और क्षत्रियकी भांति वैश्यको भी ऊपरके तीनों कर्म्म त्याज्य हैं, क्योंकि प्रजापति मनुने क्षत्रिय और वैश्यके कर्त्तव्य

आजीवनार्थं धर्म्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥ वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् । वार्त्ताकर्म्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्म्मसु ॥ ८० ॥ अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्म्मणा । जीवेत् क्षत्रियधर्म्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥ उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥ वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा । हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्ज्जयेत् ॥ ८३ ॥ कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता । भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥ इदन्तु वृत्तिवैकल्यात् त्यजतो धर्म्मनैपुणम् ।

धर्मोंके बीच इनका वर्णन नहीं किया ॥ ७७॥७८ ॥ प्रजाओंकी रक्षाके लिये शस्त्र अस्त्र धारण करना क्षत्रियोंकी वृत्ति है; पशुपालन, कृषि, वाणिज्य वैश्यकी जीविका है और दान, यज्ञ तथा पढ़ना—दोनोंके ही धर्मकार्य्यके बीच गिना गया है ॥ ७९ ॥ अपने अपने धर्मके बीच ब्राह्मणका वेद पढ़ाना क्षत्रियका प्रजापालन और वैश्यका वाणिज्य पशुपालन श्रेष्ठ है ॥ ८० ॥ यदि ब्राह्मण नियमपूर्व्वक अध्यापनादि निज-वृत्तिसे कुटुम्ब पालने जीविका निभानेमें असमर्थ हो, तो गांव नगर रक्षा आदि क्षत्रियवृत्तिसे जीविका निभावे; क्योंकि यही उसकी आसन्नवृत्ति है ॥ ८१ ॥ निजवृत्ति और क्षत्रिय-वृत्तिसे भी जब ब्राह्मणकी जीविका निभनी कठिन हो, तब कृषि वाणिज्य आदि अवलम्बन करनी योग्य है ॥ ८२ ॥ वैश्यवृत्तिसे जीविका निभाती हो, तो ब्राह्मण क्षत्रिय—दोनों अधिक हिंसायुक्त गऊ आदि पशुओंके अधीन कृषिकार्य्यको यत्नपूर्व्वक छोड़ देवें ॥ ८३ ॥ यद्यपि कोई कोई कृषिकी प्रशंसा किया करते हैं, तथापि वह सज्जनोंमें निन्दित है, क्योंकि उसमें हल कुदाल आदिसे अनेक प्राणियोंके नष्ट होनेकी सम्भावना है ॥ ८४ ॥ ब्राह्मण और क्षत्रियको निज वृत्तिका अभाव तथा धर्म्मनिष्ठामें व्याघात होनेसे

विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्द्धनम् ॥ ८५ ॥ सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नञ्च तिलैः सह। अश्मनो लवणञ्चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥ सर्वञ्च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च। अपि चेत् स्युररक्तानि फलमूले तथौषधी ॥ ८७ ॥ अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः। क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥ आरण्यांश्च पशून् सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च। मद्यं नीलिञ्च लाक्षाञ्च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥ काममुत्पाद्य कृष्यान्तु स्वयमेव कृषीवलः। विक्रीणीत तिलान् शुद्धान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥ भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत् कुरुते तिलैः। कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥ सद्यः पतति मांसेन इतरेषान्तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः। ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभाव

वर्जित वस्तुओंको छोड़के नफ़्‌के बेचने योग्य चीजोंको बेंचकर वह अपनी जीविका निभावें ॥ ८५ ॥ सब तरहके रस, तिल, पत्थर, पकाया हुआ अन्न, नमक, पशु और मनुष्य—इन सब चीजोंका बेंचना मना है ॥ ८६ ॥ कुसुम आदिसे लाल रंगके रंगे सब तरहके वस्त्र, सन और अलसी सूतके बने कपड़े तथा ऊनी वस्त्र इत्यादि बेंचना मना है ॥ ८७ ॥ जल, शस्त्र, विष, मांस, सोमरस, सब तरहकी सुगन्धित चीजें, दूध, दही, मोम, घृत, तेल, मधु, गुड़, और कुश—इन चीजोंका बेंचना भी मना है ॥ ८८ ॥ सब तरहके जङ्गली पशु विशेष करके हाथी इत्यादि दांतवाले जानवर, एक खुरवाले पशु, पक्षी, नील, मद्य और लाह—इन चीजोंका बचना मना है ॥ ८९ ॥ भोजन, उबटन और दानके सिवा यदि कोई तिलको अन्य रीतिसे व्यवहार वा बिक्री आदि करे तो वह पितरोंके सहित विष्ठाका कीड़ा होता है। जमीनमें स्वयं बीज बोके तिल उत्पन्न करके पवित्रतासे धर्महित बेंच सकते हैं, परन्तु लाभकी इच्छासे देरतक इसको बेंचना मना है ॥ ९०।९१ ॥ ब्राह्मण,—

लाक्षया लवणेन च। त्र्यहेण शूद्री भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥ नियच्छति ॥ ९३ ॥ रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः। कृतान्नञ्चा-कृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥ जीवेदेतेन राजन्यः सर्व्वेणाप्यनयं गतः। न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥ यो लोभा-दधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्म्मभिः। तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥ वरं स्वधर्म्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः। परधर्म्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥ ९७ ॥ वैश्योऽजीवन् स्वधर्म्मेण शूद्र-वृत्त्यापि वर्त्तयेत्। अनाचरन्नकार्य्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥

मांस, नमक और लोह बेंचते ही पतित होता है; तीन दिन दूध बेचनेसे शूद्रत्वको प्राप्त हुआ करता है ॥ ९२ ॥ मांस आदिके सिवा अन्य निषिद्ध वस्तुओंको इच्छापूर्व्वक लगातार सात दिनतक बेंचनेसे ब्राह्मण वैश्यत्वको प्राप्त होता है ॥ ९३ ॥ एक तरहकी रसवस्तु देकर दूसरी रसकी चीज लीजा सकती है, परन्तु रसकी चीजके साथ नमककी अदला बदली नहीं होती, पकाये अन्नके साथ आमान्नकी बदली हो सकती है और धान्यके बदले तिल लिया जा सकता है; परन्तु समान परिमाणसे देना होता है ॥ ९४ ॥ आपत्कालमें पड़नेसे ब्राह्मणके वास्ते जैसी जीविका कही है, क्षत्रिय विपदग्रस्त होनेसे उस ही प्रकार जीविका निभावे परन्तु कदापि विप्रवृत्ति अवलम्बन न कर सकेगा ॥ ९५ ॥ यदि कोई नीच जातिका पुरुष ऊंची जातिकी वृत्ति अवलम्बन करके जीविका निभावे, तो राजा उसका सर्व्वस्व हरके उसे देश बाहिर कर देवें ॥ ९६ ॥ अपना धर्म्म निकृष्ट होनेपर भी करने योग्य है और दूसरेका धर्म्म उत्तम होनेपर भी लोगोंको अवलम्बन न करना चाहिये, क्योंकि जात्यन्तर धर्म्मसे जीवन धारण करनेसे मनुष्य उस ही समय अपनी जातिसे भ्रष्ट होता है ॥ ९७ ॥ वैश्य निज धर्म्मसे जीविका

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्त्तुं द्विजन्मनाम्। पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत कारुककर्म्मभिः॥ ९९॥ यैः कर्म्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः। तानि कारुककर्म्माणि शिल्पानि विविधानि च॥ १००॥ वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः। अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्म्मं समाचरेत्॥ १०१॥ सर्व्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्म्मतो नोपपद्यते॥ १०२॥ नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात्। दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते॥ १०३॥ जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते॥ १०४॥ अजीगर्त्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः। न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रती-

---

निभाने में असमर्थ हो, तो जूठा भोजन आदि अनाचार छोड़कर विज हिंसा प्रभृति शूद्रवृत्तिसे जीविका निभावे परन्तु आपत्से कटते ही शूद्रवृत्ति परित्याग करे॥ ९८॥ यदि अपनी वृत्तिसे स्त्री पुत्रोंका भरण-पोषण न कर सके, तो कारुकादि कार्य्यसे जीविका चलावे॥ ९९॥ जिन कार्य्योंसे द्विजोंकी सेवा होती है, वैसे विविध शिल्प और कारुकर्म करे॥ १००॥ निजमार्गमें स्थित ब्राह्मण, वृत्तिके अभावसे पीड़ित होके भी यदि क्षत्रिय वा वैश्यवृत्ति अवलम्बन न करे, तो उसे नीचे कही वृत्ति अवलम्बन करनी चाहिये॥ १०१॥ विपद्ग्रस्त ब्राह्मण सब लोगोंसे प्रतिग्रह ले सकता है, जो स्वयं पवित्र है, वह दोषसे दूषित हो, ऐसा धर्म्मपूर्व्वक सिद्ध नहीं हो सकता॥ १०२॥ ब्राह्मण स्वभावसे ही जल और अग्निकी भांति पवित्र हैं, आपत्कालमें निन्दितको यज्ञ कराने पढ़ाने और दान लेनेसे भी उन्हें अधर्म्म नहीं होता॥ १०३॥ प्राण-सङ्कटकी सम्भावना रहनेसे ब्राह्मण यदि नीचका भी अन्न ले, तो भी उसमें इस प्रकार पापकी शङ्का नहीं रहती, जैसे आकाशपङ्कमें लिप्त नहीं होता॥ १०४॥ भूखे अजीगर्त्त ऋषि अपने पुत्रको मारनेके वास्ते

क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥ श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः । प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥ भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने । बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥ क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् । चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥ प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि । प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥ याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् । प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥ जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तन्तु त्यागेन तपसैव

उद्यत हुए थे, तो भी भूखके प्रतिकार पाना उनका उद्देश्य रहा, इसी लिये वह पापसे लिप्त नहीं हुए। १०५ ॥ धर्म अधर्म जाननेवाले वामदेव ऋषि भूखे होनेपर प्राण रखानेवाले कुत्तेका मांस खानेके अभिप्राय हुए तौभी वह पापमें न फंसे ॥ १०६ ॥ महातपस्वी निवसित भरद्वाज मुनिने क्षुधासे पीड़ित होनेसे निर्जन वनमें वृधुनाम तक्षकसे बहुतसी गौवें लीं, तौभी वह पापसे लिप्त नहीं हुए ॥ १०७ ॥ धर्म अधर्मके जाननेवाले विश्वामित्र ऋषि भूखे होनेपर चाण्डालके हाथसे कुत्तेका मांस लेकर खानेमें प्रवृत्त हुए, तौभी वह पापमें न फंसे ॥ १०८ ॥ ब्राह्मणके विहित अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह— इन तीनोंके बीच प्रतिग्रह ही बहुत निकृष्ट है ॥ १०९ ॥ उपनयन संस्कारसे युक्त द्विजातियोंके याजन अध्यापन कार्य ब्राह्मणको नित्य करना योग्य है; परन्तु आपत्कालमें निकृष्ट जाति शूद्रका भी प्रतिग्रह लेना उचित है ॥ ११० ॥ जप और होमसे शूद्र आदि नीच-जातियोंके याजन अध्यापनसे उत्पन्न पाप विनष्ट हुआ करता है अवत् प्रतिग्रहसे उत्पन्न पाप नष्ट होनेके लिये दान दी हुई वस्तुओंको परित्याग करके तथा अहोनिशा केवल दूध पीना इत्यादि वा तपस्या

च ॥ १११ ॥ शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन् यतस्ततः । प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥ सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः । याच्यः स्यात् स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥ अकृतञ्च कृतात् क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च । हिरण्यं धान्यमन्नञ्च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥ सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः । प्रयोगः कर्म्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥ विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः । धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदञ्च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् । कामन्तु खलु धर्म्मार्थं दद्यात् पापीयसेऽल्पिकाम् ॥ ११७ ॥ चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमा-

---

आवश्यक है ॥ १११ ॥ निजवृत्तिसे जीविका न चल सके, तो ब्राह्मण उपपातकी प्रभृतिके निकट शिलोञ्छ वृत्तिसे यथासे जीविका निबाहे ॥ क्योंकि असत् प्रतिग्रहसे शिल्प श्रेष्ठ है और उससे उञ्छवृत्ति अधिक श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥ निर्धन स्नातक ब्राह्मण, धान्यवस्त्र आदि, चांदी, तांबा—कांसा इत्यादिकी बनी हुई चीजों या धनका अभिलाषी होकर क्षत्रियसे मांगे और यदि वह न देना चाहे तो उसे परित्याग करे ॥ ११३ ॥ जोती हुई भूमिके ग्रहणसे बिना जोती भूमिका ग्रहणका प्रतिग्रह श्रेष्ठ है और गऊ, बकरी, भेड़, सुवर्ण धान्य तथा सिद्धान्न—इन वस्तुओंमें नीचेकी चीजोंसे ऊपर वाली वस्तुओंका प्रतिग्रह श्रेष्ठ है ॥ ११४ ॥ हिस्सा, किसीसे मिला हुआ, खरीदी, जीतना, धान्य आदिकी वृद्धि, कृषि, वाणिज्य और सत् प्रतिग्रहसे प्राप्त हुआ धन यह सात प्रकारकी धनप्राप्ति धर्मसङ्गत है ॥ ११५ ॥ विद्या, शिल्पकार्य्य, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य खेती धारणमें सन्तोष, भिक्षावृत्ति और व्याजके लिये धन लगाना—ये दसों लोगोंके जीवन निभानेके कारण ॥ ११६ ॥ ब्राह्मण वा क्षत्रियको चाहिये कि कदापि व्याज लेकर ऋण न दे; परन्तु केवल धर्म्मकार्य्यके वास्ते

पदि। प्रजा रक्षन् परं शक्त्या किल्बिषात् प्रतिमुच्यते ॥ ११८ ॥ स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात् पराङ्मुखः। शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥ ११९ ॥ धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम्। कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ १२० ॥ शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन् क्षत्रमाराधयेद्यदि। धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥ १२१ स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत् तु सः। जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १२२ ॥ विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते। यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३ ॥ प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः

थोड़े ब्याजपर हीनकर्म्मवाले लोगोंको ऋण दे सकता है ॥ ११७ ॥ सामर्थ्यके अनुसार प्रजाकी रक्षा करते हुए जो राजा आपत्कालमें धान्यका चौथा हिस्सा कर लेता है, उसे अधिक कर ग्रहणका पापमें लिप्त नहीं होना होता ॥ ११८ ॥ युद्ध करना राजाका धर्म्म है, इस लिये प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाको कदापि युद्धसे पीछे हटना उचित नहीं है ॥ शस्त्रके सहारे सदा वैश्यकी रक्षा करते हुए धर्म्मपूर्व्वक उससे कर लेवे ॥ ११९ ॥ आपत्कालमें धान्यका आठवां हिस्सा और अत्यन्त आपत्कालमें चौथा हिस्सा वैश्यके निकटसे राजाको कर लेना उचित है। सुवर्णादि कार्षापण पर्य्यन्त बीसवां हिस्सा लेना योग्य है; शूद्र, सूपकार और शिल्पी आदिसे कार्य्य करा लेना उचित है—इनसे कदापि कर न लेना चाहिये ॥ १२० ॥ ब्राह्मणकी सेवा करनेसे यदि शूद्रकी जीविका न चले, तो क्षत्रियकी सेवा करे और उसके अभावमें धनशाली वैश्यकी सेवा करके जीविका निभावे ॥ १२१ ॥ स्वर्ग पाने अथवा स्वर्ग और निज जीविका—दोनोंके लिये ब्राह्मण, शूद्रका आराधनीय है। "ब्राह्मण-सेवक"—इस शब्द विशेषणसे ही शूद्र कृतार्थ होता है ॥ १२२ ॥ विप्रसेवा ही शूद्रके लिये श्रेष्ठ कार्य्य है और

स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः । शक्तिञ्चावेक्ष्य दाक्ष्यञ्च भृत्यानाञ्च परिग्रहम् ॥ १२४ ॥ उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च । पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥ १२५ ॥ न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति । नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम् ॥ १२६ ॥ धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तिमनुष्ठिताः । मन्त्रवर्ज्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥ यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः । तथा तथेमञ्चामुञ्च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥ शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्य्यो धनसञ्चयः । शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥ एते चतुर्णां वर्णानामा-

---

इसके सिवा जो कुछ वह करे सब निष्फल है ॥ १२३ ॥ शूद्र सेवककी सेवाकी सामर्थ्य, कार्य्यकी निपुणता और उसके पालनपोषण करने योग्य लोगोंका परिमाण विशेष रीतिसे विचारकर ब्राह्मणको शूद्रका वेतन निश्चित करना उचित है ॥ १२४ ॥ ब्राह्मण सेवक शूद्रको खानेके लिये जूठा अन्न, पहरनेके लिये पुराना वस्त्र, सोनेके लिये पुरानी शय्या और धान्यका चावल शूद्रको देवे ॥ १२५ ॥ लशुन आदि बुरीचीजोंके खानेसे शूद्रको पाप नहीं है। उपनयनसंस्कार नहीं, अग्निहोत्र आदि यज्ञोंमें अधिकार नहीं और पाकयज्ञ इत्यादि कार्य्योंमें निषेध भी नहीं है ॥ १२६ ॥ धर्म्म जाननेवाला सदाचारी शूद्र धनका इच्छुक होकर अनुष्ठित पञ्च महायज्ञोंको मन्त्ररहित करनेसे लोकसमाजमें निन्दनीय नहीं होता, बल्कि प्रशंसाभाजन हुआ करता है ॥ १२७ ॥ निन्दारहित शूद्र जिस प्रकार सद्वृत्तियोंके करनेमें प्रवृत्त होता है, उस ही भांति इस लोकमें मान और परलोकमें स्वर्ग पाता है ॥ १२८ ॥ धन पैदा करनेमें समर्थ होनेपर भी शूद्रको धन सञ्चयके लिये यत्नवान् होना उचित नहीं है; क्योंकि शास्त्रज्ञान रहित शूद्र धनमदसे मतवाला होकर ब्राह्मण अवमानना कर सकता है ॥ १२९ ॥ चारों वर्णोंके

पद्धर्माः प्रकीर्तिताः। यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥ एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्त्तितः। अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः।

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सार्ववेदसम्। गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्या-यार्थ्युपतापिनः ॥ १ ॥ नवैतान् स्नातकान् विद्याद्ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान्।

आपत्कालके धर्म कहे गये, उनको करनेसे लोगों परमगति अर्थात् अर्थात् मुक्ति मिलती है ॥ १३० ॥ चारों वर्णोंकी यह सारी धर्मविधि विस्तारसे कही गई—अब प्रायश्चित्तकी विधि विशेष रीतिसे कहता हूआ ॥ १३१ ॥

१० अध्याय समाप्त।

अथ ग्यारहवां अध्याय।

(१) सन्तानके लिये विवाहकी इच्छावाले, (२) यज्ञके अभिलाषी, (३) पान्थ अर्थात् रस्ता चलनेवाले, (५।६।७) गुरु वा पिता माताके पोषण-वस्त्रके वास्ते जिन्हें धनकी आवश्यकता है, (८) पढ़नेवाले और (९) रोगी—इन नव प्रकारके ब्राह्मणोंको धर्मभिक्षुक स्नातक जानो। ये

निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥ एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् । इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥ सर्व्व-रत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् । ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥ कृतदारोऽपरान् दारान् भिक्षित्वा योऽधिगच्छति । रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्ततिः ॥ ५ ॥ धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् । वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥ यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्य्याप्तं भृत्यवृत्तये अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥ अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः । स पीतसोमपूर्व्वोऽपि न तस्याप्नोति तत् फलम् ॥ ८ ॥ शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।

आदि निर्धन लोग विद्यावत्ताके अनुसार दान करें ॥ १।२ ॥ इन सब प्रकारके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको यज्ञवेदीके बीच बैठाकर दक्षिणाके समय अन्नदान करे ; इनके सिवा यज्ञवेदीके बाहिर अन्यान्य ब्राह्मणोंको अन्न देवे ॥ ३ ॥ यथायोग्य रत्न और यज्ञकी दक्षिणा राजा वेद जाननेवालों तथा इन ब्राह्मणोंको प्रदान करे ॥ ४ ॥ विवाहित पुरुष भीख मांगकर यदि और एक दार-परिग्रह करे, तो उसको उस विवाहसे केवल रतिमात्र ही फल होगा ; इस विवाहसे पैदा हुई सन्तान धनदाताकी होगी ॥ ५ ॥ सामर्थ्यके अनुसार वेदज्ञ और संसार आसक्तिरहित ब्राह्मणोंको धनदान करना उचित है, इन्हें धनदान करनेसे परलोकमें स्वर्ग मिलता है ॥ ६ ॥ तीन वर्ष वा उससे अधिक अवश्य पालनयोग्य [illegible]के योग्य लोगोंके लिये जिसके घरमें अन्न रहता है, वह सोमपानके योग्य है ॥ ७ ॥ इनसे अल्प धन सञ्चितवाले द्विज यदि सोमपान करे, तो वह सोमपान करनेपर भी सोमयज्ञका फल नहीं पाता ॥ ८ ॥ अपने पिता, माता, भाई, आदि स्वजन लोग खाने पहरनेका कष्ट पाते हों, और दूसरेको दान करनेके समय जो शक्ति नहीं है—उसका वह

मध्वापातो विषास्वादः स धर्म्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥ भृत्यानामुपरोधेन यत् करोत्यौर्द्ध्वदेहिकम् । तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥ यज्ञश्चेत् प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्म्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥ यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः । कुटुम्बात् तस्य तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥ आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः । न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥ योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः । तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥ आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः । तथा यशोऽस्य प्रथते धर्म्मश्चैव प्रवर्द्धते ॥ १५ ॥ तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता । अश्वस्तन-

---

दान धर्म्म, धर्म्मकी छायामात्र जानो, वह देखनेमें मधुर परन्तु उसका परिणाम विषमय है ॥ ९ ॥ पालन करने योग्य लोगोंको न देकर जो पारलौकिक बुद्धिसे दान किया जाता है, उसका दुःखमय परिणाम जीवित अवस्थामें तथा मरणेके अनन्तर पुरुष भोग करता है ॥ १० ॥ यज्ञ करनेवाला विशेष करके ब्राह्मणका यज्ञ यदि द्रव्यके बिना रुक जावे, तो धार्म्मिक राजाके राज्यमें वास करनेसे वह ब्राह्मण जिस वैश्यके अधिक हो, परन्तु यज्ञाङ्ग हीन रहे, तथा सोमपान न करता हो, उससे यज्ञके लिये धन मांग लेवे वा बलपूर्व्वक हरण करके अपने यज्ञका अङ्ग पूरा करे ॥ ११।१२ ॥ वैश्यसे न रहने पर शूद्रके घरसे दो वा तीन यज्ञीय चीजें लेवे क्योंकि शूद्रका किसी यज्ञमें सम्बन्ध नहीं है ॥ १३ ॥ अथवा जो ब्राह्मण वा क्षत्रिय साग्निक नहीं हैं और एक सौ गौवोंसे युक्त हों, और जो लोग साग्निक हैं, परन्तु यज्ञ रहित तथा एक हजार गौवोंसे युक्त हों उनके घरसे इन यज्ञकी चीजोंको निःशङ्कचित्तसे लेवे ॥ १४ ॥ जो पुरुष प्रतिग्रह आदिसे प्रति दिन धन इकट्ठा करता है, परन्तु इष्टापूर्त्त कार्य्यमें कुछ भी नहीं खर्च करता—उससे बलपूर्व्वक यज्ञकी वस्तुओंको

विधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥ खलात् क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्यु-
पलभ्यते । आख्यातव्यन्तु तत् तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७ ॥ ब्राह्मणस्वं
न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन । दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥
१८ ॥ योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति । स कृत्वा प्लवमा-
त्मानं सन्तारयति तावुभौ ॥ १९ ॥ यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।
अयज्वनान्तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥ न तस्मिन् धारयेद्दण्डं
धार्मिकः पृथिवीपतिः । क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥
२१ ॥ तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः । श्रुतशीले च विज्ञाय

छेदकर अन्न पूरा करे; इससे उसको प्रतिष्ठा और धर्मवृद्धि होगी ॥ १५ ॥
छः वेला अर्थात् तीन दिन भात खानेको न मिले तो सातवें वेलामें दान
धर्म रहित नीच लोगोंसे बरसे एक दिनके योग्य खानेकी चीजोंको
हरण कर सकता है ॥ १६ ॥ इन दान धर्महीन पुरुषोंके खेत, खत्ता, गृह
या किसी एक स्थानसे अन्न चोरी करनेपर जब खेतका स्वामी पूंछे तो
चुरानेका कारण बतला दे ॥ १७ ॥ ब्राह्मण क्षत्रियको कभी भी हरना
न चाहिये, तब प्रतिषिद्धसेवी विहित कर्मोंको न करनेवाले ब्राह्मणकी
यज्ञ सामग्री यज्ञकार्य न चल सकनेपर क्षत्रिय भी हरण कर सकता है ॥
१८ ॥ जो पुरुष दुष्टोंका धन हरके साधुओंको देता है, वह अपनेको
नौकारूपी करके उन दुष्टोंको अपने सहित प्रतिग्रहदेनेवाले ब्राह्मणोंके
साथ दुःखसागरसे पार करता है ॥ १९ ॥ यज्ञ करनेवालोंके धनको ज्ञानी-
लोग देवस्व समझते हैं और यज्ञहीन पुरुषके धनको राक्षसोंका जानो ॥
२० ॥ यज्ञके लिये जबर्दस्ती वा चोरी करके असुरस्व हरनेवालोंको
धार्मिक राजा दण्ड न देवे। क्योंकि राजाकी मूर्खतासे ही ब्राह्मण
क्षुधासे पीड़ित होते हैं ॥ २१ ॥ अवलम्ब ब्राह्मणके पालनीय लोगों
शास्त्र ज्ञान तथा सदाचारको विशेष रीतिसे जानके राजा उसके वास्ते

वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥ कल्पयित्वास्य वृत्तिञ्च रक्षेदेनं समन्ततः। राजा हि धर्म्मषड्भागं तस्मात् प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥ न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित्। यजमानो हि भिक्षित्वा चाण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥ यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्व्वं प्रयच्छति। स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥ देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः। स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥ इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्व्वपेदब्दपर्य्यये। क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥ २७ ॥ आपत्कल्पेन यो धर्म्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः। स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥ विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः। आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥ प्रभुः

अपने कुलजानेसे वृत्ति नियत करे ॥ २२ ॥ ब्राह्मणको इस प्रकार वृत्ति देनेसे राजाका उसे चोरी आदिसे बचाना सिद्ध होता है और इस भांति रक्षा करनेसे ही राजा ब्राह्मणोंके पुण्यका छठवां हिस्सा फलभागी होता है ॥ २३ ॥ यज्ञके वास्ते शूद्रसे धन मांगना ब्राह्मणको कदापि उचित नहीं है, ऐसा करनेसे ब्राह्मण दूसरे जन्ममें चाण्डाल होता है ॥ २४ ॥ यज्ञोंके लिये धन मांगके जो पुरुष उसे नहीं खर्च करता, वह उसही पापसे दूसरे जन्ममें एक सौ वर्षतक कौवा होता है ॥ २५ ॥ जो पुरुष लोभसे देवस्व वा ब्राह्मणस्व हरता है, वह पापी दूसरे जन्ममें गिद्धका जंठा खाता है ॥ २६ ॥ यदि पशुयज्ञ और सोमयज्ञ न भया हो, तो उसका दोष छुड़ानेके लिये शूद्रसे भी धन लेकर ब्राह्मण वर्षके शेषमें वैश्वानरी इष्टि करे ॥ २७ ॥ जो द्विज अनापतकालमें भी आपत्कालका धर्म्म करता है, वह परलोकमें उस कर्म्मका फल नहीं पाता—यह स्थिर सिद्धान्त है ॥ २८ ॥ विश्वेदेव नाम देवता, साध्यगण, ब्राह्मण और महर्षि लोगोंने प्राणसंशयरूपी आपतकालमें प्रतिनिधिरूपसे वैश्वानरी प्रभृति इष्टि

प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते। न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥ न ब्राह्मणो वेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्म्मवित्। स्ववीर्य्येणैव ताञ् शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥ स्ववीर्य्याद्राजवीर्य्याच्च स्ववीर्य्यं बलवत्तरम्। तस्मात् स्वेनैव वीर्य्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः ॥ ३२ ॥ श्रुतीरथर्व्वाङ्गिरसीः कुर्य्यादित्यविचारयन्। वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥ ३३ ॥ क्षत्रियो बाहुवीर्य्येण तरेदापदमात्मनः। धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥ विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते। तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥ न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः। होता स्यादग्निहोत्रस्य

लिये हैं ॥ २९ ॥ प्रथम कल्पमें कहे हुए कार्य्योंके करनेकी सामर्थ्य रहने-पर भी जो पुरुष अनुकल्प विधिसे कार्य्योंको करता है, उसे परलोकमें कोई फल नहीं मिलता ॥ ३० ॥ धर्म्म जाननेवाला ब्राह्मण राजाके पास किसी प्रकारकी बुराईका आवेदन न करे; अपने सामर्थ्यसे ही बुराई करनेवाले मनुष्यको शासन करे ॥ ३१ ॥ निज शक्ति और राजशक्ति—इन दोनो शक्तियोंके बीच उसकी अपनी शक्ति ही बलिष्ठ है; इसलिये द्विज अपने प्रभावसे ही शत्रुओंको निग्रह करे ॥ ३२ ॥ कुछ भी विचार न करके उस समय वह अथर्व वेदमें कही हुई आङ्गिरसी श्रुति अर्थात् अभिचार मन्त्र आदि पाठ करे; वचन ही ब्राह्मणका अस्त्र है, उसहीसे वह शत्रुका विनाश करे ॥ ३३ ॥ क्षत्रिय बाहुबलके सहारे आपतसे पार होवे, वैश्य और शूद्र धनसे और ब्राह्मण जप होमसे विपतसे छूटेगा ॥ ३४ ॥ विहित कार्य्योंके करनेवाले जनसमाजके उपदेशक, धर्म्म शासन करनेवाले, सब भूतोंमें जिनका मित्र भाव है,—वे द्विज ही यथार्थ ब्राह्मणपदके योग्य हैं, उन्हें कोई बुरा वा रूखा वचन न कहे ॥ ३५ ॥ अनूढ़ा कन्या, युवती थोड़ी विद्यावाले, मूर्ख, रोगपीड़ित और अनुपनीत—

नार्त्तो नासंस्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥ नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत् । तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥ प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् । अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥ पुण्यान्यन्यानि कुर्व्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः । न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्त्तिं प्रजाः पशून् । हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥ अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः । चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥ ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते । ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥ तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् । पदा मस्तक-

---

ये श्रुति और स्मृतिमें कहे हुए अग्निहोत्र होमके अधिकारी नहीं हैं ॥ ३६ ॥ ये कन्या इत्यादि यदि होम करें, तो नरकगामी हों, और ये होमकार्यमें जिसकी प्रतिनिधि हों, वह पुरुष भी नरकमें पड़े, इसलिये वेद जाननेवाले ब्राह्मण ही होता होवें ॥३७॥ धन रहते जो लोग अग्निहोत्र कार्य्यमें ऋत्विक ब्राह्मण और प्रजापति देवताको अश्व दक्षिणा न दें तो, तो उन्हें अग्न्याधानका फल नहीं मिलता, बल्कि वे निरग्निक ही रहते हैं ॥ ३८ ॥ श्रद्धावान और जितेन्द्रिय होकर बल्कि अन्यान्य पुण्यकार्य्यों को करना उचित है, परन्तु थोड़ी दक्षिणा देकर कदापि यज्ञ न करावें ॥ ३९ ॥ थोड़े दक्षिणावाली यज्ञ,—नेत्र आदि इन्द्रियों, बड़ाई, स्वर्ग, आयु, कीर्त्ति, पुत्रादि प्रजा और पशु—इन सबको नष्ट करती है ; इसलिये थोड़े धनवाला पुरुष यज्ञ न करे ॥ ४० ॥ अग्निहोत्री यदि सन्ध्या सवेरे इच्छापूर्व्वक होम न करे, तो उसके लिये एक महीनेतक चान्द्रायण व्रत करना होता, क्योंकि उस होम न करनेसे पुत्रहत्याके तुल्य पाप होता है ॥ ४१ ॥ जो लोग शूद्रसे धन लेकर उससे अग्निहोत्र करते हैं, ब्रह्मवादियोंके मतमें वे अत्यन्त निन्दित और शूद्रयाजी हैं ॥ ४२ ॥ जो शूद्रके धनसे अग्निहोत्र

भाक्रम्य दाता दुर्गाणि सन्तरेत् ॥ ४३ ॥ अकुर्व्वन् विहितं कर्म्म निन्दितञ्च समाचरन्। प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥ अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः । कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥ अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात् प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥ प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात् पूर्व्वकृतेन वा । न संसर्गं व्रजेत् सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥ इह दुश्चरितैः केचित् केचित् पूर्व्वकृतैस्तथा । प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥४८ सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् । ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥ पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् । धान्य-

---

करता है, उस अज्ञानीके शिरपर भूत्र पांव रखके नरकसे पार होता है ॥ ४३ ॥ शास्त्रमें कहे हुए धर्म्म न करने, निन्दित कार्य्य और इन्द्रियोंके विषयमें अत्यन्त आसक्त होनेपर मनुष्य प्रायश्चित्तके योग्य होता है ॥ ४४ ॥ कोई कोई पण्डित बिना जाने हुए पाप करनेपर ही प्रायश्चित्तकी विधि कहते हैं और कोई कोई वेद प्रमाणसे कहते हैं, कि जानके किया हुआ पाप भी प्रायश्चित्तसे छूट जाता है ॥ ४५ ॥ बिना जाने किया हुआ पाप वेद पढ़नेसे नष्ट होता, परन्तु राग द्वेष और मोहसे किये हुए पापोंके अनेक तरहके प्रायश्चित्त हैं ॥ ४६ ॥ इस जन्ममें दैवात् प्रमाद आदिसे पापके लिये हो अथवा पूर्व्व जन्मके किये हुए पापोंके वास्ते ही होवे प्रायश्चित्त करनेके योग्य होकर जो द्विज प्रायश्चित्त नहीं करता, उसे साधुओंके साथ संसर्ग करना उचित नहीं है ॥ ४७ ॥ कोई कोई दुरात्मा इस जन्म वा पूर्व्वजन्मके पापसे कुनखी इत्यादि होते हैं ॥ ४८ ॥ सोना चुरानेवाला कुनखी होता है, मद्य पीनेवालेके काले दांत होते हैं, ब्रह्महत्यारेको क्षयीरोग होता है और गुरु-स्त्रीगमन करनेवालेको विकोषमेहन होता है ॥ ४९ ॥ विद्यमान दोषी चुगल दुर्गन्धनासायुक्त

चौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यन्तु मिश्रकः ॥५०॥ अन्नहर्त्तामयावित्वं मौक्यं वागप-हारकः। वस्त्रापहारकः श्वैत्रं पङ्गुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥ दीपहर्त्ता भवेदन्धः काणो निर्व्वापको भवेत्। हिंसया व्याधिभूयस्त्वं स्फीतोऽन्यस्त्र्यभिमर्षकः॥५२॥ एवं कर्म्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः। जड़-मूकान्ध-बधिरा विकृता-कृतयस्तथा ॥ ५३ ॥ चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये। निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५४ ॥ ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्व्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५५ ॥ अनृतञ्च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्। गुरोश्चालीकनिर्ब्बन्धः समानि

होता है; सूचक अर्थात् जो दूसरेका मिथ्या दोष कहता है, उसके मुखमें दुर्गन्ध होता है; धान्य चुरानेवाला अङ्गहीन होता है और मिश्रक अर्थात् एक वस्तुमें दूसरी चीज़ मिलाकर लाभकी आशासे बेंचनेवाला अधिक अङ्गयुक्त होता है ॥ ५० ॥ अन्न चुरानेवाला मन्दाग्नियुक्त होता और गुरुके बिना सिखाये दूसरेका पाठ सुनके पढ़नेवाला पुरुष बहिरा होता है, वस्त्र चुरानेवालेको श्वेतकुष्ठ होता और घोड़ा चुरानेवाला खञ्ज होता है ॥ ५१ ॥ दीपक चुरानेवाला अन्धा, दीप बुझानेवाला काना प्राणिहिंसा करनेवाला अनेक रोगोंसे युक्त और परस्त्रीगामी वातव्याधिसे स्थूल शरीरयुक्त होता है ॥ ५२ ॥ इस ही प्रकार पृथक् पृथक् कार्य्योंसे सज्जनोंसे घृणित, जड़, बधिर, अन्धे गंगे और विकृत-रूपवाले मनुष्य जन्मते हैं ॥ ५३ ॥ इसही लिये पाप छुड़ानेके वास्ते नित्य प्रायश्चित्त करना योग्य है। पाप न छूटनेसे निन्दनीय लक्षण युक्त होकर जन्मना पड़ता है ॥ ५४ ॥ ब्रह्महत्या, निषिद्ध मद्य पीना, ब्राह्मणका सुवर्ण हरना, गुरुपत्नी अर्थात् विमाता आदिका गमन तथा इन सब पापियोंके सङ्ग एक वर्षतक रहना—इन पांचोंको "महापातक" कहते हैं ॥ ५५ ॥ अपने जातिकी श्रेष्ठता जतानेके लिये झूठ बोलना राजाके पास दूसरेके झूठे

ब्रह्महत्यया ॥ ५६ ॥ ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः। गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५७ ॥ निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च। भूमि-वज्र-मणीनाञ्च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५८ ॥ रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च। सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५९ ॥ गोवधोऽयाज्यसंयाजपारदार्यात्मविक्रयाः। गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥६०॥ परिवित्तितानुजेऽनूढ़े परिवेदनमेव च। तयोर्दानञ्च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६१ ॥ कन्याया दूषणञ्चैव वार्द्धुष्यं व्रतलोपनम्। तड़ागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६२ ॥ व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च। भृत्याच्चाध्ययनादानमपण्यानाञ्च विक्रयः ॥ ६३ ॥ सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्त्तनम्। हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो

दोष लोपना और गुरुके विषयमें मिथ्या वचन कहना, ये भी ब्रह्महत्याके "समान पातक" वा "उपपातक" हैं ॥ ५६ ॥ अभ्यास न करनेसे ब्राह्मणका वेद भूलना, वेदकी निन्दा, गवाहीके स्थानमें झूठ बोलना, मित्रवध, लशुन आदि निन्दित तथा विष्ठा आदि अखाद्य वस्तुओंको खाना—ये छ मद्य पीनेके "समान पातक" हैं ॥ ५७ ॥ धरोहर चीज हरना, घोड़ा, रूपा, भूमि, हीरा और मणि चुराना—ये सुवर्ण चोरीके "समान पातक" हैं ॥ ५८ ॥ सहोदरा बहिन, कुमारी चाण्डाली सखा और पुत्रकी भार्य्याके गमन करना गुरुपत्नी गमनके तुल्य पाप है। समान पातक वा अनुपातकमें महापातकसे कम प्रायश्चित्त होगा, पूर्व्वोक्त बारह प्रकारके पाप अनुपातक हैं ॥ ५९ ॥ गोहत्या, अयाजयाजन, परस्त्री गमन, अपनेको बेंचना, पिता माता तथा गुरुको छोड़ना स्वाध्याय और स्मार्त्त अग्निको त्यागना, पुत्रको छोड़ना अर्थात् पुत्रका जातकर्म्म संस्कार आदि न करना, जेठेके क्वांरे रहते छहुरे भाईका विवाह वा परिवेदन; इसही प्रकार जेठेका भी परिवित्तत्व;—इन दोनो भाइयोंको कन्यादान करना; वा बगीचा अथवा स्त्री पुत्रोंको बेंचना सोलह वर्ष बीतनेपर भी उपनयन

मूलकर्म च ॥ ६४ ॥ इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्। आत्मार्थञ्च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥ ६५ ॥ अनाहिताग्निता स्तेयमृणाना-मनपक्रिया। असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलवस्य च क्रिया ॥ ६६ ॥ धान्य-कुप्य पशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम्। स्त्री-शूद्र-विट्-क्षत्रवधो नास्तिक्यञ्चो-पपातकम् ॥ ६७ ॥ ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः। जैह्मञ्च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६८ ॥ खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविक-

---

इस विवाहमें पुरोहित करना; बिना ऋतुमती कन्याको दूषित करना; ब्याज लेकर जीविका चलाना; ब्रह्मचारीका स्त्रीसम्भोग; पवित्र तड़ाग न होना, पितृव्य आदि बान्धवोंको छोड़ना; वेतन लेकर वेद पढ़ाना; वेतन लेनेवाले अध्यापकके पास वेद पढ़ना; न बेचने योग्य वस्तुको बेचना, राजाकी आज्ञासे सुवर्ण आदिकी खानमें काम करना, बड़े पुल इत्यादिमें काम करना, औषध नष्ट करना, भार्य्याको जारके सङ्ग करके जीविका निभाना, बाघ आदि अभिचारिक योग वा मन्त्र आदिसे निरपराधीको बुराई करनी; जलानेके लिये अशुष्क वृक्षोंको काटना, देव पितरोंके उद्देश्यसे नहीं बल्कि अपने लिये पाक करना; लसून आदि निन्दित चीजोंको खाना; अग्निहोत्र न करना; सुवर्णके सिवा अन्य चीजोंको चुराना; देव पितर और ऋषियोंका ऋण न चुकाना; श्रुति स्मृतिसे विरुद्ध असत् शास्त्रकी आलोचना; नाचना गाना और बजाना; धान्य तांबा लोहा और पशुओंको चुराना; मद्य पीनेवाली स्त्रीसे गमन करना; स्त्रीहत्या; वैश्याहत्या; शूद्र हत्या और नास्तिकता—इन सबमें प्रत्येकको ही "उपपातक" कहते हैं। ६०। ६७॥ दण्ड आदिसे ब्राह्मणको पीड़ित करना, अत्यन्त दुर्गन्धित लसून-पुरीष आदि तथा मद्य सूंघना, कुटिलता और पुरुषमैथुन इनमेंसे हर एक "जातिभ्रंशकर पातक" है ॥ ६८ ॥ गधा, घोड़ा, हरिन, हाथी, बकरी, भेड़, मछली, सांप और

वधस्तथा । सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६९ ॥ निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् । अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ७० कृमि-कीट-वयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् । फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७१ ॥ एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक् पृथक् । यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७२ ॥ ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् । भैक्ष्याश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७३ ॥ लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः । प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७४ ॥ यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा । अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥ ७५ ॥ जपन् वान्यतमं वेदं

भैंसको मारना—इनमें हर एकको "सङ्करीकरण पातक" जानो अर्थात् इनसे वर्णसङ्करत्व प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥ निन्दितसे धन लेना, वाणिज्य, शूद्रकी सेवा और झूठ बोलना,—इन पापोंसे पात्रत्व नष्ट होता है, इस लिये इन्हें "अपात्रीकरण पातक कहते हैं ॥ ७० ॥ कृमि कीट और पक्षियोंको मारना, किसी तरहकी मद्यके साथ एक ही पात्रमें लायी हुई चीजोंको खाना, फल काष्ठ और फूल चुराना तथा अत्यन्त तुच्छ बातके लिये विकल होना—इन सबमें प्रत्येकको "मलावह पातक" कहते हैं—इनसे चित्तमल उपस्थित होता है ॥ ७१ ॥ इन पातकोंका पृथक् पृथक् वर्णन किया, अब जिन व्रतोंसे जो पाप नष्ट होते हैं, उसे पूर्ण रीतिसे सुनो ॥ ७२ ॥ ब्रह्महत्यारा अपना पाप छुड़ानेके वास्ते कुटी बनाके भक्ष्य-धारी हो बारह वर्ष वनमें बितावे और मरे हुए पुरुषका कपाल तथा दूसरे मृत पुरुषका कपाल चिन्हरूपसे साथ रखे ॥ ७३ ॥ अथवा स्वेच्छा-पूर्वक अपने अभिलषित शस्त्रधारीका लक्ष्य होके प्राण त्यागे अथवा जलती हुई अग्निमें नीचे मुंह करके तीन बार इस प्रकार गिरे, कि मर जावे ॥ ७४ ॥ अथवा अश्वमेध, स्वर्जित, गोसव, विश्वजित्, त्रिवृत्

योजनानां शतं व्रजेत्। ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः॥ ७६॥ सर्व्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्। धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्॥ ७७॥ हविष्यभुग्वानुसरेत् प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्। जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम्॥ ७८॥ कृतवापनो निवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा। आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः॥ ७९॥ ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान् परित्यजन्। मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च॥ ८०॥ त्र्यवरं प्रतियोद्धा वा सर्व्वस्वमवजित्य वा। विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणलाभेऽपि मुच्यते॥ ८१॥ एवं दृढव्रतो नित्य ब्रह्म-

---

वा अग्निष्टुत यज्ञोंमेंसे कोई एक यज्ञ करे॥ ७५॥ अथवा ब्रह्महत्या पाप छुड़ानेके लिये वेदोंमेंसे कोई एक वेद जप करते हुए अल्पाहारी और संयतेन्द्रिय होकर एक सौ योजनतक जावे॥ ७६॥ अथवा वेद जाननेवाले ब्राह्मणको सर्व्वस्व दान करे; जीवनपर्य्यन्तके वास्ते धन है अथवा सारी सामग्रियोंके सहित घर देवे॥ ७७॥ अथवा हविष्यान्नभोजी होके सरस्वती नदीके उत्पत्ति स्थानसे समुद्रसङ्गम पर्य्यन्त जावे अथवा अल्पाहारी होके तीन बार सारी वेदसंहिता पढ़े॥ ७८॥ अथवा नख, केश, दाढ़ी मूंछ मुड़ाके गऊ ब्राह्मणोंके हितमें तत्पर रहकर ग्रामके अन्त, गऊ चरानेके स्थान वा वृक्षके मूलमें समय बितावे। वहां ब्राह्मण वा गऊके लिये प्राणत्याग कर वह पुरुष ब्रह्महत्या पापसे छूटेगा। ब्राह्मणकी रक्षा करनेवाला ब्रह्महत्याके पापसे छुटता है। अथवा डाकुओंके द्वारा ब्राह्मणका धन-हरण होनेपर तीन बार अथवा एक बार उनसे युद्ध करके उसका धन फिरा लानेसे अथवा हरणकी हुई वस्तुओंके वास्ते ब्राह्मणको युद्धमें मरनेके लिये तैयार देखकर उस हरण की हुई वस्तुके समान द्रव्य ब्राह्मणको देनेसे ब्रह्महत्याके पापसे छूटता है। इस ही प्रकार नित्य दृढ़ व्रत, ब्रह्मचारी तथा पवित्र भावसे

चारी समाहितः। समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८२ ॥ शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे। स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८३ ॥ धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते। तस्मात् समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुध्यति ॥ ८४ ॥ ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम्। प्रमाणञ्चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८५ ॥ तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनःसु निष्कृतिम्। सा तेषां पावनाय स्यात् पवित्रं विदुषां हि वाक् ॥ ८६ ॥ अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः। ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८७ ॥ हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्। राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८८ ॥ उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा। अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८९ ॥ इयं

बारह वर्ष बितानेपर ब्रह्महत्या पापसे छुटकारा मिलता है ॥ ७९—८२ ॥ अथवा यजमान क्षत्रिय और ऋत्विक् ब्राह्मणोंके निकट अपना पाप सुनाकर अश्वमेध यज्ञका अवभृत स्नान करनेसे ब्रह्महत्या पाप छूटता है ॥ ८३ ॥ धर्मके मूल ब्राह्मण और अग्रभाग क्षत्रिय हैं—इस लिये उनके समाजमें निजपाप कहनेसे पवित्रता होती है ॥ ८४ ॥ ब्राह्मण उत्पन्न होते ही देवताओंके देवता और इस लोकमें प्रमाणस्वरूप हैं; वेद ही इस विषयमें कारण है ॥ ८५ ॥ वेद जाननेवाले तीन ब्राह्मण भी पापकी निष्कृतिके लिये जो कहें वही पापियोंकी पवित्रताका हेतु है ॥ ८६ ॥ ऊपर जो सब प्रायश्चित्त कहे गये हैं, ब्राह्मण ईश्वरमें चित्त लगाकर उनमेंसे कोई एक प्रायश्चित्त करनेसे ब्रह्महत्याके पापसे छूटता है ॥ ८७ ॥ जिस भ्रूणके सम्बन्धमें स्त्री-पुरुष वा नपुंसक लिङ्ग न मालूम हो, उस बेजाने हुए भ्रूण और यज्ञ करनेवाले क्षत्रिय, वैश्य वा ऋतुस्नात स्त्रीकी हत्या करनेपर ब्रह्महत्याकी भाँति प्रायश्चित्त करे ॥ ८८ ॥ गवाही देनेके स्थानमें झूठ बोलने, गुरुको मिथ्या अपवाद

विशुद्धिमदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ९० ॥ सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् । तया सकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात् ततः ॥ ९१ ॥ गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा । पयो घृतं वा मरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९२ ॥ कणान् वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि । सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ९३ ॥ सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते । तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९४ ॥ गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्व्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ९५ ॥ यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता

मारने, धरोहर हरने अग्निहोत्रि ब्राह्मणकी स्त्री तथा मित्रको मारनेसे ब्रह्महत्याकी भांति प्रायश्चित्त करे ॥ ८९ ॥ यह बिना जाने ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त कहा, जानके करनेपर इससे दूना प्रायश्चित्त करनेपर पापसे छुटकारा होता है ॥ ९० ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यदि जानके मद्य पीवें, तो उसका पाप छुड़ानेके वास्ते अग्निवर्ण जलती हुई सुरा पीयें, इस सुरासे उसकाभरणी शरीर जलनेपर उस पापसे छुटकारा होता है ॥ ९१ ॥ अथवा अग्निवर्ण जलता हुआ गोमूत्र, दूध, घी, वा गोमय जल—जबतक मृत्यु न हो, तबतक पीवे, इस प्रकार मरनेसे उस पापसे छूटेगा ॥ ९२ ॥ मद्य पीनेसे गऊके रोमसे बने वस्त्र पहने, जटा और सुरापानका चिन्ह रखके एक वर्षतक दिन रात्रियोंके बीच केवल एक दफे खली वा तिलका पीना रात्रिको खावे—ऐसा करनेसे पापसे छूटेगा ॥ ९३ सुरा अन्नका मल है, मलको ही पाप कहते हैं, इस लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको सुरा पीना उचित नहीं है ॥ ९४ ॥ गुड़रचित गौड़ी, पिष्टसे बनी पैष्टी, मधुसे माध्वी—ये तीन प्रकारकी सुरा हैं—इनमें जैसी एक है, वैसी ही सब हैं, इस लिये द्विजोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग

हविः ॥ ९६ ॥ अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् । अकार्यमन्यत् कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९७ ॥ यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् । तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वञ्च स गच्छति ॥ ९८ ॥ एषा विचित्रा-भिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः । अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृ-तिम् ॥९९॥ सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु । स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ १०० ॥ गृहीत्वा मुषलं राजा सकृद्धन्यात् तु तं स्वयम् । वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०१ ॥ तपसापनुनुत्सुस्तु सुवर्ण-स्तेयजं मलम् । चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥ १०२ ॥

सुरा न पीवें ॥ ९५ ॥ नव प्रकारके मद्य, मांस, तीन तरहकी सुरा और आसव अर्थात् टपका खींचा हुआ अर्क वा मद्य—ये सब यक्ष, राक्षस और पिशाचोंके खाद्य हैं, इस लिये देवान्नभोजी ब्राह्मणोंको उचित है, कि इन वस्तुओंको कदापि न खावें ॥ ९६ ॥ ब्राह्मण मद्य पीनेसे अपवित्र स्थानमें पड़ता है, गोपनीय वेदमन्त्र भी कहता है तथा अन्यान्य अनेक अकार्योंको भी करता है ; इस लिये ब्राह्मणको कदापि मद्य पीना योग्य नहीं है ॥ ९७ ॥ जिसका शरीरस्थ ब्रह्म एक बेर भी मद्यसे भींगता है, उसका ब्राह्मणत्व दूर होता और वह शूद्रत्वको प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥ सुरापानके विषयमें यह अनेक तरहके प्रायश्चित्त कहे ; अब सोना चुरानेका प्रायश्चित्त कहते हैं, सुनो ॥ ९९ ॥ सोना चुरानेवाला ब्राह्मण राजाके समीप जाके अपना दोष सुनाकर बोले "मैंने ऐसा पाप किया है, मुझे शासन करिये" ॥ १०० ॥ राजा उसके कन्धेपर स्थित मुद्गर लेकर एक दफे उस चोरसे उसे मारे, उस प्रकारसे मरने वा मृतक तुल्य होनेसे सोना चुरानेवाला पापसे छूटेगा। परन्तु ब्राह्मण केवल तपस्यासे भी पापरहित हो सकता है ॥ १०१ ॥ तपस्याके सहारे सुवर्ण चोरीका पाप छुड़ानेका अभिलाषी ब्राह्मण चीरवासा कोपीनधारी होके ब्रह्म-

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः। गुरुस्त्रीगमनीयन्तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥१०३॥ गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये। सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्य मृत्युना स विशुध्यति ॥१०४॥ स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ। नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदा निपातादजिह्मगः ॥१०५॥ खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने। प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥१०६॥ चान्द्रायणं वा त्रीन् मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः। हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥१०७॥ एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम्। उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥१०८॥ उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिबेत्। कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्म्मणा तेन

हत्याके प्रायश्चित्तके अनुसार बारह वर्षका व्रत करे ॥१०२॥ द्विजाति लोग सुवर्ण चोरीके पापको इन्हीं व्रतोंसे उतारे नष्ट करें; और गुरु-पत्नी गमनका पाप नीचे लिखी विधिसे छूटता है ॥१०३॥ गुरुपत्नी अर्थात् विमातृगामी पुरुष जनसमाजमें अपना पाप सुनाकर जलती हुई लोहेकी शय्यापर तपाये हुए लोहेकी स्त्रीको तबतक आलिङ्गन किये रहे जबतक कि मृत्यु न हो जावे—इस प्रकारसे मरनेपर उस पापसे छूटेगा ॥१०४॥ अथवा अपने अण्डकोष और लिङ्गको काटके अञ्जलीमें रखकर सीधी चालसे दक्षिण पश्चिम अर्थात् नैर्ऋत कोणकी ओर तबतक चला जावे, जबतक शरीरान्त न हो। इस प्रकार मरनेसे पापसे छूटेगा ॥१०५॥ अथवा खट्वाङ्ग और कोपीनधारी होकर वनके बीच एक वर्षतक प्राजापत्य व्रत करे ॥१०६॥ अथवा गुरुस्त्री गमनका पाप छुड़ानेके वास्ते हविष्यान्न या नीवार आदि खाके संयतेन्द्रिय होकर तीन महीनेतक चान्द्रायण व्रत करे ॥१०७॥ महापातकी लोग इन्हीं व्रतोंसे अपने पापोंको छुड़ावें। उपपातकी लोग उपपातक नष्ट होनेके लिये नीचे कहे अनेक तरहके व्रतोंको करें ॥१०८॥ उपपातक संयुक्त

संवृतः ॥१०९॥ चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम्। गोमूत्रेण चरेत् स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥११०॥ दिवानुगच्छेद्गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत्। शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥१११॥ तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत्। आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥११२॥ आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥११३॥ उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम्। न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११४॥ आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले। भक्षयन्तीं कथयेत् पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥११५॥ अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनु-

---

गोहत्यारा पहिले महीनेमें यवसक्तु खाय, दाढ़ी मूछ और सिरके केश मुंड़ाकर तथा गोचर्म्म ओढ़कर गोशालामें रहे ॥१०९॥ दूसरे और तीसरे—इन दो महीनेमें एक दिन उपवासके अनन्तर दूसरे दिन सन्ध्याके समय कृत्रिम नमक छोड़के परिमित हविष्यान्नभोजी होवे और गोमूत्रसे स्नान करे ॥११०॥ तीन महीनेतक गौवोंका अनुगमन करे और खड़ा होकर इन गौवोंके खुरसे उड़ती हुई धूलि सेवन करे; कण्डूयनादि द्वारा उनकी सेवा करे और गौवोंको प्रणाम करके रात्रिसे समय वहां वीरासनसे बैठा रहे ॥१११॥ गौवोंके उठनेपर उठे और चलनेपर उनके पीछे पीछे गमन करे—बैठनेपर स्वयं बैठे और निष्कपट चित्तसे सदा गौवोंकी सेवा करे ॥११२॥ रोग वा चोरसे आक्रान्त होने, पतित अथवा कीच-ड़में फंसनेपर अपनी सामर्थ्य अनुसार सब तरहसे गौवोंको छुड़ावे ॥११३॥ गर्मी, वर्षा, सर्दी और प्रबल वायु बहनेपर निजशक्तिके अनुसार बिना गौवोंकी रक्षा किये कदापि अपनी रक्षा न करे ॥११४॥ अपने वा दूसरेके गृह, खेत वा खलिहानमें गौवोंको शस्य खाती हुई देखके तथा बछड़ेको दूध पीता देखकर गृहस्वामीसे न कहे ॥११५॥ जो गोहत्या

गच्छति। स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥११६॥ वृषभैकादशा गाश्च दद्यात् सुचरितव्रतः। अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥११७॥ एतदेव व्रतं कुर्य्युरुपपातकिनो द्विजाः। अवकीर्णिवर्ज्जं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥११८॥ अवकीर्णी तु काणेन गर्द्दभेन चतुष्पथे। पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥११९॥ हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समेत्यृचा। वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात् सर्पिषाहुतीः ॥१२०॥ कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः। अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्म्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥१२१॥ मारुतं पुरुहूतञ्च गुरुं पावक-

---

करनेवाला पुरुष इस रीतिसे गौओंकी सेवा करता है, वह तीन महीनेमें गोहत्याके पापसे छूटता है ॥११६॥ इस प्रकारसे प्रायश्चित्तव्रत पूरा होनेपर एक बैल और दस गऊ दक्षिणा देवे। यदि इतनी सामर्थ्य न रहे, तो जो कुछ हो, वह सब वेद जाननेवाले ब्राह्मणको दान करे ॥११७॥ अवकीर्णीके सिवा अन्य उपपातकी द्विज लोग पापसे छूटनेके वास्ते गोहत्याकी भांति प्रायश्चित्त अथवा चान्द्रायण व्रत करें ॥११८॥ अवकीर्णी पापी निर्ऋति देवताके उद्देशसे चौराहेपर काना गधा बलि देकर पाकयज्ञमन्त्रसे याग करे ॥११९॥ चौराहेमें होम करके "समासिञ्चन्तु मारुत" इत्यादि ऋक्‌से मारुत, इन्द्र वृहस्पति और अग्निदेवता इत्यादिको घृतसे आहुति देवे ॥१२०॥ ब्रह्मचर्य्य व्रतवाले द्विजको इच्छानुसार स्त्रीकी योनिमें रेतःपात करनेको धर्म्म जाननेवाले ब्रह्मवादी लोग ब्रह्मचर्य्य अतिक्रम होना कहते हैं; ब्रह्मचारी रेतःसेकका नाम अवकीर्ण है; अवकीर्णविशिष्टको अवकीर्णी कहते हैं ॥१२१॥ ब्रह्मचारी जो ब्रह्मतेज पैदा करता है, अवकीर्ण होनेपर वह तेज मारुत, इन्द्र, वृहस्पति और अग्नि,—इन चारोंमें संक्रामित होता है—इस लिये इन चारों देवताओंके उद्देशसे प्रथम होम करना कहा है ॥१२२॥ अवकीर्णी

मेव च । चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२२ ॥ एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् । सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२३ ॥ तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् । उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुध्यति ॥ १२४ ॥ जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया । चरेत् सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२५ ॥ सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् । मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ १२६ ॥ तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः । वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ १२७ ॥ अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः । वृषभैकसहस्रा गा दद्यात् सुचरितव्रतः ॥ १२८ ॥ त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् । वसन् दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूल-

---

पापग्रस्त होनेपर ब्रह्मचारी गर्दभ याग करके गधेका चमड़ा पहने और "मैंने ऐसा कार्य किया है"—इस प्रकार कहते हुए सात घरमें भीख मांगे और उस भिक्षासे प्राप्त हुई चीजोंको केवल दिनरातके बीच एकबेर खाय और सवेरे सन्ध्या तथा मध्याह्न—इन त्रिकाल स्नानको करते हुए वह एक वर्षमें इस पापसे छूटगा ॥ १२३।१२४ ॥ जानके जातिभ्रंश कर पाप करनेसे प्राजापत्य व्रत करे ॥ १२५ ॥ सङ्करीकरण और अपात्रीकरण पाप करके एक महीनेतक चान्द्रायण व्रत करे; और मलिनीकरण पाप होनेसे तीन रातितक यवागूका काथ खावे ॥ १२६ ॥ कामनासे सदाचारी क्षत्रियको मारनेसे ब्रह्महत्याका चौथा प्रायश्चित्त जाने। इसही प्रकार वैश्यको मारनेपर ब्रह्महत्याके षोडशवें भाग अर्थात् एक महीनेका व्रत करे ॥ १२७ ॥ ब्राह्मण यदि बिना जाने क्षत्रियको मारे तो सुचरित व्रती होकर एक बैल और एक हजार गऊ ब्राह्मणोंको दान करे; अथवा संयत होकर गांवसे बहुत दूर वृक्षतलमें वास करते हुए जटा रखके तीन वर्षतक ब्रह्महत्या व्रतानुष्ठान करे। या एक सौ

निकेतनः ॥ १२९ ॥ एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः। प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १३० ॥ एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत्। वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १३१ ॥ मार्ज्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च। श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३२ ॥ पयः पिबेत् त्रिरात्रं वा योजनं वाध्वनो व्रजेत्। उपस्पृ(?)त्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वा अब्दैवतं जपेत् ॥१३३॥ अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात् सर्प हत्वा द्विजोत्तमः। पलालभारकं षण्डे सैसकञ्चैकमाषकम् ॥ १३४ ॥ घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणन्तु तित्तिरौ। शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३५ ॥ हत्वा हंस बलाकाञ्च वकं बर्हिणमेव च। वानरं श्येनभासौच स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३६ ॥ वासो दद्याद्धयं

गोदान करे ॥ १२८ । १२९ ॥ जानके सद्वृत्तिमें तत्पर वैश्यको मारनेपर एक वर्षतक ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करे या एक सौ गऊ दान करे ॥ १३० ॥ विना जाने शूद्रको मारनेपर छः महीनेतक ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करे अथवा एक बैल और दस सफेद गऊ दान देवे ॥ १३१ ॥ जानके बिल्ली, नेवला, चाषपक्षी, कुत्ता, गोधा, मेढ़क उल्लू इत्यादिमेंसे किसी एकको मारनेसे शूद्र हत्याके समान प्रायश्चित्त करे ॥१३२॥ विना जाने बिलाव मारनेसे तीन दिनतक दूध पीकेरहे अथवा त्रिरात्र एक योजनतक भ्रमण करे वा त्रिरात्र नदीमें स्नान करे तथा त्रिरात्र "आपोहिष्ठादि" सूक्त जपे ॥ १३३ ॥ सांप मारके ब्राह्मणको एक तीक्ष्ण लोहमय दण्ड दे और नपुंसक मारके एक भार पलाल (खड़) और एक मासा सीसा प्रदान करे ॥ १३४ ॥ शूकर मारके घृतसे भरा घड़ा ब्राह्मणको दे ; तीतर पक्षी मारनेसे चार आढ़क तिल, शुकपक्षी मारनेसे दो वर्षकी उमरवाला गऊका बछड़ा और क्रौञ्चपक्षी मारनेसे तीन वर्षकी उमरवाला बछड़ा ब्राह्मणको दान करे ॥ १३५ ॥ हंस, बलाका, बगुले, मोर, बन्दर, बाज और भासपक्षी

हत्वा पञ्च नीलान् वृषान् गजम् । अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३७ ॥ क्रव्यादांस्तु मृगान् हत्वा धेनुं दद्यात् पयस्विनीम् । अक्रव्यादान् वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३८ ॥ जीनकार्मुकबस्तावीन् पृथग्दद्याद्विशुद्धये । चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३९ ॥ दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् । एकैकशश्चरेत् कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १४० ॥ अस्थिमतान्तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे । पूर्णे चानस्थनस्थ्नान्तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४१ ॥ किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे । अनस्थ्नाञ्चैव हिंसायां प्राणायामेन शुध्यति ॥ १४२ ॥ फलदानान्तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् । गुल्मवल्लीलतानाञ्च पुष्पितानाञ्च वीरुधाम् ॥ १४३ ॥ अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानाञ्च सर्वशः । फल-

---

मारनेसे ब्राह्मणको एक गज दान करे ॥ १३६ ॥ घोड़ा मारके ब्राह्मणको वस्त्र-दान करे, हाथी मारनेसे एक वर्षकी उमरवाला बछड़ा ब्राह्मणको दान करे ॥ १३७ ॥ आममांस खानेवाले व्याघ्र आदिको मारके दूध देनेवाली गऊ अक्रव्याद हरिण आदि मारनेसे वत्सतरी और ऊंट मारनेसे एक रत्ती सोना दान करे ॥ १३८ ॥ चतुर्वर्णपरस्त्र पुरुष व्यभिचारिणी स्त्रीका वध करे, तो ब्राह्मण—चर्म्मपुट, क्षत्रिय—धनुष, वैश्य—छाग और शूद्र भेड़ दान करे ॥ १३९ ॥ ऊपर कही रीति अनुसार ब्राह्मण यदि सांप आदि जीवोंको मारके दानके द्वारा पाप नष्ट न कर सके, तो प्राजापत्य व्रतरूपी प्रायश्चित्त करे ॥ १४० ॥ हड्डीवाले छकलासादि जीवोंको मारनेसे ब्राह्मणको कुछ दान देके शुद्ध हो, और विना हड्डीके जीवोंको मारनेसे प्राणायाम करके शुद्ध होवे ॥ १४१ ॥ हड्डीवाले एक हजार और विना हड्डीके एक शकट परिमाण जीवोंको मारनेसे शूद्रहत्याका प्रायश्चित्त करे ॥ १४२ ॥ फलवाले वृक्ष, गुल्म वल्ली, लता और फूले हुए वनस्पतियोंको काटनेसे एकसौ बार गायत्री जप करनेसे शुद्धि होगी ॥ १४३ ॥ जो

पुष्पोद्भवानाञ्च घृतप्राशो विशोधनम्॥१४४॥ कृष्टजानामोषधीनां जातानाञ्च स्वयं वने। वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः॥१४५॥ एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम्। ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे॥१४६॥ अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति। मतिपूर्वमनिर्द्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः॥१४७॥ अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा। पञ्चरात्रं पिबेत् पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पयः॥१४८॥ स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत् प्रतिगृह्य च। शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत् त्र्यहम्॥१४९॥ ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः। प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति॥१५०॥ अज्ञानात् प्राश्य

सब जीव अन्न, गुड़, फल वा फूलोंमें जन्मते हैं, उन्हें मारनेसे घृतप्राशन प्रायश्चित्त जानो॥१४४॥ जमीन जोतनेपर जो सब औषधियां उपजती हैं तथा जो नीवार आदि स्वयं ही जङ्गलोंमें उत्पन्न होते हैं—उन्हें बिना कारणके ही काटनेसे पाप छुड़ानेके वास्ते एक दिन दुग्धव्रती होकर गऊका अनुगमन करे॥१४५॥ इन व्रतोंसे जाने वा बिन जाने हिंसाजनित पापोंको नष्ट करे। अब अभक्ष्य भक्षणका प्रायश्चित्त कहता हूं, सुनो॥१४६॥ बिना जाने मद्य पीनेसे उपनयनसंस्कारसे शुद्धि होती है; जानके पीनेसे प्राणान्तिक प्रायश्चित्त है, यह व्यवस्था निर्देश नहीं की जा सकती॥१४७॥ सुरापात्रमें रक्खा हुआ जल अथवा सुराके सिवा अन्य मद्यके पात्रोंमें जल पीनेसे शङ्खपुष्पाख्य औषधि डालके पांच रात्रितक दूध पीते रहे॥१४८॥ मदिरा छूके, मदिरा देके तथा स्वस्तिवाचन पूर्वक विधिसे मद्य प्रतिग्रह करके और शूद्रका जूठा जल पीके उस पापको छुड़ानेके वास्ते तीन दिनतक कुशक्वथित जल पीवे॥१४९॥ सोमयज्ञ करनेवाला ब्राह्मण मद्य पीनेवालेके मुखकी गन्ध सूंघनेसे जलमें तीन प्राणायाम करके घृतप्राशनके द्वारा शुद्ध होगा॥१५०॥

विण्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च। पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥ १५१॥ वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च। निवर्त्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्मणि॥ १५२॥ अभोज्यानान्तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च। जग्ध्वा मांसमभक्ष्यञ्च सप्तरात्रं यवान् पिबेत्॥ १५३॥ शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः। तावद्भवत्यप्रयतो यावत् तन्न व्रजत्यधः॥ १५४॥ विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः। प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्॥ १५५॥ शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च। अज्ञातञ्चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत्॥ १५६॥ क्रव्याद-सूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानाञ्च भक्षणे। नरकाकखराणाञ्च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम्॥ १५७॥ मासिकान्नन्तु योऽश्नीयादसमावर्त्तको द्विजः। स त्रीण्य-

---

बिना जाने मनुष्यका विष्ठामूत्र वा सुरायुक्त चीज खानेसे ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंका फिरसे उपनयनसंस्कार करना होता है॥ १५१॥ प्रायश्चित्त स्वरूप पुनरुपनयनके समय सिर मुंड़ाना; मेखला वा दण्ड धारण भिक्षा-चरण; मधुमांसादि त्यागरूपव्रत—इन सबका प्रयोजन नहीं है॥ १५२॥ अभोज्य लोगोंका अन्न स्त्री और शूद्रका जूठा और अभक्ष्य मांस खानेसे सात दिन यवकी यवागू पीके रहे॥ १५३॥ शुक्त वा अपवित्र कषाय रस पीके द्विज उतने समयतक अपवित्र रहता है, जबतक कि वह रस परिपाक नहीं होता॥ १५४॥ ग्राम्यशूकर, गधा, ऊंट, सियार, बानर, सूअर और कौवेकी विष्ठा भक्षण करनेसे चान्द्रायण व्रत करना होता है॥ १५५॥ सूखा मांस, भूमिमें उपजे छत्र कवक, हरिणका मांस गधेका मांस इसही प्रकारके सन्दिग्ध मांस और सूना अर्थात् पशुओंकी वधस्थानसे लाया हुआ मांस खानेसे चान्द्रायण करना होता है॥ १५६॥ आममांस खानेवाले पशु पक्षी, वनैले सूकर, ऊंट ग्रामकुक्कुट मनुष्य, कौवा और गधेका मांस खाके तप्तकृच्छ्र प्रायश्चित्त करे॥ १५७॥ जो ब्रह्मचारी

हानुग्रपवसेदेकाहञ्चोदके वसेत् ॥ १५८॥ ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांस कथञ्चन। स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५९॥ विड़ालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च। केशकीटावपन्नञ्च पिबेद्-ब्रह्मसुवर्च्चलाम् ॥ १६०॥ अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता। अज्ञानभुक्तन्तूत्तार्य्यं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः॥ १६१॥ एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः। स्तेयदोषापहर्त्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः॥ १६२॥ धान्यान्नधनचौर्य्याणि हत्वा कामाद्‌द्विजोत्तमः। स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥ १६३॥ मनुष्याणान्तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च। कूपवापीजलानाञ्च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १६४॥ द्रव्याणामल्पसाराणां

मासिक श्राद्धका अन्नभोजन करता है, उसे उस ही लिये तीन दिनतक उपवास और उसके बीच एक दिन जलमें वास करना होगा ॥ १५८॥ ब्रह्मचारी यदि किसी तरहसे मधु वा मांस भक्षण करे, तो उसे पहिले प्राजापत्य व्रत करावे तब ब्रह्मचर्य्य व्रत समाप्त करना होगा ॥ १५९॥ विड़ाल, कौवे, कुत्ते, चूहे और नेवलोंके जूठे भोजन करनेसे तथा केश और कीटयुक्त अन्न खानेसे ब्रह्मसूवर्च्चला नाम औषधिक्वथित जल पीये ॥ १६०॥ अपनी शुद्धिके इच्छुक मनुष्यको कभी प्रतिषिद्ध अन्न खाना उचित नहीं है; प्रमादसे ऐसा अन्न खाके उसही समय वमन कर देवे, यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो शीघ्रही पूर्व्वोक्त प्रायश्चित्त करे ॥ १६१॥ अभक्ष्य भक्षणके ये विविध प्रकारके प्रायश्चित्त कहे—अब चोरीका प्रायश्चित्त सुनो। ब्राह्मण इच्छापूर्व्वक स्वजातीयके घरसे धान्य वा खानेकी चीज चुरावे, तो वह एक वर्षतक प्राजापत्य व्रत करके पवित्र होगा ॥ १६२॥ १६३॥ पुरुष, स्त्री खेत, गृह, कूआं, और बावड़ीका जल चुरानेसे

स्तेयं कृत्वान्यवेश्मतः। चरेत् सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये॥ १६५॥ भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च। पुष्पमूलफलानाञ्च पञ्चगव्यं विशोधनम्॥१६६॥ तृणकाष्ठद्रुमाणाञ्च शुष्कान्नस्य गुडस्य च। चैलचर्म्मामिषाणाञ्च त्रिरात्रं स्यादभोजनम्॥ १६७॥ मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च। अयःकांस्योपलानाञ्च द्वादशाहं कणान्नता॥ १६८॥ कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफैकशफस्य च। पक्षिगन्धौषधीनाञ्च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः॥ १६९॥ एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः। अगम्यागमनीयन्तु व्रतैरेभिरपानुदेत्॥ १७०॥ गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु। सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च॥ १७१॥ पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च। मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत्॥ १७२॥ एता-

---

चान्द्रायण प्रायश्चित्त करे॥ १६४॥ पराये घरसे थोड़े मूल्य वा अल्प प्रयोजनकी चीज चोरी करनेसे अपनी शुद्धिके वास्ते सान्तपन व्रत करे और वह वस्तु उसके स्वामीको देवे॥ १६५॥ लड्डू, चावल, शकट, सवारी, शय्या आसन, पुष्पमूल और फल चुरावे पञ्चगव्यपीके शुद्ध होवे॥ १६६॥ तृण, काठ, वृक्ष, सूखे अन्न, गुड़, वस्त्र, चमड़ा, चुरानेसे तिरात भोजन और चांदी, लोहा कांसा और पत्थर—इन चीजोंको चुरानेसे बारह दिनतक चावलका कण खाय॥ १६७॥ १६८॥ कपास पटवस्त्र, कौषेयवस्त्र, दो खुर और एक खुरवाले गऊ घोड़े पक्षी, सुगन्धित चीजें, औषधि और कर्पूर चुरानेसे तीन दिन दूध पीना रूपी प्रायश्चित्त करे॥ १६९॥ इन्हीं व्रतोंसे द्विज चोरीके पापोंको छुड़ावे; परन्तु अगम्यागमन पापको नीचे कहे व्रतोंसे नष्ट करे॥ १७०॥ सहोदरा बहिन, मित्रकी भार्य्या, कुमारी और चाण्डाली स्त्री गमन करनेसे गुरु स्त्रीगमनका प्रायश्चित्त करे॥ १७१॥ फुफेरी बहिन, मौसेरी बहिन और ममेरी बहिन गमन

स्तिसस्तु भार्य्यार्थे नोपयच्छेत् तु बुद्धिमान्। ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतन्ति ह्युपयन्नधः ॥ १७३ ॥ अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु। रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ १७४ ॥ मैथुनन्तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः। गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥ १७५ ॥ चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च। पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात् साम्यन्तु गच्छति ॥ १७६ ॥ विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्त्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि। यत् पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥ १७७ ॥ सा चेत् पुनः प्रदुष्येत् तु सदृशेनोपमन्त्रिता। कृच्छ्रं चान्द्रायणञ्चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥ १७८ ॥ यत् करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः। तद्भैक्ष्यभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षै

करनेसे चान्द्रायण करे ॥ १७२ ॥ बुद्धिमान् पुरुष इन तीन प्रकारकी बहिनोंको कभी अपनी भार्य्या न बनावें; ज्ञातित्वप्रयुक्त होनेसे ये अगम्या हैं—इन्हें गमन करनेसे नरकगामी होना होता है ॥ १७३ ॥ पशुओं, रजस्वला स्त्रियों, योनिके सिवा अन्यस्थानों और जलमें वीर्य्यपात करनेसे कृच्छ्र सान्तपन व्रत करे ॥१७४॥ पुरुषों, स्त्रियों तथा गऊकी सवारियों, जल और दिनके समय, मैथुन करके द्विज उस वस्त्रके सहित उसकी समय स्नान करे ॥ १७५ ॥ बिना जाने चाण्डाल आदि अन्त्यज जातिकी स्त्री गमन करने, उनका अन्न खाने उनसे प्रतिग्रह लेनेसे ब्राह्मण पतित होगा और जानके ऐसा कार्य्य करनेसे समानता अर्थात् उनकी जातीयताको प्राप्त होगा ॥ १७६ ॥ व्यभिचारिणी स्त्रीको पति अकेली घरमें बन्द कर पत्नी कार्य्यसे पृथक रखे और पुरुषको परस्त्री गमनमें जो प्रायश्चित है; उसे भी वही प्रायश्चित्त करावे ॥ १७७ ॥ यह स्त्री यदि प्रायश्चित्त कर सजातीयपुरुषसे अभ्यर्थित होके यदि फिर व्यभिचार करे, तो उसे प्राजापत्य और चान्द्रायण प्रायश्चित्त करना होगा ॥ १७८ ॥ एक राति

व्यपोहति ॥ १७९ ॥ एवं पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः पतितैः सम्प्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १८० ॥ संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् । याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ १८१ ॥ यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः । स तस्यैव व्रतं कुर्यात् तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८२ ॥ पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः । निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥ १८३ ॥ दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत् प्रेतवत् पदा । अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥ १८४ ॥ निवर्त्तेरंश्च तस्मात् तु सम्भाषणसहासने । दायाद्यस्य प्रदानञ्च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८५ ॥ ज्येष्ठता च निवर्त्तेत ज्येष्ठावाप्यञ्च यद्धनम् । ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान् गुणतोऽधिकः ॥ १८६ ॥ प्रायश्चित्ते तु चरिते

चाण्डाली गमन करनेसे ब्राह्मणको जो पाप होता है—भिक्षान्नभोजी होकर प्रतिदिन सावित्री जप करनेसे तीन वर्षमें वह पाप दूर होगा ॥ १७९ ॥ हिंसा, अभक्ष्य वस्तुओंको खाना, चोरी, अगम्यागमन, इन चार प्रकारके पापियोंका प्रायश्चित्त कहा, अब पतितसंसर्गवालोंका प्रायश्चित्त सुनो ॥ १८० ॥ पतितके साथ एक वर्षतक एक सवारीमें चलने, एक आसनपर बैठने और एक पांतमें भोजन करनेसे पतित होना होता है; याजन, अध्यापन और योनि संसर्गसे तुरन्त ही पतित होना पड़ता है क्योंकि उसमें सद्यःपातित्य है ॥ १८१ ॥ जैसे पापीके साथ संसर्ग हो, संसर्गशुद्धिके लिये उस पापीके जो प्रायश्चित्त है, उसे करना होगा ॥ १८२ ॥ सपिण्ड और समानोदक लोग महापातकीकी जीवित दशामें गांवके बाहिर पापी सन्ध्याके समय ज्ञाति पुरोहित और गुरुओंके निकट उसकी उदकक्रिया करें, उसी दासी प्रेतात्मकी भांति जलसे भरा एक घड़ा पैरसे फेंक देवे और सपिण्ड समानोदक लोग एक दिन रात अशौच माने। तबसे सपिण्ड और समानोदक लोग इस पतितसे

पूर्णकुम्भमपां नवम्। तेनैव सार्द्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥ १८७ ॥ स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम्। सर्व्वाणि ज्ञातिकार्य्याणि यथापूर्व्वं समाचरेत् ॥ १८८ ॥ एतमेव विधिं कुर्य्याद्योषित्सु पतितास्वपि। वस्त्रान्नपानं देयन्तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८९ ॥ एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित् सहाचरेत्। कृतनिर्णजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १९० ॥ बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्म्मतः। शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९१ ॥ येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि। तांश्चारयित्वा त्रीन् कृच्छ्रान् यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९२ ॥ प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्म्मस्थास्तु

सौंपना और एक आसन पर बैठना, शिक्षा आदि देना तथा किसी तरहके लोकव्यवहारका संसर्ग न रखें। तभीसे जो जेठेके लिये अभ्युत्थान और प्रणाम आदि करना होता है, वह किया न जाय और जेठको मिलने योग्य धन भी न दिया जावे; कनिष्ठ गुणवान होनेपर उसे ही यह जेठांश मिलेगा; और यदि पतित शास्त्रविधिसे प्रायश्चित्त करे, तो सपिण्ड समानोदक लोग उसके साथ एकत्रित होकर पवित्र जलाशयमें स्नान करके कुछ नवीन जलभरा घड़ा फेंके। जलमें वह घड़ा फेंककर अपने घर जावें और प्रायश्चित्त करनेवाला पुरुष पहिलेकी तरह ज्ञाति कार्य्योंको पूरा करे ॥ १८३ ॥ १८८ ॥ स्त्रियोंके पतित होनेसे पतित पुरुषकी भांति उन्हें भी प्रायश्चित्त करना चाहिये; परन्तु उन्हें अन्न वस्त्र देना तथा घरके निकट बसनेको स्थान देना होगा। १८९ ॥ प्रायश्चित्त न करनेवाले पापीके साथ दान प्रतिग्रह आदि किसी तरहका संसर्ग न रखे, परन्तु प्रायश्चित्त करनेपर उसकी कदापि निन्दा न करे ॥ १९० ॥ बालहत्यारा, कृतघ्न, शरणागतको मारनेवाला तथा स्त्रीहत्यारा—ये यदि धर्म्मपूर्व्वक प्रायश्चित्तसे शुद्ध हों, तौभी इनके साथ किसी प्रकारका संसर्ग न करे ॥ १९१ ॥ जिन द्विजोंको विधिपूर्व्वक सावित्री नहीं आती, उन्हें

ये द्विजाः। ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥१९३॥ यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम्। तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥१९४॥ जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः। मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥१९५॥ उपवासकृशं तन्तु गोव्रजात् पुनरागतम्। प्रणतं परिपृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥१९६॥ सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम्। गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥१९७॥ व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च। अभिचारमहीनञ्च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥१९८॥ शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः। संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥१९९॥

तीन प्राजापत्य कराके शास्त्रविधिसे उपनयन करें ॥१९२॥ विकर्म्म करनेवाले अथवा वेदसे त्याज्य द्विजलोग प्रायश्चित्त करनेकी इच्छा करें, तो उन्हें भी तीन प्राजापत्य प्रायश्चित्त करनेको कहै ॥१९३॥ यदि ब्राह्मण निन्दित रीतिसे धन पैदा करे, तो वह धन दान करके नीचे लिखे जप और तपस्यासे शुद्ध होगा ॥१९४॥ सावधानचित्तसे तीन हजार गायत्री जप करके और दूध पीते हुए एक महीनेतक गोशालामें रहनेसे असत् प्रतिग्रहसे छूटेगा ॥१९५॥ गोशालासे फिर लौटे हुए उपवाससे कृशित उस प्रणत ब्राह्मणसे सज्जन लोग पूछें—"सौम्य! क्या तुम हमलोगोंके साथ समान व्यवहारी होना चाहते हो?" ॥१९६॥ तब यदि वह ब्राह्मण कहै, कि "सत्य कहता हूं, अब मैं असत् प्रतिग्रह न करूंगा" तब गऊका घास खानेको देवे और जहां गऊने घास खायी हो, उस तीर्थ स्थानमें उपहार सहित "व्यवहार करेंगे" कहके ब्राह्मणलोग स्वीकार करें ॥१९७॥ व्रात्यलोगोंका याजन, आत्मीयके सिवा दूसरोंकी अन्त्येष्टिक्रिया, मारण आदि अभिचार और अहीन याग यज्ञ करनेसे प्राजापत्यव्रतके सहारे पवित्रता होती है ॥१९८॥ शरणागतको त्यागने

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च। नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति॥ २००॥ षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा। होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम्॥ २०१॥ उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानन्तु कामतः। स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुध्यति॥ २०२॥ विनाद्भिरप्सु वाप्यार्त्तः शारीरं सन्निवेश्य च। सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुध्यति॥ २०३॥ वेदोदितानां नित्यानां कर्म्मणां समतिक्रमे। स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्॥ २०४॥ हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारञ्च गरीयसः। स्नात्वानश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत्॥ २०५॥ ताड़यित्वा तृणेनापि कण्ठे वाबध्य वाससा। विवादे वा विनिर्ज्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत्॥

अपात और अयोग्य दिनमें वेद पढ़ानेसे द्विज एक वर्षतक यव खाके इस पापसे छूटता है॥ १९९॥ कुत्ते, सियार, गधे अथवा गांवके अन्य हिंसक जन्तुओंसे अथवा मनुष्य घोड़े, ऊंट वा सूकरके दांतसे घायल होनेपर प्राणायाम करनेसे पवित्रता होती है॥ २००॥ एक महीनेतक दिनके छठे भागमें अन्न खावे और दो दिन उपवास करके तीसरे दिन शामको भोजन करने, वेदसंहिता पढ़ने और प्रतिदिन "देवकृतस्यैनस" इन आठ मन्त्रोंसे होम करनेसे अपांक्तेय पापका प्रायश्चित्त होता है॥ २०१॥ इच्छानुसार ऊंट वा गधेकी सवारीमें चढ़ने, नङ्गे होके स्नान करने पर प्राणायामसे पवित्रता होती है॥ २०२॥ जल न लेकर अथवा जलके नीचे वेगार्त्त पुरुष मल मूत्र त्यागनेसे गांवके बाहिर वस्त्र सहित नदी प्रभृतिमें स्नान करके गऊ स्पर्श करनेसे शुद्ध होगा॥ २०३॥ वेदमें कहे हुए नित्य कर्म्म न करने और स्नातक व्रत लोपकर लोप करनेसे एक दिन रातका प्रायश्चित्त जानो॥ २०४॥ ब्राह्मणको हुङ्कार अथवा 'चुप रह' इत्यादि बोलने और गुरुजनोंको तुम कहनेसे स्नान कर भोजनसे निवृत्त रहकर दिनके शेषमें अपमानितका पांव धरके प्रसन्न करे॥ २०५॥

२०६ ॥ अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च । जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०७ ॥ शोणितं यावतः पांसून् संगृह्णाति महीतले । तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०८ ॥ अवगूर्य चरेत् कृच्छ्र मतिकृच्छ्रं निपातने । कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥२०६॥ अनुक्तनिष्कृतीनान्तु पापानामपनुत्तये । शक्तिञ्चावेक्ष्य पापञ्च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २१० ॥ यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति । तान् वोऽभ्यु-पायान् वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २११ ॥ त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यह मद्यादयाचितम् । त्र्यहं परञ्च नाश्नीयात् प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥ २१२ ॥ गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं

ब्राह्मणको यदि दण्डसे भी मारे, गलेमें कपड़ा डाले वा विवादमें जीते, तो प्रणाम करके उसे प्रसन्न करे ॥ २०६ ॥ ब्राह्मणको मारनेकी इच्छासे लाठी उठानेसे एक शतवर्ष और उसके ऊपर प्रहार करनेसे एक हजार वर्षतक नरक प्राप्ति होती है ॥ २०७ ॥ घायल ब्राह्मणका रुधिर भूमिमें पड़के जितनी भूमिको गीला करता है, मारनेवाला उतने हजार वर्षतक नरकमें वास करता है ॥ २०८ ॥ ब्राह्मणको मारनेको लाठी उठानेपर प्राजापत्य व्रत करे ; घावलगे स्थानसे रक्त गिरनेसे कृच्छ्राति कृच्छ्र व्रत करे ॥ २०६ ॥ जिन पापोंका प्रायश्चित्त नहीं कहा गया ; उन पापोंको छुड़ानेके लिये पापी की सामर्थ्य और पापकी गुरुता वा लघुता विचारके प्रायश्चित्त की कल्पना करे ॥ २१० ॥ मनुष्य जिन उपायोंके द्वारा पापसे छूटता है,वह सब देव ऋषि पितरोंसे सेवित उपाय आप लोगोंसे कहता हूं ॥ २११ ॥ द्विज प्रजापत्य नाम कृच्छ्र व्रत करनेके समय पहिले तीन रोज दिनके चतुर्थ दिवस खाय, फिर तीन दिन सन्ध्याके समय भोजन करे । उसके तीन दिन अयाचित व्रत अर्थात् जब विना मांगे मिले, तब खावे और शेष तीनतक उपवास करके रहे ; इस लिये यह व्रत बारह दिनमें

सान्तपनं स्मृतम् ॥२१३॥ एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्व्ववत्। त्र्यहञ्चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः॥२१४॥ तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्। प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान् सकृत्स्नायी समाहितः॥२१५॥ यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्। पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्व्वपापापनोदनः॥२१६॥ एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्द्धयेत्। उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥२१७॥ एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे। शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं

होता है। पहिले तीनदिन सुबहको छब्बीस ग्रास खावे, फिर तीन दिन सामको बईस ग्रास खाय, तीसरे तीनदिन चौबीस भोजन करे॥२१२॥ एक दिन गौर गोमूत्र, गोमय, दूध, दही घृत और कुशोदक मिलाके खावे और कुछ न खाय तथा दूसरे दिन उपवासी रहै—इसे कृच्छ्र सान्तपन व्रत कहते हैं॥२१३॥ अतिकृच्छ्र व्रत करना हो, तो तीन दिन दिन एक एक ग्रास पहिलेकी तरह खाके रहै, और शेष तीन दिन उपवास करे। यह बारह दिनमें होता है॥२१४॥ तप्त कृच्छ्र व्रत करना हो, तो विप्र समाहित चित्तसे केवल एकवार स्नान करके प्रतिदिन जल, दूध, घृत और वायु गरम करके क्रमसे पान करे अर्थात् पहिले तीन दिन जल इत्यादि पीके शेषके तीन दिन वायु पीके रहै; इसी प्रकार बारह दिन बितावे॥२१५॥ जिस व्रतमें संयतेन्द्रिय होकर बारह दिनतक उपवास करना होता है, उसे पराक नाम कृच्छ्र कहते हैं—यह सब पापोंको नाश करता है॥२१६॥ त्रिसन्ध्या स्नान करके पूर्णमासीके दिन पन्द्रह ग्रास खाय, उसके बाद प्रतिपदासे चतुर्दशीतक एक एक ग्रास भोजन घटावे। और अमावस्याको उपवास करके फिर शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे पूर्णमासी पर्यन्त एक एक ग्रास बढ़ाके पूर्णिमासे पन्द्रह ग्रास खावे—इसे चान्द्रायण व्रत कहते हैं। चान्द्रायण एक

व्रतम्॥ २१८॥ अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यन्दिने स्थिते। नियताला हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन्॥ २१९॥ चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः। चतुरोऽस्तमिते सूर्य्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम्॥ २२०॥ यथाकथञ्चित् पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः। मासेनाश्नन् हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम्॥ २२१॥ एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन् व्रतम्। सर्व्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः॥ २२२॥ महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम्। अहिंसा सत्यमक्रोधमार्ज्जवञ्च समाचरेत्॥ २२३॥ त्रिरह्नस्त्रिर्निशायाञ्च सवासा जलमाविशेत्। स्त्री-

---

महीनेमें होता है। इस चान्द्रायणका मध्यभाग सङ्कीर्ण होनेसे उसे पिपीलिका मध्य कहते हैं॥ २१७॥ यव मध्य चान्द्रायणमें भी यही सब विधि करनी होती है। तब इसमें यही विशेषता है, कि शुक्ल प्रतिपदासे आरम्भकर एक एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णमासीको पन्द्रह ग्रास भोजन करे, फिर कृष्ण प्रतिपदासे एक एक ग्रास कम करते हुए अमावस्याको उपवास करे,—इसका मध्यभाग मोटा अर्थात् पूर्णिमाको पन्द्रह ग्रास भोजन करनेसे इसे यवमध्य चान्द्रायण कहते हैं॥ २१८॥ यदि चान्द्रायण करना हो, तो संयतेन्द्रिय होकर एक महीनेतक प्रतिदिन आठ आठ ग्रास हविष्यान्न मध्याह्नमें खाय॥ २१९॥ एक महीनेतक सावधान रहके चार ग्रास सवेरे और चार ग्रास सन्ध्यामें भोजन करनेको शिशु चान्द्रायण व्रत कहते हैं॥ २२०॥ जो लोग संयतेन्द्रिय होकर एक महीने भरमें चाहे किसी प्रकारसे हो, दो सौ चालीस ग्रास खाते हैं, उन्हें चन्द्रलोक प्राप्त होता है॥ २२१॥ ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, अष्टवसु, मरुद्गण और महर्षियोंने सारी अशुभ शान्तिके लिये यह चान्द्रायण व्रत किया था॥ २२२॥ इस व्रतको करनेके समय प्रतिदिन स्वयं महाव्याहृति होम करे और अहिंसा, सत्य, अक्रोध तथा कोमलताका

शूद्र पतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२४ ॥ स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा । ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२५ ॥ सावित्रीञ्च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः । सर्व्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२६ ॥ एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः । अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२७ ॥ ख्यापनेनानुतापेन तपसाध्ययनेन च । पापकृन्मुच्यते पापात् तथा दानेन चापदि ॥ २२८ ॥ यथा यथा नरोऽधर्म्मं स्वयं कृत्वानुभाषते । तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्म्मेण मुच्यते ॥२२९ ॥ यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म्म गर्हति । तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्म्मेण मुच्यते ॥२३० ॥ कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते । नैवं कुर्य्यां

अनुष्ठान करे। अथवा एक महीनेतक दिनमें तीन और रात्रिमें तीन दफे नदी आदिमें वस्त्र सहित प्रवेश करे और किसी समय स्त्री शूद्र वा पतितसे साथ बातचीत न करे ॥ २२३ ॥ २२४ ॥ स्थान और आसन सम्बन्धमें चञ्चल रहे कदापि न सोवे, शय्या और स्त्रीसङ्ग रहित हो; ब्रह्मचारी, मेखला दण्डधारी तथा गुरु देवता और द्विज सेवामें तत्पर रहे ॥ २२५ ॥ सर्व्वदा सावित्री जपे और शक्ति अनुसार पाप छुड़ानेवाले पवित्र मन्त्रोंको भी जपे। यह जप सब व्रतोंमेंही आदृत होता है ॥२२६॥ द्विजातिलोग लोक समाज विदित पापोंको पूर्व्वोक्त व्रतोंके द्वारा छुड़ावें; परन्तु अनाविष्कृत वा रहस्य पापोंको मन्त्र और होमसे दूर करें ॥ २२७ ॥ लोक समाजमें अपने पापको कहने, पश्चात्ताप करने तपस्या और अध्ययनसे पाप करनेवालके पापोंसे छूटा करते हैं और आपत्कालमें दानके सहारे भी निष्कृति होती है ॥ २२८ ॥ पाप करके पापी पुरुष स्वयं जितने परिमाणसे लोगोंके सामने पाप प्रकाश करनेमें समर्थ होता है, वह उस प्रकारसे छूटता जाता है, जैसे सांप केंचुलसे अलग होजाता है; और जितने प्रमाणसे उस पाप करनेवालेका मन दुष्कृतकी निन्दा किया

पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३१ ॥ एवं सञ्चिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्म्मफलो-
दयम् । मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म्म समाचरेत् ॥ २३२ ॥ अज्ञा-
नाद्यदिवा ज्ञानात् कृत्वा कर्म्म विगर्हितम् । तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्
द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३३ ॥ यस्मिन् कर्म्मण्यस्य कृते मनसः स्यादला-
घवम् । तस्मिंस्तावत् तपः कुर्य्याद्यावत् तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३४ ॥ तपोमूल-
मिदं सर्व्वं दैवमानुषकं सुखम् । तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥
२३५ ॥ ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् । वैश्यस्य तु तपो
वार्त्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३६ ॥ ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानि-
लाशनाः । तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३७ ॥ औषधान्य-

---

करता है; उतने परिमाणसे उसका जीवात्मा भी पापसे छूटता है ॥
२२९ ॥ २३० ॥ पाप करके यदि सन्तापित हो, तो उस पापसे छूट
जाता है । परन्तु फिर अब ऐसा न करूंगा" ऐसा कहके उस पापसे
निवृत्त होनेसे उस पापसे छुटकारा मिलता है ॥ २३१ ॥ "परलोकमें
कर्म्मका फलाफल भोग करना होता है" मनही मन इसकी आलोचना
करके मन, वचन और कार्य्यसे नित्य शुभकर्म्म करे ॥ २३२ ॥ जानके हो
वा बिना जाने हो, पाप करके उससे छूटनेकी इच्छा रहनेपर फिर वह
दूसरी बार पाप न करे ॥ २३३ ॥ यदि किसी प्रायश्चित्तसे पाप करने
वालेके चित्तमें प्रसन्नता वा फुर्त्ती न हो, तो तपस्या उसको तबतक
करनी होगी, जबतक उसका चित्त प्रसन्न न होवे ॥ २३४ ॥ इस देवलोक
और मनुष्यलोकमें जो कुछ सुखसम्पत्ति है, तपस्या ही उन सबकी मूल
है, उसकी स्थिति और अवधिको वेददर्शी ज्ञानीलोग जानते हैं ॥ २३५ ॥
ज्ञानवृद्धिका साधन ही ब्राह्मणोंकी, रक्षा करना क्षत्रियोंकी, कृषि
वाणिज्य और पशुपालन आदि वैश्योंकी तपस्या है और सेवा करना
शूद्रोंका तप है ॥ २३६ ॥ फलमूल खानेवाले संयतात्मा ऋषि लोग तपबलसे

गदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः। तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३८ ॥ यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्व्वन्तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३९ ॥ महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्य्यकारिणः। तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात् ततः ॥ २४० ॥ कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च। स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥ २४१ ॥ यत् किञ्चिदेनः कुर्व्वन्ति मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्जनाः। तत् सर्व्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४२ ॥ तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः। इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान् संवर्द्धयन्ति च ॥ २४३ ॥ प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत् प्रभुः। तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४४ ॥ इत्येतत् तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते। सर्व्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४५ ॥ वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या

चराचर लोकोंको देखा करते हैं ॥ २३७ ॥ औषध, नीरोगता और विद्यावल तथा अनेक प्रकारसे स्वर्गमें स्थिति तपस्यासे ही सिद्ध होती—तपस्या ही उन सबकी साधन है ॥ २३८ ॥ जो कुछ दुष्कर, दुःसाध्य तथा दुर्गमकार्य्य हैं, वह सब तपस्यासे पूरे होते हैं; तपस्याको कोई अतिक्रम नहीं कर सकता ॥ २३९ ॥ ब्रह्महत्यादि आदि महापातकी और अन्यान्य नीचकर्म्म करनेवाले पुरुष उत्तम तपस्यासे ही पापसे छूटते हैं ॥ २४० ॥ कीट, सर्प, पतङ्ग, पशु, पक्षी और स्थावर आदि तपोवलसे ही स्वर्गमें जाते हैं ॥ २४१ ॥ शरीर मन और वचनसे लोग जो कुछ पाप करते हैं, तपस्वी लोग तपस्यासे शीघ्र ही जलाया करते हैं ॥ २४२ ॥ तपस्यासे पापहीन ब्राह्मणोंकी यज्ञमें देवता लोग हवि ग्रहण करके उन्हें वाञ्छितार्थ प्रदान करते हैं ॥ २४३ ॥ सब लोकोंके प्रभु पितामह ब्रह्माने तपस्या करके इस शास्त्रको रचा है, तपस्या करके ही ऋषियोंने वेदोंको पाया है ॥ २४४ ॥ देवता लोग विश्वसंसारमें तपस्याका महाभाग्य

महायज्ञक्रिया क्षमा। नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४६ ॥ यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्। तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्व्वं दहति वेदवित् ॥ २४७ ॥ इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि। अत ऊर्द्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४८ ॥ सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश। अपि भ्रूणहनं मासात् पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४९ ॥ कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठञ्च प्रतीत्यृचम्। माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥ २५० ॥ सकृज्जप्त्वास्यवामीयं शिवसङ्कल्पमेव च। अपहृत्य सुवर्णन्तु क्षणाद्भवति निर्म्मलः ॥ २५१ ॥ हविष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह

देखकर उसका ही माहात्म्य गाया करते हैं ॥ २४५ ॥ शक्ति अनुसार प्रतिदिन वेदोंको पढ़ना, पञ्चमहायज्ञोंको करना और अपराध सहिष्णुता—इनसे ब्रह्महत्याजनित पाप भी शीघ्र ही नष्ट होते हैं ॥ २४६ ॥ जैसे अग्नि क्षणभरमें अपने तेजसे तृण आदि जला देता है, उस ही भांति वेद जाननेवाले पुरुष ज्ञानाग्निसे सारे पापोंको जलाया करते हैं ॥ २४७ ॥ यह प्रकाश्य पापोंके प्रायश्चित्तकी विधि कही गई, अब रहस्यपापोंके प्रायश्चित्त सुनो ॥ २४८ ॥ एक महीनेतक प्रतिदिन ओंकार और सात व्याहृति, प्रणवसहित सावित्रीस्वरूप प्राणायाम सोलहवार जपे तो ब्रह्महत्याके पापोंसे छूट जाता है ॥ २४९ ॥ कौत्स ऋषिका देखा "अयनं शोशुचदघं" वशिष्ठ ऋषिका देखा 'प्रतिस्तोमेभिरुष" इत्यादि वेदमन्त्र और "महित्रीणाम-वोस्तु" माहित्र ऋक् तथा "शुद्धवत्य एतानिंद्रं स्तुवामहे" इत्यादि ऋक् मन्त्रोंको प्रतिदिन सोलह बार एक महीनेतक पढ़नेसे सुरा पीनेवाला पापसे छूट जाता है ॥ २५० ॥ एकवार प्रतिदिन एक महीनेतक "अस्य वामीयमस्य वामस्य पलितस्य एतत्" इस ऋक् अथवा 'यज्जाग्रतो दूरं" इत्यादि शिवसंकल्प मन्त्र पाठ करनेसे सुवर्ण चुरानेवाला पापसे छूटता है ॥ २५१ ॥ 'हविष्पान्तं' अथवा 'नतंमहो' इत्यादि आठ ऋक महस शीर्ष

इतीति च। जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः॥२५२॥ एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम्। अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा॥२५३॥ प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम्। जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात्॥२५४॥ सोमारौद्रन्तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुध्यति। स्रवन्त्यामाचरन् स्नानमर्यम्णामिति च तृचम्॥२५५॥ अब्दार्द्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्। अप्रशस्तन्तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्ष्यभुक्॥२५६॥ मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः। सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम्॥२५७॥ महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः। अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्ष्याहारो विशुध्यति॥२५८॥

पुरुष" इत्यादि पौरुषसूक्त एक महीनेतक प्रतिदिन सोलह बेर जपनेसे गुरु स्त्रीगामीका पाप छूट जाता है॥२५२॥ महापापको नष्ट करनेकी इच्छावाला पुरुष "हेतोवत्स्यवो" इस ऋक् वा "इति वै मनः" इस सूक्तको एक वर्षतक प्रतिदिन एक बेर जपे॥२५३॥ न लेने योग्य लोगोंसे दान लेके अथवा निन्दित अन्न खाके "तरत्समन्दिधावती" इन चार ऋकोंको तीन दिनतक जपनेसे उस पापसे छूटता है॥२५४॥ नदीमें स्नान करके "सोमारुद्रा" इस ऋक् और "अर्य्यमणं वरुणं मित्रश्चेति" इन ऋचाओंको एक महीनेतक पाठ करनेसे बहुतसे पाप छूट जाते हैं॥२५५॥ 'इन्द्र-मित्रं वरुणादि' इन सात ऋकोंको छः महीनेतक जपनेसे पापी सब तरहके पापोंसे छूट जाता है। और जलमें मलमूत्र त्यागनेवाला एक महीनेतक भीख मांगकर खानेसे पापरहित होता है॥२५६॥ 'देव-कृतस्यैनस' इत्यादि शाकल्य मन्त्रोंसे एक वर्षतक घृत होम करनेसे अथवा "नमः इन्द्रश्च" इत्यादि ऋक्मन्त्र जपनेसे एक वर्षमें महापाप छूट जाते हैं॥२५७॥ महापातकी पुरुष समाहित चित्तसे गऊके पीछे पीछे

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्व्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५९ ॥ त्र्यहन्तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः । मुच्यते पातकैः सर्व्वैस्त्रिर्जपित्वाघमर्षणम् ॥ २६० ॥ यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्व्वपापापनोदनः । तथाघमर्षणं सूक्तं सर्व्वपापापनोदनम् ॥ २६१ ॥ हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः । ऋग्वेदं धारयन् विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥ २६२ ॥ ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः । साम्नां वा सरहस्यानां सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६३ ॥ यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति । तथा दुश्चरितं सर्व्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६४ ॥ ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च । एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो

रहे और भीख मांगके खाय तथा 'पावमानी' ऋचाको एक वर्षतक जपनेसे शुद्ध होता है ॥ २५८ ॥ अथवा तीन बेर पराक व्रतसे शुद्ध हो संयतेन्द्रिय रहके वनमें वेदकी कोई संहिता तीन बेर पाठ करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूटता है ॥ २५९ ॥ त्रिरात्र उपवासी और संयतेन्द्रिय होके सवेरे, मध्यान्ह और सन्ध्याके समय प्रतिदिन स्नान कर अघमर्षण सूक्त जपनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है ॥ २६० ॥ जिस प्रकार यज्ञोंका राजा अश्वमेध सब पापोंका नाश करता है, उसी भांति अघमर्षण सूक्त सब पापोंका नाशक है ॥ २६१ ॥ यदि वेदोंकी ब्राह्मणको धारणा रहे, तो तीनो लोकोंको हनन करने वा जहां तहां भोजन करनेसे भी उसे पाप नहीं होता ॥ २६२ ॥ समाहित भावसे ऋक् यजुः वा सामवेदकी संहिता उपनिषदोंके सहित पाठ करनेसे ब्राह्मण सब पापोंसे छूट जाता है ॥ २६३ ॥ जैसे महाह्रदमें मट्टीका ढेला फेंकनेसे शीघ्र डूब जाता है, वैसे ही सब पाप तीनो वेदके पाठमें डूबते हैं ॥ २६४ ॥ ऋक्, यजुः और विविध प्रकारके साममन्त्रोंको त्रिवृत्वेद कहते हैं, जो

वेदैनं स वेदवित्॥ २६५॥ आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता। स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित्॥ २६६॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायामेकादशोऽध्यायः॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः।

चातुर्व्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्म्मस्त्वयानघ। कर्म्मणां फलनिर्व्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम्॥ १॥ स तानुवाच धर्म्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः। अस्य सर्व्वस्य शृणुत कर्म्मयोगस्य निर्णयम्॥ २॥ शुभाशुभफलं कर्म्म मनोवाग्देहसम्भवम्। कर्म्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥ ३॥

इस सबको जानता है, वही वेदवेत्ता कहाता है॥ २६५॥ सब वेदोंका आदि तीन अक्षरवाला तीनों वेदोंका अधिष्ठान भूत ओंकारको भी त्रिवृत्त कहते हैं। जो पुरुष भली भांति प्रणवको जानता है, वह भी वेद जाननेवाला कहाता है॥ २६६॥

ग्यारह अध्याय समाप्त।

अथ बारहवां अध्याय।

ऋषि लोग बोले, हे पापरहित! आपने ब्राह्मण आदि चारोंवर्णोंके धर्म्म कहे, अब जन्मान्तरार्ज्जित कर्म्मोंका फलाफल हम लोगोंसे विधि-पूर्व्वक कहिये॥ १॥ अनन्तर धर्म्मात्मा मनुपुत्र भृगु उन महर्षियोंसे बोले, आप लोग सब कर्म्म योगके निर्णय हमसे सुनिये॥ २॥ शरीर, मन और वचनसे जो शुभाशुभ कर्म्म किये जाते हैं, उस कार्य्यगतिके अनुसार ही

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः। दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्त्तकम् ॥ ४ ॥ परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म्म मानसम् ॥ ५ ॥ पारुष्यमनृतञ्चैव पैशुन्यञ्चापि सर्व्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्व्विधम् ॥ ६ ॥ अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥ मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्। वाचा वाचा कृतं कर्म्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥ शरीरजैः कर्म्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥ वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च। यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

जीवको उत्तम मध्यम तथा अधम गति प्राप्त होती है ॥ ३ ॥ देहधारी जीवके मनको ही तन मन और वचनके आश्रित उत्तम मध्यम तथा अधम कर्म्मोंका प्रवर्त्तक जानो—ये तीन प्रकारके कर्म्म नीचे लिखे दश लक्षणोंसे युक्त हैं ॥ ४ ॥ पराया धन अन्यायसे किस भांति लेवें, ऐसी चिन्ता; "मनसे अनिष्ट चिन्ता" परलोक नहीं है यह शरीर ही आत्मा है, ऐसा मिथ्या अभिनिवेश; ये तीन प्रकारके अशुभदायक मानसकर्म्म हैं ॥ ५ ॥ कठोर वचन; मिथ्या बोलना; परोक्षमें दूसरोंका दोष कहना; राजाका देशका वा पुर सम्बन्धीय असम्बद्ध प्रलाप—ये चार अशुभदायी कर्म्म हैं ॥ ६ ॥ बिना दिया हुआ धन लेना, अवैध हिंसा, पराई स्त्रीकी सेवा,—ये तीन शारीरके अशुभ कर्म्म हैं ॥ ७ ॥ जीव मानसिक शुभाशुभ कर्म्मोंका फल मनके द्वारा और शरीरसे किये हुए भले बुरे कार्य्योंका फल शरीरसे ही भोग करता है ॥ ८ ॥ शरीरके कर्म्म-दोषोंकी अधिकता होनेसे मनुष्य स्थावरत्वको प्राप्त होते हैं; वाचिक कर्म्मदोषोंकी अधिकतासे पक्षी तथा पशुयोनि मिलती है और मानस कर्म्मोंकी अधिकतासे चाण्डाल योनि प्राप्त होती है ॥ ९ ॥ जिसकी बुद्धिमें मन वचन और

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्व्वभूतेषु मानवः । कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥ योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥ जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्व्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्व्वं सुखं दुःखञ्च जन्मसु ॥ १३ ॥ तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥ असंख्या मूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः । उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥ पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् । शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥ तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः । तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते

शारीरिक दण्ड निहित हैं अर्थात् जो ज्ञानबलसे मन वचन और शरीरको दमन कर सकता है, वही यथार्थ त्रिदण्डी कहाता है ॥ १० ॥ काम क्रोधको संयत रखके जो लोग सर्व भूतोंमें यथायोग्य त्रिदण्ड व्यवहार करते हैं, उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ११ ॥ जो इस शरीरसे कार्य्य कराता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते और कर्म्म प्रवृत्त शरीरको पण्डित लोग भूतात्मा कहा करते हैं ॥ १२ ॥ शरीर और क्षेत्रज्ञके सिवाय सहज जीव अन्तरात्मा सर्व्व क्षेत्रज्ञका समभिव्याहारी है ; क्षेत्रज्ञ प्रति जन्ममें सुख दुःख उसकी सहायतासे ही अनुभव करता है ॥ १३ ॥ यह महान् तथा क्षेत्रज्ञ—ये दोनों पञ्च भूतोंसे संयुक्त हैं, ये उत्तम अधम सब जीवोंमें स्थित उस ही परमात्माके आश्रयसे निवास करते हैं ॥ १४ ॥ इस परमात्माके देहसे अग्निकी चिनगारीकी तरह असंख्य जीव निकलकर उत्तम अधम योनिमें निवास करके अनेक देहको निज निज कर्म्ममें प्रेरण करते हैं, ये ही क्षेत्रज्ञ हैं ॥ १५ ॥ पापियोंके लिये पञ्चभूतोंके अंशसे परलोकमें और एक यातनामय शरीर उत्पन्न हुआ करता है। इस देहान्तक भूतोंके अंशमें जीव यहके पाप करनेवाले इस शरीरसे यमयातना भोग किया

विभागशः ॥ १७ ॥ सोऽनुभूयासुखोदर्कान् दोषान् विषयसङ्गजान् । व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥ तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापञ्चातन्द्रितौ सह । याभ्यां प्राप्नोति सम्पृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥१९॥ यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः । तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥ यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः । तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१ ॥ यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः । तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥ एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात् सदा मनः ॥ २३ ॥ सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् । यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥ यो यदैषां गुणो

करते हैं ॥ १६ ॥ १७ ॥ वह निषिद्ध, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयासक्ति दोषसे यमलोकमें दुःख आदि भोगनेके अनन्तर निष्पाप होके इन दोनों महौजा महत् और चेतनको आश्रय करते हैं ॥ १८ ॥ महत् और चेतन—दोनो आलस्यरहित होके जीवके धर्माधर्मके साक्षी रहते हैं और इन्हीं धर्माधर्मोंसे पुरुष इहलोक तथा परलोकमें सुख दुःख पाता है ॥ १९ ॥ जीव यदि अधिकांश धर्म और थोड़ा अधर्म करे, तो पृथिवी आदि पञ्च भूतोंके द्वारा वह शरीरी होके परलोकमें सुखभोग किया करता है ॥२०॥ यदि उसका अधर्म अधिक और धर्मका हिस्सा थोड़ा रहता है, तो ऐसे भूतांशसे उसका शरीर न बनके जिस भांति वह यम-यातना भोगे,—वैसी देह उसे प्राप्त होती है ॥ २१ ॥ जीव यमयातना भोगनेके अनन्तर पापरहित होके फिर अपने कर्मानुसार मनुष्य आदि शरीर धारण करता है । २२ ॥ धर्म और अधर्मसे जीवोंकी यह सब गति अपने अन्तःकरणमें आलोचना करके सदा धर्ममें मन लगावे ॥ २३ ॥ सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंको महत्त्व नाम आत्माके गुण

देहे माहात्म्येनातिरिच्यते। स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥ २५॥ सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्। एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्व्वभूताश्रितं वपुः॥ २६॥ तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्। प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्॥ २७॥ यत् तु दुःखसमायुक्तम-प्रीतिकरमात्मनः। तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात् सततं हारि देहिनाम्॥ २८॥ यत् तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्त-दुपधारयेत्॥ २९॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः। अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ ३०॥ वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमि-न्द्रियनिग्रहः। धर्म्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥ ३१॥ आरम्भरुचिताधैर्य्यमसत्कार्य्यपरिग्रहः। विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं

जानो। ये तीनों गुण व्यापी समस्त स्थावर जङ्गमरूप सब पदार्थोंमें निवास करते हैं॥ २४॥ इन गुणोंके बीच जीवके शरीरमें जो गुण अधिक रहता है, वही उस शरीरवाले जीवको अधिक परिमाणसे अपना लक्षण दिखाता है॥ २३॥ सतोगुणसे ज्ञान, तमोगुणसे अज्ञान और रजोगुणसे राग द्वेष दीखता है। सब भूतोंके आश्रित देहमें व्याप्त रहके ये सब गुण विद्यमान हैं। इनके गुण ये हैं;—आत्मामें प्रीतियुक्त प्रकाशरूप जो निर्म्मल प्रशान्तभाव मालूम होता है, उसे सतोगुण जानो॥ २६॥ २७॥ जो दुःखयुक्त और आत्माका अप्रीतिकर है तथा जिससे जीवोंको विषय-तृष्णा उत्पन्न होती है, उस दुःखसे निवारित होनेवालेको रजोगुण जानो॥ २८॥ जो सदसत् विवेकरहित, अस्फुट, विषयात्मक अतर्कनीय स्वरूप और दुर्ज्ञेय है, इन उसे तमोगुण जानो॥ २९॥ तीनों गुणोंके द्वारा क्रमसे जो उत्तम और अधम फलोदय हुआ करते हैं, उसे पूर्ण रीतिसे कहता हूं॥ ३०॥ वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय संयम, धर्म्मानुष्ठान और आत्म चिन्ता—ये सब सतो-

गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥ लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता । याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् । इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥ यत् कर्म्म कृत्वा कुर्व्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति । तज्ज्ञेयं विदुषा सर्व्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥ येनास्मिन् कर्म्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् । न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयन्तु राजसम् ॥ ३६ ॥ यत् सर्व्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् । येन तुष्यति चात्मास्य तत् सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥ तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते । सत्त्वस्य लक्षणं धर्म्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥ येन यांस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते । तान् समासेन वक्ष्यामि सर्व्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥

गुणके कार्य्य हैं ॥ ३१ ॥ फलके लिये कर्म्ममें आसक्ति, धैर्य्य रहित होना, निषिद्ध कर्म्म करना और लगातार विषय उपभोग, जो गुण और निद्रा अधीरता क्रूरता, नास्तिकता, अन्याय वृत्ति अवलम्बन, याच्ञा और प्रमाद ये तमोगुणके लक्षण है ॥ ३३ ॥ भूत, भविष्य, वर्त्तमान—तीनो कालमें विद्यमान इन सत्व आदि तीनो गुणोंके कार्य्य क्रमसे संक्षेपमें कहता हूं। सुनो ॥ ३४ ॥ जो कार्य्य करके, वा करनेके समय तथा करनेमें लज्जा मालूम हो, पण्डित लोग उसे तमोगुणका लक्षण जानते हैं ॥ ३५ ॥ इसलोकमें अधिक बड़ाईकी इच्छासे जो कार्य्य किया जाता है और जिसकी असमाप्तिमें दुःख मालूम नहीं होता, उसे राजस कर्म्म जानो ॥३६॥ जिस कार्य्यको सब तरहसे जाननेकी इच्छा होती है, जिसे करके किसी समय लज्जा नहीं होती और जिस कार्य्यसे अपनेको प्रसन्नता होती है—उसे सतोगुण कर्म्म जानो ॥ ३७ ॥ तमोगुणका लक्षण काम प्रधानता, रजोगुणका अर्थनिष्ठता और सतोगुणका लक्षण धर्म्म-प्रधानता है। इनमें कामसे अर्थ और अर्थसे धर्म्म श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥ इनमेंसे जिस कर्म्मसे

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः। तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्य-मित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥ त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः। अधमा मध्यमाग्र्या च कर्म्मविद्याविशेषतः ॥ ४१ ॥ स्थावराः कृमि-कीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः। पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥ हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः। सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥ चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः। रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥ झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः। द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥ राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञश्चैव पुरोहिताः। वादयुद्ध

द्वारा जीवोंको जैसी गति प्राप्त होती है उसे संक्षेपमें कहता हूं ॥ ३९ ॥ सात्विक लोगोंको देवत्व, राजसिक कर्म्मवालोंका मनुष्यत्व और तमोगुणीको तिर्य्यक योनि प्राप्त होती है—लोगोंकी यही त्रिविध गति है ॥ ४० ॥ इन सत्वादि गुण हेतुसे तीन तरहकी गति कही गई, यह भी फिर संसार हेतु भूत कर्म्मभेद तथा ज्ञान भेदसे उत्तम, मध्यम और अधम—तीन प्रकारसे विभक्त होती है ॥ ४१ ॥ वृक्ष आदि स्थावर, कीड़े, कीट, मछली, सर्प कछुवे पशु तथा मृग—तमोगुणसे जो गति हुआ करती है, इन योनियोंकी प्राप्ति उसके बीच अधमश्रेणीके अन्तर्गत है ॥ ४२ ॥ हाथी घोड़े, शूद्र और निन्दित म्लेच्छ तथा सिंह, व्याघ्र और बाराह—इन योनियोंकी प्राप्ति तामसी गतिकी मध्यम श्रेणीके अन्तर्गत है ॥ ४३ ॥ नट आदि, पक्षी, दम्भभावसे कार्य्य करनेवाले पुरुष, राक्षस और पिशाच—इन योनियोंकी प्राप्ति तमोगुणके उत्तम श्रेणीके अन्तर्गत है ॥ ४४ ॥ व्रात्य क्षत्रियके द्वारा सवर्णा स्त्रीमें पैदा हुए लगुड़ाह्वधारी झल्लजाति, बाहुयुद्ध करनेवाली मल्लजाति, नट, शस्त्रजीवी, जुआ और पापमें आसक्त पुरुष—इन्हें रजोगुणकी अधमगतिवाले जानो ॥ ४५ ॥ राजपदके

प्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥ गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये । तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥ तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः । नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥ ४८ ॥ यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः । पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च । उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥ एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः । त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्व्वभौतिकः ॥ ५१ ॥ इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च । पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥ यां यां योनिन्तु जीवोऽयं येन

स्वर राजा, क्षत्रिय, राज पुरोहित और शास्त्रार्थ कलह-प्रिय पुरुष—रजोगुणकी मध्यम गतिके अन्तर्गत हैं ॥ ४६ ॥ गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवानुचर, विद्याधर आदि तथा अप्सरा—ये रजोगुणकी उत्तमगतिके अन्तर्गत हैं ॥ ४७ ॥ वानप्रस्थ, यती विप्र प्रभृति आदि विमानचारी लोग, नक्षत्र और दैत्य—ये सतोगुणकी अधम गतिके फल हैं ॥ ४८ ॥ यज्ञ करनेवाले पुरुष, ऋषि, देवता, वेदाभिमानी विग्रहधारी देवता, ध्रुव आदि ज्योतिष्क, वत्सर, सोमप आदि पितृगण और साध्यलोग—ये मध्यम सात्विकी गतिके फल हैं ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा, मरीचि आदि प्रजापति, विग्रह-धारी धर्म्म मूर्त्तिमान महत्तत्त्व और अव्यक्त—ये सत्वगुण हेतुसे उत्तम गतिके फल हैं—ऐसा पण्डित लोग कहते हैं ॥ ५० ॥ मन, वचन, और शरीरकरके निबन्धन भेदसे तीन प्रकार कर्म्मके सत्व, रज तम भेदसे तीन तरहकी गति और फिर उनके उत्तम मध्यम भेदसे जो तीन सार्व्वभौतिक समस्त गति विशेष है—वह पूरीरीतिसे कही गई ॥ ५१ ॥ इन्द्रियोंके विषयोंमें सदाप्रसक्त होने और प्रायश्चित्त आदि धर्म्म न करनेसे अधम पुरुषकी पापगति प्राप्त

येनेह कर्मणा। क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत् तत् सर्वं निबोधत ॥५३॥ बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षयात्। संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥ श्व-शूकर-खरोष्ट्राणां गोऽजावि-मृग-पक्षिणाम्। चण्डालपुक्कसानाञ्च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥ कृमि-कीटपतङ्गानां विड्-भुजाञ्चैव पक्षिणाम्। हिंस्राणाञ्चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ५६ ॥ लूताहि-सरटानाञ्च तिरश्चाञ्चाम्बुचारिणाम्। हिंस्राणाञ्च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥ तृण-गुल्म-लतानाञ्च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि। क्रूरकर्म्मकृताञ्चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥ हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽमेध्यभक्षिणः। परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥

होती हैं ॥ ५२ ॥ यह जीव जिस जिस कर्म्मसे इस लोकमें क्रमानुसार जिन योनियोंमें प्राप्त होता है, वह सब आप लोगोंसे कहता हूं सुनो ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्या आदि महापातक करनेवाले अनेक वर्ष घोर नरक-भोगनेपर नीचे लिखी योनियोंमें जन्मते हैं ॥ ५४ ॥ ब्रह्महत्या करनेवाले शूकर, कुत्ते, गधे, ऊंट, गऊ, छाग, भेड़, मृग, पक्षी, चाण्डाल और पुक्कश—इन सब योनियोंको प्राप्त होते हैं ॥ ५५ ॥ सुरापीनेवाले ब्राह्मण नरक भोगनेपर—कृमि, कीड़, पतङ्ग, विष्टा खानेवाले पक्षी और व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओंकी योनिमें जन्मते हैं ॥ ५६ ॥ सोना चुरानेवाले ब्राह्मण—ऊर्णनाभ, सर्प कृकलास, जलचर मगर आदि जन्तु और हिंसाशील पिशाच आदि योनिमें सहस्र बार जन्मते हैं ॥ ५७ ॥ गुरुको हरनेवाले तृण, गुल्म, लता, आम मांस, भक्षकजन्तु, सिंह आदि तथा तथा क्रूरकर्म्म करनेवाले व्याघ्र आदि योनिमें एक सौ बार जन्मते हैं ॥ ५८ ॥ प्राणिहिंसा करनेवाले—मरनेके अनन्तर आममांस भक्षकजन्तु होकर जन्मते हैं। अभक्ष्य खानेवाले कीड़े होते हैं। चोर लोग परस्परके मांस खानेवाले होके जन्मते हैं और अन्त्यज जातीय स्त्रीगमन करनेवाले

संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् । अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥ मणि-मुक्ता-प्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः । विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥ धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः । मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥ मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः । चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥ कौशेयं तित्तिरिर्हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः । कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥ छुच्छुन्दरिः शुभान् गन्धान् पत्रशाकन्तु बर्हिणः । श्वावित् कृतान्नं विविधमकृतान्नन्तु शल्यकः ॥ ६५ ॥ बको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् । रक्तानि हृत्वा वासांसि

लोग प्रेतयोनिमें जन्मते हैं ॥ ५९ ॥ पतित संसर्गी, परस्त्रीगामी और ब्रह्मस्व हरनेवाले—ब्रह्मराक्षस योनिमें जन्मते हैं ॥ ६० ॥ मनुष्य लोभसे मणि, मोती, प्रवाल तथा विविध रत्न चुरानेसे सुवर्णकार योनिमें जन्मता है ॥ ६१ ॥ धान्य चुरानेवाला चूहा और कांसा चुरानेवाला हंसयोनिमें जन्मता है। जल हरनेवाला प्लवनाम पक्षी, मधु हरनेवाला दंश, दूध हरनेवाला कौवा, रस हरनेवाला कुत्ता और घृत हरनेवाला नेवला होता है ॥ ६२ ॥ मांस चुरानेवाला गिद्ध, चर्बी हरनेवाला मद्गु नाम जलचर पक्षी, तेल चुरानेवाला तेलप खग, नमक चुरानेवाला चीरीवाक नाम ऊँचे स्वरसे बोलनेवाला कीट और दही चुरानेवाला छोटा बगुला पक्षी होता है ॥ ६३ ॥ कौषेय वस्त्र चुरानेवाला तीतर पक्षी, क्षौमवस्त्र, हरनेवाला मेढ़क, कपासके बने वस्त्र हरनेवाला क्रौञ्चपक्षी, गऊ हरनेवाला गोधा, और गुड़ चुरानेवाला चमगीदड़ होता है ॥ ६४ ॥ सुगन्धित चीज चुरानेवाला छछून्दर, वास्तुकादि पत्र शाक चुरानेवाला मोर, विविध सिद्धान्न हरनेवाला स्याहू, अकृत अन्न यव आदि हरनेवाला शल्यक (साही) होता है ॥ ६५ ॥ अग्नि हरनेवाला बगुला, गृहके

जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥ वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलन्तु मर्कटः। स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥ ६७ ॥ यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः। अवश्यं याति तिर्य्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥ ६८ ॥ स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः। एतेषामेव जन्तूनां भार्य्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥ स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्म्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि। पापान् संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥७०॥ वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्म्मात् स्वकाच्च्युतः। अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ ७१ ॥ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्। चैलाशकश्च भवति शूद्रो

उपयोगी रूप रस आदि हरनेवाला मट्टी आदिसे घर तैयार करने वाला पक्षयुक्त कीड़ा होता है ॥ ६६ ॥ मृग अथवा हाथी हरनेवाला भेड़िया, घोड़ा चुरानेवाला व्याघ्र, फल मूल हरनेवाला बन्दर, स्त्री चुराने वाला भालू, पीनेका जल हरनेवाला चातक, शकट आदि सवारी हरनेवाला ऊंट और अन्यान्य पशु हरनेवाला छाग होता है ॥ ६७ ॥ किसी प्रकारकी वस्तु चुराने अथवा पुरातनादि आहूत हवि भोजन करनेसे अवश्य ही तिर्य्यक योनि प्राप्त होती है ॥ ६८ ॥ स्त्रियां भी यदि इच्छा पूर्व्वक दूसरेकी वस्तु चुरावें, तो उन्हें भी ऊपर कही हुई इस प्रकारकी योनि प्राप्त होती है; परन्तु उस पापसे इन जन्तुओंकी स्त्री होकर जन्मेगी ॥ ६९ ॥ ब्राह्मण आदि चारो वर्णके लोग यदि आपद कालके सिवाय अन्य समयमें अपने अपने वर्णाश्रम विहित कर्म्म न करें तो वे पीछे कही पाप योनिमें जन्मते हैं और फिर दूसरे जन्ममें उन्हें शत्रुका दासत्व प्राप्त होता है ॥ ७० ॥ ब्राह्मण निज कर्म्मोंसे भ्रष्ट होनेपर वमनभक्षी ज्वालामुख प्रेत और क्षत्रिय ऐसा होनेपर लहू तथा विष्ठा खानेवाला कटपूतन नाम प्रेतविशेष होता है ॥ ७१ ॥ वैश्य अपने कर्म्मसे भ्रष्ट होनेपर पीब खानेवाला मैत्राक्ष ज्योतिक नाम प्रेत होता है तथा

धर्म्मात् स्वकाच्च्युतः ॥ ७२ ॥ यथा यथा निषेवन्ते विषयान् विषयात्मकाः । तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥ तेऽभ्यासात् कर्म्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः । सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥ तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्त्तनम् । असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥ विविधाश्चैव सम्पीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् । करम्भवालुकातापान् कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥ सम्भवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः । शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥ असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् । बन्धनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥ बन्धु-प्रियवियोगांश्च संवासञ्चैव

शूद्र निजकर्म्मसे भ्रष्ट होनेसे चैलाशक नाम प्रेत होता है जिसकी गुह्य स्थलमें नेत्र आदि इन्द्रियां हैं, उसे मैत्राक्षज्योतिक कहते हैं और वस्त्रोंमें पैदा हुए कीड़ोंके खानेवाले प्रेतको चैलाशक कहते हैं ॥ ७२ ॥ विषयी लोग जिस परिमाणसे जिस विषयमें अत्यन्त प्रसक्त होते हैं, उस परिमाणसे परलोकमें भी उनकी वही इन्द्रिय तीक्ष्ण होके उन्हें क्लेश देती है ॥ ७३ ॥ अल्पबुद्धि लोगोंको उन पापकर्म्मोंके बारम्बार अभ्याससे इस लोकमें भी वे सब क्लेश मिलते हैं और घोर तामिस्र आदि नरकमें असिपत्र वन आदि तथा बन्धन छेदन आदि नरक यन्त्रणा मालूम करते हैं। विविध पीड़ा, कौवे और उलूकोंके द्वारा भक्षित होना, तपाये हुए बालू प्रभृतिके ऊपर चलना और कुम्भीपाक आदि अत्यन्त भयानक नरक यन्त्रणा भोगना होता है ॥ ७४ ॥ ७६ ॥ दुःख प्राय नीच योनिमें जन्म लेकर सदा दुख भोग करते हैं तथा सर्दी गर्म्मीसे उत्पन्न हुई अनेक प्रकारकी पीड़ा प्राप्त होती है ॥ ७७ ॥ बारम्बार गर्भवास, दारुण यन्त्रणाके सहित जन्म लेना, बन्धन आदि अनेक तरहके कष्ट और दूसरेका दासत्व प्राप्त होना है ॥ ७८ ॥ बन्धु और प्रियजनका वियोग

दुर्ज्जनैः। द्रव्यार्जनञ्च नाशञ्च मित्रामित्रस्य चार्ज्जनम्॥ ७९॥ जराञ्चैवा-प्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीड़नम्। क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान् मृत्युमेव च दुर्ज्जयम्॥ ८०॥ यादृशेन तु भावेन यद्यत् कर्म्म निषेवते। तादृशेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते॥ ८१॥ एष सर्व्वः समुद्दिष्टः कर्म्मणां वः फलोदयः। निःश्रेयसकरं कर्म्म विप्रस्येदं निबोधत॥ ८२॥ वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणाञ्च संयमः। अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्॥ ८३॥ सर्व्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्म्मणाम्। किञ्चित् श्रेयस्करतरं कर्म्मोक्तं पुरुषं प्रति॥ ८४॥ सर्व्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्व्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ ८५॥ षण्णामेषान्तु सर्व्वेषां

दुर्ज्जनके साथ सहवास, कष्टसे धन उपार्ज्जन और धनका नाश, कष्टसे मित्रलाभ तथा दूसरेके साथ उसकी शत्रुता—पापियोंकी इसही प्रकार अनेक दुर्गति होती है॥ ७९॥ उद्यम हीनता, जरादशा, अनेक तरहकी व्याधिसे क्लेश, भूख प्यास, प्रभृतिसे अनेक तरहके कष्ट और दुर्निवार अकालमृत्यु उन लोगोंको प्राप्त होती है॥ ८०॥ सात्विक, राजसिक और तामसिक—अन्तःकरणके जो भाव जिस जिस कर्म्ममें आचरित होते हैं, उस ही भावका उत्कर्ष होनेसे परलोकमें उस ही प्रकार शरीरके द्वारा उन कर्म्मोंका फल भोग करना होता है॥ ८१॥ यह कर्म्मोंके फलोदय आप लोगोंसे कहे। अब जिन कर्म्मोंसे ब्राह्मणकी मुक्ति होती है, उसे सुनो॥ ८२॥ वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान, इन्द्रिय संयम, अहिंसा और गुरुसेवा—ये सब कर्म्म मोक्ष साधक हैं॥ ८३॥ (ऋषियोंने प्रश्न किया) इन कर्म्मोंके बीच पुरुषके वास्ते कौनसा कर्म्म सबसे श्रेष्ठ मोक्षसाधन है॥ ८४॥ (भृगुने उत्तर दिया) इन मोक्ष साधन कर्म्मोंके बीच आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है; वह सब विद्याओंके बीच प्रधान और उससे ही मोक्षप्राप्ति होती है॥ ८५॥ ऊपर कहे

कर्मणां प्रेत्य चेह च। श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्॥ ८६॥ वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः। अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ॥ ८७॥ सुखाभ्युदयिकञ्चैव नैःश्रेयसिकमेव च। प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ ॥ ८८॥ इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते। निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ ८९॥ प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्। निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ ९०॥ सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥ ९१॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः। आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥ ९२॥ एतद्धि जन्मसाफल्यं

हुए छः मोक्ष साधन कर्मोंके बीच वैदिक कर्म आत्मज्ञान ही को इस काल तथा मरनेके अनन्तर कल्याणकारी जानो॥ ८६॥ ऊपर कहे हुए सब कर्म ही क्रमसे वैदिक कर्मके अन्तर्गत हुआ करते हैं अर्थात् ये भी आत्मज्ञानके अङ्ग हैं॥ ८७॥ वैदिक कर्म ज्योतिष्टोमादि यज्ञ दो प्रकारके हैं, प्रवृत्त और निवृत्त। प्रवृत्त कर्मफलसे सुख तथा अभ्युदय आदि होता है और निवृत्त कर्मफलसे मुक्ति प्राप्त होती है॥ ८८॥ इस लोक तथा परलोकके सम्बन्धमें किसी कामनासे जो कर्म किया जाता है, उसे प्रवृत्त कर्म कहते हैं; परन्तु ज्ञानके तो निष्काम कर्म किया जाता है, उसे निवृत्त कर्म कहते हैं॥ ८९॥ प्रवृत्त कर्मका पूर्ण अनुष्ठान करनेसे देवताओंकी समानता प्राप्त हो सकती है और निवृत्त कर्माभ्याससे पञ्चभूतको भी अतिक्रम किया जाता है अर्थात् मोक्षप्राप्त होती है॥ ९०॥ आत्मयाजी सब भूतोंमें आत्माको समभावसे देखकर तथा आत्मामें सब भूतोंकी स्थिति जानके ब्रह्मत्व पाते हैं॥ ९१॥ श्रेष्ठ द्विज शास्त्रमें कहे हुए सब कर्मोंको छोड़के भी आत्मज्ञान, इन्द्रियजय और वेदाभ्यासके निमित्तयत्न करें, अर्थात् आत्मोक्त कर्मोंका

ब्राह्मणस्य विशेषतः । प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥ पितृ-देव-मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् । अशक्यञ्चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥ या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्व्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ ९५ ॥ उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् । तान्यर्व्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥९६॥

त्यासना वल्कि अच्छा है, परन्तु आत्मज्ञान आदिसे यतहल्लित होनो उत्तम नहीं है ॥ ९२ ॥ अथ सब द्विजातियों विशेष करके ब्राह्मणके जन्म सफलताकी अधीभूत है ; अन्य कामसे द्विजोंकी कृतकृत्यता नहीं होती, परन्तु इस काल ज्ञानादि लाभसे ही वे कृत-कृत्य होते हैं ॥ ९३ ॥ वेदही पितरों, देवताओं और मनुष्योंके सनातन नेत्र हैं ;—वे अपौरुषेय और अप्रमेय हैं—यही स्थिर मीमांसा है ॥ ९४ ॥ जो स्मृतियां वेदसे बाहिर है, जो सब शास्त्र वेदविरुद्ध कुतर्क मूलक हैं, परलोकके सम्बन्धमें उन सबको निष्फल जानो—ये सब शास्त्र केवल तमो-गुणसे कल्पित हैं ॥ ९५ ॥ जो सब शास्त्र वेदमूलक नहीं हैं, कल्पि पुरुष कल्पित हैं—ये उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं—आधुनिकता हेतुसे

---

* ऊपर कल्लूक भट्टकी व्याख्या लिखी गई ; परन्तु हम कहते हैं—वैदिक कर्म्म शब्दसे तपस्या; ज्ञानको कर्म्म कहना अनुचित है। पूर्व्व-श्लोकमें आत्मज्ञानको मुक्तिसाधन पक्षमें श्रेष्ठ कहा गया है। फिर इस श्लोकमें तपस्याको ऐहिक पारत्रिक मङ्गल साधकता प्रतिपादित होती है। इस प्रकारकी व्याख्यासे पूर्वोक्त दोनो श्लोकों तथा पीछेकी १०४ श्लोककी साथ भली भांति एकमत्य होता है। इस पक्षमें दश श्लोकमें वर्णित वैदिक कर्म्म शब्दका अर्थ ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ नहीं कहा जाता। तपस्या ही कहना योग्य है।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्व्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥९७॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः। वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्म्मतः ॥९८॥ बिभर्त्ति सर्व्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्। तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥ सैनापत्यञ्च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्व्वलोकाधिपत्यञ्च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥ यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्। तथा दहति वेदज्ञः कर्म्मजं दोषमात्मनः ॥१०१॥ वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१०२॥ अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठाः ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः। धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥१०३॥

उन्हें निष्फल और मिथ्या जानो ॥९६॥ चारो वर्ण, स्वर्ग आदि तीनो लोक, ब्रह्मचर्य्य आदि चारो आश्रम और भूत, भविष्य, वर्त्तमान—ये सब वेद हीसे प्रसिद्ध हुए हैं ॥९७॥ शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध—सब वेदसे ही उत्पन्न हुए हैं। गुण कर्म्मके अनुसार वेद ही सबकी प्रसूति है ॥९८॥ सनातन वेद सब भूतोंको धारण किये है, ज्ञानी लोग इसे मनुष्योंका तथा पुरुषार्थ साधनका परम उपाय समझें ॥९९॥ सेनापत्य, राज्य, दण्डप्रणेतृत्व और सर्व्वलोकाधिपत्य—वेदशास्त्रज्ञ ही इन सबको पानेके उपयुक्त है ॥११०॥ जैसे जलती हुई प्रचण्ड अग्नि गीले काठको भी जला देती है, वैसे ही वेद जाननेवाला ब्राह्मण अपने कर्म्मजनित सब दोषोंको नष्ट करता है ॥१०१॥ वेद शास्त्रार्थ तत्वज्ञ पुरुष चाहे जिस आश्रममें वास करे, वह इस लोकमें रहके ही ब्रह्मत्वलाभ करता है ॥१०२॥ अज्ञ लोगोंसे ग्रन्थ पढ़नेवाले श्रेष्ठ हैं। उन ग्रन्थोंके केवल पढ़नेवालोंसे ग्रन्थोंके विषयोंको धारण करनेवाले श्रेष्ठ हैं; धारण करनेवालोंसे ज्ञानी श्रेष्ठ हैं अर्थात् जिन्हें उन ग्रन्थोंका यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ है और ज्ञानीसे ज्ञानानुसारी कर्म्म करनेवाले श्रेष्ठ हैं ॥१०३

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्। तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१०४॥ प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्म्मशुद्धिमभीप्सता ॥१०५॥ आर्षं धर्म्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः ॥१०६॥ नैःश्रेयसमिदं कर्म्म यथोदितमशेषतः। मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥१०७॥ अनाम्नातेषु धर्म्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्। यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्म्मः स्यादशङ्कितः ॥१०८॥ धर्म्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः। ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१०९॥ दशावरा वा परिषद् यं धर्म्मं परिकल्पयेत्। त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्म्मं

तपस्या और आत्मज्ञान ब्राह्मणका प्रधान मोक्ष साधन है। तपस्यासे पाप नष्ट होता है और आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है ॥१०४॥ जो लोग धर्म्म-तत्व जाननेके अभिलाषी हैं, उन्हें प्रत्यक्ष अनुमान और वेदमूलक स्मृत्यादि विविध आगम इन तीनोंको उत्तम रीतिसे जानना योग्य है ॥१०५॥ वेद और वेदमूलक स्मृत्यादि धर्म्मोपदेशको जो लोग वेद शास्त्रके अवि-रोध तर्कके सहारे अनुसन्धान करते ह, वेही धर्म्मको जान सकते हैं, दूसरे नहीं ॥१०६॥ अशेष रीतिसे मोक्षसाधन वा रीति हुआ, अब मानव शास्त्रका रहस्य उपदेश सुनिये ॥१०७॥ इस मानव शास्त्रमें सामान्य रीतिसे सब प्रकारके धर्म्म विधान है, परन्तु जिन जिन विशेष धर्म्मोंका उल्लेख नहीं है, उसके सम्बन्धमें यदि प्रश्न उपस्थित हो, तो उस स्थलमें शिष्ट ब्राह्मण लोग जो कहैं, अशङ्कित भावसे उसे ही धर्म्म समझके ग्रहण करे ॥१०८॥ ब्रह्मचर्य्य आदि धर्म्मयुक्त होकर जो लोग वेदाङ्ग, मीमांसा, और धर्म्म शास्त्र आदिसे सहित वेदशास्त्र अध्ययन किये हैं, तो वेदके प्रत्यक्ष निदर्शन स्वरूप हैं,—उन्हेंही शिष्ट ब्राह्मण जानो ॥१०९॥ अथवा दस वा तीनसे कम न हों—ऐसे व्रतिस्थ धर्म्मज्ञ

न विचालयेत् ॥ ११० ॥ त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च । त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥ एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः । स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥ अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् । सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥ यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः । तत् पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ११५ ॥ एतद्वोऽभिहितं सर्व्वं निःश्रेयसकरं परम् । अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥

ब्राह्मणोंकी सभामें जो धर्म निर्णीत हो उसे ही धर्म कहके स्वीकार करे—उससे विचलित न होवे ॥ ११० ॥ तीनों वेदोंके पढ़नेवाले, अनुमानज्ञ, तार्किक, पदार्थ निरुक्तिकुशल और मानव आदि धर्म शास्त्रोंके पाठ करनेवाले ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ—इस प्रकारके कमसेकम दश ब्राह्मणोंको लेके परिषद् होगा ॥ १११ ॥ धर्म संशय निर्णयमें जो कमसे कम तीन ब्राह्मणोंको परिषद् होना कह आये हैं, वह ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीन वेदोंके विशेष मर्म्मज्ञ—ऐसे कमसे कम तीन ब्राह्मणको लेके धर्म निर्णीत होगा ॥ ११२ ॥ वेद जाननेवाला एक जन श्रेष्ठ ब्राह्मण भी धर्म कहके जिसकी व्यवस्था करे, उसे ही परमधर्म जानना; परन्तु लाखों मूर्ख भी कहैं, वह धर्म न होगा ॥ ११३ ॥ जो कोई व्रत नहीं करते, जिन्होंने वेद नहीं पढ़ा है, जो लोग केवल जातिमात्रके ही ब्राह्मण हैं—ऐसे हजार पुरुष इकट्ठे होनेपर भी उन्हें परिषत्व रहित जाने ॥ ११४ ॥ तमोभूत, मूर्ख, धर्मशास्त्र न जाननेवाले लोग जिस पुरुषको उपदेश करते हैं, उस पुरुषका पाप सौ गुणा होकर मूर्ख उपदेष्टाका अनुगमन करता है ॥ ११५ ॥ मोक्षसाधन धर्म आप लोगोंसे कहा, इस धर्मसे भ्रष्ट न होनेसे ब्राह्मण परमगति पाता है ॥११६॥

एवं स भगवान् देवो लोकानां हितकाम्यया। धर्म्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्व्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥ सर्व्वमात्मनि सम्पश्येत् सच्चासच्च समाहितः। सर्व्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन् नाधर्म्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥ आत्मैव देवताः सर्व्वाः सर्व्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्म्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥ खं सन्निवेशयेत् खेषु चेष्टन-स्पर्शनेऽनिलम्। पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गाञ्च मूर्त्तिषु ॥ १२० ॥ मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम्। वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥ प्रशासितारं सर्व्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥ एव सर्व्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य

उस भगवान देव मनुने लोगोंके हितकी इच्छासे इस ही प्रकार धर्म्मके परम गुह्य विषयोंको मुझसे कहा था ॥ ११७ ॥ समस्त सदसद्रूप जगतको ध्यानस्थ होकर परमात्मामें स्थित देखे, तो सबको अपनेमें देखते ही, उसका मन अधर्म्मकी ओर कदापि नहीं दौड़ता ॥ ११८ ॥ आत्मा ही समस्त देवता है, सभी आत्मामें स्थित हैं, आत्मा ही शरीरधारियोंको कर्म्मयोग संघटन करता हैं ॥ ११९ ॥ पहिले देहाकाश, वाह्याकाश, चेष्टा स्पर्शक कारण दैहिक वायुमें वाह्यवायु, अन्नपाककारी तथा नेत्रके तेजमें वाह्यतेज शरीरस्थ जलमें वाह्यजल, शारीरक पार्थिवांशमें वाह्यपार्थिव मूर्त्तियां मनमें चन्द्रमा, श्रोत्रमें दिशा, पादेन्द्रियमें विष्णु ; बलमें हर, वागिन्द्रियमें अग्नि, पायिन्द्रियमें मित्र और उपस्थमें प्रजापतिको सन्निवेशित अर्थात् भावनासे उनका एकत्र साधन करे ॥ १२०॥१२१॥ पश्चात् सबके शासक अणुसे भी अणु, प्रकाश स्वरूप स्वप्नधीगम्य उस परम पुरुषका ध्यान करे ॥ १२२ ॥ उस परम पुरुषको कोई अग्नि कहते है कोई प्रजापति मन कहके उपासना करते, कोई इन्द्रियरूपसे, कोई

मूर्त्तिभिः । जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥ एवं यः सर्व्व-भूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्व्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥ इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः । भवत्याचारवान् नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥ १२६ ॥

इति मानवे धर्म्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

समाप्तेयं मनुसंहिता ।

प्राणरूपसे और कोई सच्चिदानन्दमय ब्रह्मरूपसे उपासना करते ॥ १२३ ॥ वह परमात्माही पृथिव्यादि पञ्चमूर्त्ति द्वारा सब प्राणियोंमें व्याप्त होकर वृद्धि और नाशसे चक्रवत् इस संसारको प्रवर्त्तित करता ॥ १२४ ॥ इसही प्रकार जो लोग आत्माके द्वारा सर्व्वभूतोंमें आत्मदर्शन करते हैं, वे सर्व्व समता पाके परमपद ब्रह्मलाभ करते हैं ॥ १२५ ॥ भृगुप्रोक्त यह मानव-शास्त्र पाठ करनेसे द्विजगण नित्य आचारवान् होते और यथेप्सित गति पाते हैं ॥ १२६ ॥

बारह अध्याय समाप्त ।

मनुसंहिता सम्पूर्ण ।

विजया वटिका

सब प्रकार ज्वरकी महौषध।

विजया वटिका आज भारतवर्षमें प्रसिद्ध है। वरञ्च-पारिस, अरब, तथा लण्डन महानगरमें भी विजया वटिका जाती है। गरीबकी झोंपड़ी और राजाके महलमें विजया वटिका समभावसे वर्त्तमान है। विजया वटिकाने मानो ब्रह्माण्ड विजय कर डाला है।

अङ्गरेज स्त्रियोंकी विजया वटिका बड़ी प्यारी वस्तु है। न जाने किस गुणसे विजया वटिका हिन्दुस्थानी चीज होनेपर भी साहब-मेमोंकी भी प्यारी है।

विजया वटिकाकी शक्ति मन्त्रशक्तिकी भांति अद्भुत है। जो ज्वर वैद्यक, डाक्टरी, होमियोपैथी आदि चिकित्साओंसे भी अच्छा नहीं होता, घरके लोगोंने जिन रोगियोंके जीनेकी आशा छोड़ दी है—ऐसे कितने ही रोगी विजया वटिकासे अच्छे हुए हैं।

कभी विजया वटिका वज्रसे भी कठोर और कभी फूलसे भी कोमल होती है। यही विजया वटिकाका गुण है, यही उसका महत्व है और यही उसका अलौकिकत्व है। रोगीकी नाड़ीपर दिन रात ज्वर है, प्लीहा और यकृतसे वह कष्ट पाता है, उसका हाथ, पांव, मंह सूज गया है, आंख पीली हो गई हैं, नाकसे नकसीर फूटती है—ऐसे विविध व्याधिग्रस्त रोगी भी विजया वटिकासे अच्छे हुए हैं। और जब आदमीकी प्लीहा, यकृत कुछ नहीं है, ज्वर नहीं है, अच्छा शरीर है, उस समय भी विजया वटिका-सेवनसे भूख बढ़ेगी, शरीरका लावण्य बढ़ेगा

७९ नं० हैरिसन रोड, कलकत्ता।

इसीसे विजया वटिका विचित्र है। कुनैनसे जो ज्वर नहीं जाता, विजया वटिकासे वह चला जाता है। दस पन्द्रह दिनके बीचमें जिनको फिर फिरके ज्वर आता हो, उनकी बीमारीके लिये विजय बटिका ब्रह्मास्त्र है।

विजया वटिका किन किन बीमारियोंमें कामकी है?——

(१) सिरका दर्द, (२) भूख न लगना, (३) शरीर और हाथ पांवका दर्द, (४) तीसरे पहर आंखोंका जलना, (५) सिरघूमना, (६) जुकाम खांसी (७) शरीरका भारीपन (८) धातुदौर्ब्बल्य (९) दस्त खुल कर न होना (१०) लावण्यहीनता (११) दुःस्वप्नादि (१२ पीठ कमरका दुखना, (१३) छातीका भारी रहना (१४) आलस्य इत्यादि विजया वटिकासे अच्छे होते हैं।

मूल्यादि।

वटिकाकी	संख्या	मूल्य	डाकमहसूल	पेकिंग
१ नं० डिबिया	१८	||≡)	।)	≡)
२ नं० डिबिया	३६	१≡)	।)	≡)
३ नं० डिबिया	५४	१||≡)	।)	≡)
बहुत बड़ी घर गृहस्थोंके योग्य डिबिया।				
४ नं० डिबिया	१४४	४।)	।)	≡)

विजया बटिका मिलनेका पता—

कलकत्ता—७९ नं० हैरिसन रोडमें बी, दत्त एण्ड कम्पनीके पास विजया वटिका मिलती है।